

कौटिल्य की राज्यव्यवस्था

७
१७५

डा० श्यामलाल पाण्डेय

STATE MUSEUM, LUCKNOW
LIBRARY

Acc. No. _____

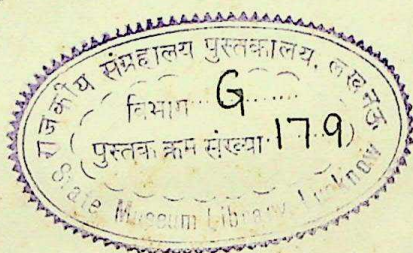
Book No. _____

954-01

954.01

CC-0. Agamnigam Digital Presevation Foundation, Chandigarh

कौटिल्य की राज्यव्यवस्था



लेखक—

डा० श्यामलाल पाण्डेय,

एम० ए०, पी-एच० डी०

लखनऊ
वैशाखी पूर्णिमा
सं० २०१३ विक्रमी

पृष्ठ ८)

श्री रामचरण लाल श्रीवास्तव

पवन प्रिंटिंग प्रेस, लखनऊ

सर्वाधिकार सुरक्षित

954.01

प्रकाशक

डा० श्यामलाल पाण्डेय

आर्यनगर, लखनऊ

विषय-सूची

प्रथम अध्याय

अर्थशास्त्र और उसका क्षेत्र

विषय			पृष्ठ
अर्थशास्त्र की परिभाषा			१
अर्थशास्त्र का क्षेत्र			१
अर्थशास्त्र की प्राचीनता			२
कौटिल्य और अर्थशास्त्र			४
प्रस्तुत अर्थशास्त्र का रचनाकाल			७

द्वितीय अध्याय

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

समाज अनुबन्धवाद			६
राज्य का सावयव स्वरूप			११

तृतीय अध्याय

राजा

वर्णाश्रमव्यवस्था			१४
दण्डनीति			१५
राजा			१६
स्वामिसम्पद्			१७
राजा की दिनचर्या			१६
राजा के कर्तव्य			२१
राजा की रक्षा			२२
राजभवन में विशेष सावधानी			२२
राजा के आत्मरक्षक			२३
राजा के भोजन में विशेष सावधानी			२४
विषयुक्त वस्त्रों एवं अन्य उपयोग करनेवाली सामग्री से सावधानी			२५
विष देनेवाले पुरुष की पहचान			२६

विष से उपचार करने के लिए वैद्यों की नियुक्ति			२६
क्षौर, स्नान, शृंगार आदि में सावधानी			२६
कुछ और सावधानियां			२७
राज्य के उत्तराधिकार के नियम			२८

चतुर्थ अध्याय

मंत्रिपरिषद्

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता			३१
मंत्रगोपन			३२
मंत्रणा के विषय			३४
मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या			३५
मंत्रिपरिषद् की अध्यक्षता			३७
मंत्रिपरिषद् की अन्तरंग समिति			३८
मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता			४१
मंत्रियों की नियुक्ति			४१
उपधा प्रणाली द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति			४४
मंत्रियों का वेतन			४५

पंचम अध्याय

दूत

दूत की आवश्यकता			४७
दूतों का आचरण एवं व्यवहार			४७
दूतों के कर्तव्य			४९
दूत के विशेषाधिकार			५०
(क) अवध्यता का विशेषाधिकार			५०
(ख) दूत के लिए विशेष विधियों का प्रयोग			५३
दूत के प्रकार			५४

षष्ठ अध्याय

चर—व्यवस्था

चर की आवश्यकता	..		५७
चर—भेद			५७
(१) कापटिक			५७
(२) उदास्थित			५८
(३) गृहपतिक			५८

(४) वैदेहक			५६
(५) तापस			५६
(६) सत्रि			६०
(७) तीक्ष्ण			६०
(८) रसद			६०
(९) भिक्षुकी			६०
चरों के दो मुख्य भेद			६०
(अ) अभ्यान्तर चर			६१
(ब) बाह्यचर			६१
चर-संघटन			६१
सांकेतिक लिपि का प्रयोग			६२
चरों को दण्ड विधान			६२

सप्तम अध्याय

न्याय-व्यवस्था

न्याय-कार्य के दो मुख्य क्षेत्र			६३
व्यवहार की स्थापना			६३
व्यवहार के मार्ग			६४
न्यायालय			६४
मध्यस्थ द्वारा निर्णय			६५
न्यायाधीशों का विशेष आचरण एवं व्यवहार			६६
लेखक			६७
समय का प्रतिबन्ध			६७
कलह में प्रथम आकर प्रार्थना करने का महत्त्व			६८
प्रमाण			६८
(अ) लिखित प्रमाण			६९
(इ) साक्षी			७०
साक्षियों की अयोग्यताएँ			७१
साक्षियों की आवश्यक संख्या			७२
साक्षियों के लिए निर्धारित शपथ			७३
मिट्या साक्ष्य के लिए दण्ड			७३
(उ) भोग			७४
विवाद के पाद			७५
निर्णय हेतु गुप्तचरों का प्रयोग			७६

प्रतिभू रखने की प्रणाली			७६
न्याय-क्षेत्र में स्थानीय घर्मों का महत्त्व			७७
प्राप्तव्यवहार			७७
कण्टकशोधन का क्षेत्र			७८
राज्य के व्यवसायियों द्वारा शोषण से प्रजा की रक्षा			७८
विशेष न्यायालय की व्यवस्था			८०
दुष्टजनों से प्रजा की रक्षा			८०
राजकर्मचारियों द्वारा किए जानेवाले उत्पीड़न से प्रजा की रक्षा			८२
दण्ड के सिद्धान्त			८३
(क) अपराध के अनुसार दण्ड देने का सिद्धान्त			८४
(ख) अपराधियों की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड			८४
(ग) वर्ण के अनुसार दण्ड			८४
(घ) विशेष परिस्थिति के अनुसार दण्ड			८५
(ज) भय का आतंक स्थापित करने का सिद्धान्त			८६
(च) लज्जित होने का सिद्धान्त			८६
(छ) सुधार का सिद्धान्त			८७
दण्ड के प्रकार			८७
(क) अर्थदण्ड			८८
(ख) कायदण्ड			८८
(ग) बन्धनगृह-दण्ड			८६
बन्धनगृह में अनुशासन			९०
बन्धियों की सामान्य सुविधाएं			९१
बन्धियों से कार्य			९१
बन्धनगृह से बन्धियों की मुक्ति			९२

अष्टम अध्याय

राज्य की आर्थिक नीति तथा राज्य नियंत्रित उद्योगों का संघठन			९३
राज्य की आर्थिक नीति के मूल सिद्धान्त			९४
राज्य के स्वामित्व वाले उद्योग			९४
आकर-उद्योग			९४
आकर-उद्योग का क्षेत्र			९५
आकर-उद्योग में राजकर्मचारी एवं शिल्पीगण आदि			९६
लोहाकर उद्योग			९७
खान का उद्योग			९८
लवण-उद्योग			९८

सुवर्ण ओर चांदी का उद्योग			६८
कृषि-उद्योग			१०२
कृषि-कार्य में नियुक्त सेवकों का वेतन			१०३
मुख्य अन्न और उनके बोने का समय एवं भूमि आदि का विचार			१०४
सिंचाई			१०५
खलिहानों की व्यवस्था			१०६
सूत्र-उद्योग			१०६
सूत्र-उद्योग का क्षेत्र			१०६
सूत्राध्यक्ष			१०७
शिल्पी एवं कर्मचारी			१०८
वेतन			१०६
शिल्पियों एवं कर्मचारियों के उत्साहवर्धन हेतु पुरस्कार			११०
शिल्पियों एवं कर्मचारियों को दण्ड			११०
गोपालन-उद्योग			१११
गोपालन-उद्योग का क्षेत्र			१११
गोऽध्यक्ष			११२
गोपालन की मुख्य प्रणालियां			११३
नष्ट पशु			११५
विनष्ट पशु			११५
पशुओं के नष्ट और विनष्ट होने से उनकी रक्षा की व्यवस्था			११५
गोपालन-उद्योग सम्बन्धी कतिपय विशेष नियम			११७
अश्व-पालन			११९
अश्व की उपयोगिता			११६
अश्वाध्यक्ष			११६
अश्वों के भोजन-छादन एवं चिकित्सादि की व्यवस्था			१२०
(अ) अश्वशाला			१२०
(आ) भोजन			१२१
(इ) स्नान एवं व्याधि शान्ति के साधन			१२२
(ई) अश्वों की चिकित्सा			१२३
उत्तम, मध्यम और साधारण पौड़ों के लक्षण			१२३
अश्वों की दैनिक गति			१२४
युद्ध की दृष्टि से उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ अश्व			१२४
अश्वपालन में संलग्न कर्मचारी वर्ग			१२५
हरित-पालन			१२५
हृथियों की उपयोगिता			१२५

हस्त्यध्यक्ष का कर्तव्य			१२६
अन्य कर्मचारी			१२६
कर्मचारियों को दण्ड-विधान	..		१२७
हाथियों के मुख्य प्रकार			१२७
उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ हाथी			१२८
हस्तिशाला			१२६
हाथी की दिनचर्या			१२६
हाथियों का भोजन			१२६
हाथियों का पकड़ना			१३०
हाथियों के दाँत काटने का समय			१३०
उत्सव			१३०
सुरा-उद्योग			१३१
सुरा-उद्योग पर राज्य-नियंत्रण की आवश्यकता			१३१
सुरा के अनेक प्रकार			१३१
सुरा के निर्माण एवं उसके क्रय-विक्रय की व्यवस्था			१३२
सुरा-पान पर नियंत्रण			१३३
माँस की प्राप्ति और उसके व्यापार की व्यवस्था			१३४
पशु-बध स्थान			१३५
सूनाध्यक्ष			१३५
अवध्य-पशु			१३५
माँस के व्यापार के कतिपय नियम			१३६
गणिका-वृत्ति व्यवसाय			१३७
गणिका की आवश्यकता			१३७
गणिकाध्यक्ष			१३७
गणिका			१३८
गणिका की रक्षा			१३८
गणिका के कुव्यवहार एवं नियंत्रण			१३६
नट, नर्तक, गायक, वादक आदि			१४०
गणिका, गणिका का पुत्र एवं नट, नर्तक, वादक आदि की शिक्षा			१४१

नवम अध्याय

कोष

कोष की उपयोगिता			१४२
कोष विभाग के मुख्य कर्मचारी			१४२
समाहर्ता			१४३

सन्नि धाता			१४४
स्थानिक			१४५
गोप			१४५
प्रदेशा			१४५
अक्षपटलाध्यक्ष			१४६
कोषाध्यक्ष			१४७
अर्थकारणिक			१४८
कार्मिक			१४८
गणनिक			१४८
सांख्यिक			१४९
लेखक			१४९
रूपदर्शक			१५०
नीवी-ग्राहक			१५०
गोपायक			१५०
कुछ अन्य कर्मचारी			१५०
कोष-सञ्चय के सिद्धान्त			१५१
(क) राजा के वेतन का सिद्धान्त			१५१
(ख) परिपुष्टि का सिद्धान्त			१५२
(ग) दौर्लभ एवं महान उपयोगिता का सिद्धान्त			१५३
(घ) विशेष क्रिया के आधार पर कर मुक्ति का सिद्धान्त			१५३
(ङ) व्यवसाय एवं व्यापार तथा उद्योग नियंत्रण का सिद्धान्त			१५४
कोष-सञ्चय के मार्ग			१५४
आय शरीर			१५४
(क) दुर्ग आय			१५५
(ख) राष्ट्र आय			१५५
(ग) खनि आय			१५६
(घ) सेतु आय			१५६
वन आय			१५६
(ङ) व्रज आय			१५६
(च) वणिक् पथ आय			१५६
(छ) शुल्क			१५६
शुल्क विभाग का संघटन			१५७
शुल्क की दर			१५८
शुल्क-मुक्त विक्रय-सामग्री			१६०

(ज) दण्ड			१६०
(झ) पौतव कर			१६१
नागरिक द्वारा प्राप्त राजांश			१६१
लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष आदि द्वारा सञ्चय किया जाने वाला राजांश			१६२
राष्ट्र आय के मार्ग			१६२
(क) सीता			१६२
(ख) भाग			१६२
(ग) बलि			१६३
(घ) कर			१६४
(ङ) वणिक् कर			१६४
(च) नदी पाल			१६४
(छ) तर			१६४
(ज) विवीतम्			१६५
(झ) नौकाध्यक्ष द्वारा संग्रहीत किया जाने वाला राजांश	...		१६६
(ञ) रज्जु			१६७
(ट) रज्जुचोर			१६७
(ठ) वर्तनी			१६७
आयमुष्ट			१६७
(क) मूल			१६८
(ख) भाग			१६८
(ग) व्याजी			१६८
(घ) परिघ			१६९
(ङ) क्लृप्त			१६९
(च) रूपिक			१६९
(छ) अत्यय			१७०
राज-कोष के व्यय के मार्ग			१७०
राजकर्मचारियों के वेतन			१७१
वेतन के सिद्धान्त			१७१
वेतन की दर			१७२
कोष-वृद्धि के आधार			१७६
कोष-क्षय के कारण			१७८

दशम अध्याय

पुर और जनपद

राज्य के दो मुख्य भाग

....

....

१४२

(६)

दुर्ग अथवा पुर में नागरिक			१८२
दुर्ग अथवा पुर के शासन सम्बन्धी भाग			१८२
स्थानिक			१८२
गोप			१८३
नगर में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था			१८३
(क) रात में पथिकों के ठहरने के नियम			१८३
(ख) रात्रि के समय नगर में आवागमन सम्बन्धी कतिपय नियम			१८५
(ग) रक्षकों के प्रति कतिपय नियम			१८६
(घ) दुष्ट चरित्र व्यक्तियों पर निगरानी			१८७
(ङ) खोई हुई वस्तु के पाने की व्यवस्था			१८७
(च) अग्नि से रक्षा के निमित्त सावधानी			१८७
नगर में स्वच्छता का प्रबन्ध			१८६
उत्तम जनपद के लक्षण			१८०
जनपद का संघठन			१८१
ग्राम			१८२
ग्राम में शासन व्यवस्था			१८३
पञ्चग्रामी			१८४
खार्बटिक			१८५
द्रोणमुख			१८५
स्थानीय			१८६

एकादश अध्याय

लोकतन्त्रात्मक राज्य

कौटिल्य और लोकतन्त्रात्मक राज्य			१९७
वैराज्य (प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य)			१९७
संघनीति			२००
संघराज्य			२०१
(अ) काम्बोज			२०२
(आ) सुराष्ट्र			२०३
(इ) क्षत्रिय			२०३
(ई) श्रेणी			२०३
राज शब्दोपजीवि संघ			२०३
(क) लिच्छिवि			२०३
(ख) वृजि			२०४
(ग) मद्र			२०४

(१०)

(घ) मल्ल			२०४.
(ङ) कुकुर			२०४
(च) कुरु			२०५
(छ) पाञ्चाल			२०५

द्वादश अध्याय

अन्तराज्य सम्बन्ध

राज्य-मण्डल			२०६
शत्रु राज्य			२०६
मित्र-राज्य			२०७
मध्यम राजा			२०८
उदासीन			२०९
षाड्गुण्य मंत्र			२११
षाड्गुण्य मंत्र पर विभिन्न मत			२११
षाड्गुण्य-मंत्र के छः गुण			२१२
(१) सन्धि			२१२
हीनसन्धि के प्रकार			२१५
(अ) दण्डोपनत सन्धि			२१५
(१) आत्मामिष दण्डोपनत सन्धि			२१५
(२) पुरुषान्तर दण्डोपनत सन्धि			२१६
(३) अदृष्ट पुरुष दण्डोपनत सन्धि			२१६
(आ) कोषोपनत सन्धि			२१७
(१) परिक्रय कोषोपनत सन्धि			२१७
(२) उपग्रह कोषोपनत सन्धि			२१७
(३) सुवर्ण कोषोपनत			२१८
(४) कपाल कोषोपनत सन्धि			२१८
(६) देशोपनत सन्धि			२१९
(१) आदिष्ट देशोपनत सन्धि			२१९
(२) उच्छिन्न देशोपनत सन्धि			२१९
(३) अवक्रय देशोपनत सन्धि			२१९
(४) परिदूषण देशोपनत सन्धि			२२०
कुछ और सन्धियां			२२०
आक्रमण के क्रम के अनुसार सन्धि			२२१
(१) परिपणित देश सन्धि			२२१

(११)

(२) परिपणितकाल सन्धि	..		२२१
(३) परिपणितार्थ सन्धि			२२१
परिपणित देश, परिपणितकाल और परिपणितार्थ सन्धियों के भेद			२२२
अपरिपणित सन्धि			२२३
विजय के उपरान्त लाभ के आधार पर सन्धि भेद			२२३
(१) मित्र लाभ सन्धि			२२३
मित्र राजा के भेद			२२६
(१) नित्य-मित्र			२२६
(२) वश्यमित्र			२२६
वश्य-मित्र के भेद			२२६
(अ) सर्वभोग वश्यमित्र			२२७
(आ) चित्रभोग वश्यमित्र			२२७
(इ) महाभोग वश्यमित्र			२२७
(ई) एकतोभोगी वश्यमित्र			२२७
(उ) उभयभोगी वश्यमित्र			२२७
(ऊ) सर्वतोभोगी वश्यमित्र			२२७
(३) लघुउत्थानमित्र			२२७
(४) मित्रपैतामह मित्र			२२७
(५) महद् मित्र			२२८
(६) अद्वैत मित्र			२२८
उभयभावी मित्र	..		२२८
दूसरा उभयभावी मित्र			२२८
तीसरा उभयभावी मित्र			२२८
साधारण शत्रु			२२८
भूमि सन्धि			२२९
अनवसित सन्धि			२३२
कर्म सन्धि			२३५
सम सन्धि			२३६
विषम सन्धि			२३६
अति सन्धि			२३६
(२) विग्रह			२३६
(३) आसन			२३७
(४) यान			२३८
(५) संश्रय		..	२३९
(६) द्वैधीभाव			२४०

उपाय			२४०
बल			२४१
सैन्यबल के महत्त्व			२४१
सैन्यबल के प्रकार		..	२४२
वर्ण के आधार पर सेना की श्रेष्ठता			२४४
सेना के अंग			२४४
विष्टि			२४५
सेना के साथ चिकित्सक एवं सेविकाएँ			२४६
सेना के व्यसन			२४६
युद्ध-काल			२४७
छावनी			२४८
छावनी में शत्रु के प्रवेश से सावधानी के उपाय			२४०
स्कन्धावार से सेना के गमन करने पर प्रशास्ता का कर्तव्य			२५१
सेना के गमन करने की व्यवस्था			२५१
युद्ध के प्रकार			२५२
सेना को उत्साहित करने के उपाय			२५४
युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व राजा का विशेष आचार			२५७
युद्ध-संचालन			२५७
शत्रु-उत्पीड़न एवं शत्रु-सामग्री का संरोधन			२६०
युद्ध में कूट साधन			२६०
धर्म युद्ध के कतिपय नियम			२६१
विजय के उपरान्त राजा का आचार एवं व्यवहार			२६१

प्रथम अध्याय

अर्थशास्त्र और उसका क्षेत्र

अर्थशास्त्र की परिभाषा—आचार्य कौटिल्य ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ अर्थशास्त्र में अर्थ एवं अर्थशास्त्र की परिभाषा संक्षेप में की है। वह मनुष्य की वृत्ति (जीविका) को अर्थ मानते हैं।^१ मनुष्योंवाली भूमि को भी उन्होंने अर्थ ही माना है।^२ वह उस शास्त्र को अर्थशास्त्र मानते हैं जिसमें मनुष्योंवाली भूमि के लाभ और उसके पालन करने के उपायों का वर्णन किया गया हो।^३ इस प्रकार मनुष्यवती भूमि के प्राप्त करने और उस भूमि के निवासियों के सम्यक प्रकार से पालन-पोषण करने के उपायों का बोध कराना इस शास्त्र का धेय माना गया है।

शुक्रनीति में भी अर्थशास्त्र की परिभाषा की गयी है जो इस प्रकार है—श्रुति और स्मृति के अनुकूल जिसमें राजनीति का वर्णन हो तथा धर्म और युक्ति पूर्वक अर्थ के उपार्जन के नियमों का वर्णन किया गया हो वह अर्थशास्त्र कहलाता है।^४ इस प्रकार शुक्र के मतानुसार आधुनिक राजशास्त्र (Political Science) और आधुनिक अर्थशास्त्र (Economics) दोनों अर्थशास्त्र के अन्तर्गत माने गए हैं। इसलिए अर्थशास्त्र की परिभाषा की दृष्टि से कौटिल्य और शुक्र के विचारों में समानता पायी जाती है।

अर्थशास्त्र का क्षेत्र—कौटिल्य ने अर्थ शब्द का प्रयोग व्यापक अर्थ में किया है। इसलिए उनकी धारणा के अनुसार अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक माना जायगा। अर्थशास्त्र के क्षेत्र का प्रसार मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति और उस भूमि के सम्यक प्रकार से पालन करने के उपायों तक होता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का सम्बन्ध मनुष्य जीवन के केवल उन क्रिया क्षेत्रों तक ही सीमित नहीं रहता जिनमें वह धन-उत्पादन, उसके वितरण और उसके उपभोग से सम्बन्धित कार्यों के सम्पादन हेतु उद्योग करता है। अर्थशास्त्र मनुष्य जीवन के इन क्रिया-क्षेत्रों तक तो अपना अधिकार रखता ही है इसके अतिरिक्त वह इन क्षेत्रों की सीमा से कहीं आगे बढ़ जाता है। वह मनुष्यवती भूमि की प्राप्ति के उपाय बतलाता है, और उन उपायों के

१—मनुष्याणां वृत्तिरर्थः ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० १५ अर्थशास्त्र ॥

२—मनुष्यवती भूमिरित्यर्थः ॥ वार्ता २ अ० १ अधि० १५ अर्थशास्त्र ॥

३—तस्याः पृथिव्या लाभपालनोपायः शास्त्रमर्थशास्त्रमिति ॥

वार्ता ३ अ० १ अधि० १५ अर्थशास्त्र ॥

४—श्रुतिस्मृत्यविरोधेन राजवृत्तिं हि शासनम्।

सुयुक्तयार्थाङ्गं यत्र ह्यर्थशास्त्रं तदुच्यते ॥ श्लोक २६६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

द्वारा प्राप्त की गयी भूमि की सुव्यवस्था जनता में स्थापित करके जनता के सम्यक प्रकार के भरण-पोषण के उपायों को भी प्रस्तुत करता है। इस प्रकार अर्थशास्त्र राजशास्त्र के क्रिया क्षेत्र को भी आच्छादित कर लेता है, और वह राजशास्त्र को भी अपने क्षेत्र के ही अन्तर्गत कर लेता है, और राजशास्त्र भी अर्थशास्त्र का एक अंग बन जाता है। इस दृष्टि से अर्थशास्त्र का क्षेत्र अत्यन्त व्यापक हो जाता है। यही कारण है कि प्राचीन भारत में राजशास्त्र सम्बन्धी स्वतन्त्र ग्रन्थ अधिक काल तक रचे नहीं गए। इस बात का प्रमाण कौटिल्य का अर्थशास्त्र स्वयं है। जो उद्देश्य राजशास्त्र का होता है उसको अर्थशास्त्रों ने अपने में समावेश कर उसके स्वतंत्र विकास के लिए कोई अवसर ही नहीं दिया। इस प्रकार अर्थशास्त्र के अन्तर्गत राजशास्त्र (Political Science) और आधुनिक अर्थशास्त्र (Economic) दोनों शास्त्रों का समावेश है। इतना ही नहीं अपितु समाजशास्त्र (Sociology) का भी बहुत कुछ अंश कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अन्तर्गत है।

अर्थशास्त्र की प्राचीनता—भारत में अर्थशास्त्रों की रचना प्राचीन काल से होती आयी है। मनुष्य के तीन अर्थ और एक परमार्थ माना गया है। इसी परमार्थ के लाभ के लिए तीन अर्थों का प्राप्त करना परमावश्यक बतलाया गया है। यह परमार्थ मोक्ष है और अन्य तीन अर्थ धर्म, अर्थ और काम माने गए हैं। इन्हीं तीनों अर्थों को कौटिल्य अर्थ त्रिवर्ग के नाम से सम्बोधित करते हैं।^१ यह त्रिवर्ग भारतीय जीवन का आधार माना गया है। इसी लिए इन तीनों अर्थों को स्पष्ट करने और उनके प्राप्त करने के उपायों आदि के वर्णन हेतु ऋषि मुनियों ने धर्मशास्त्रों, अर्थशास्त्रों और कामशास्त्रों की रचना प्राचीन काल में समय-समय पर की थी और इस प्रकार इनके साहित्य का सृजन निरन्तर होता रहा। कौटिल्य का अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्रों रूपी पुष्प माला का एक प्रफुल्लित एवं सुगन्धित बड़ा पुष्प है जो सहस्रों वर्षों के व्यतीत होने पर भी उसी प्रकार अपनी सुन्दरता, सकुमारता और सुगन्ध से लोगों को मुग्ध कर रहा है। इस प्रकार अर्थशास्त्रों के रचना काल का प्रारम्भ लगभग उसी काल से हुआ है जब से कि धर्मशास्त्रों और कामशास्त्रों के रचना काल का उदय हुआ है।

वात्स्यायन कामसूत्र में इसी सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कहते हैं—प्रजापति ने सृष्टि रचना के उपरान्त एक लाख अध्याययुक्त एक विशाल ग्रन्थ की रचना सृष्टि की स्थिति एवं त्रिवर्ग की स्थापना हेतु की। उस विशाल ग्रन्थ में से स्वयंभू मनु ने धर्मशास्त्र, बृहस्पति ने अर्थशास्त्र, और महादेव के अनुचर नन्दी ने एक सहस्र अध्याययुक्त कामसूत्र को पृथक् कर लिया।^२

१—अर्थो धर्मः काम इत्यर्थत्रिवर्गः ॥ वार्ता ६६ अ० ७ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

२—प्रजापतिर्हि प्रजां सृष्ट्वा तासां स्थितिं निबन्धनं त्रिवर्गस्य साधनमध्यायानां शतसहस्रेणापि प्रोवाच । तस्यैकदेशं स्वायंभुवो मनुर्धर्माधिकारिकं पृथक् चकार । बृहस्पतिरर्थोधिकारिम् । महादेवानुचरश्च नन्दी सहस्रेणाध्यायानां पृथक् कामसूत्रं प्रोवाच ॥ वात्स्यायन कामसूत्र ॥

इसलिए कौटिल्य का अर्थशास्त्र अर्थशास्त्रों के इतिहास में प्राचीनतम ग्रन्थ नहीं माना जा सकता। कौटिल्य के अर्थशास्त्र के पूर्व अनेक अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी इस विषय की पुष्टि कौटिल्य ने स्वयं की है। इस विषय में कौटिल्य ने यह स्पष्ट कहा है कि उन्होंने अपने अर्थशास्त्र की रचना अपने से पूर्व के आचार्यों द्वारा रचित अनेक अर्थशास्त्रों के सार को संग्रहीत करके की है।^१ कौटिल्य द्वारा कहे गए इन वाक्यों से यह स्पष्ट विदित होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना होने के पूर्व भारत में अनेक अर्थशास्त्रों की रचना हो चुकी थी। परन्तु काल के चक्र ने उन्हें नष्ट कर दिया और आज हमें उनमें से एक भी ग्रन्थ अपने वास्तविक रूप में उपलब्ध नहीं है। यद्यपि बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र अब भी उपलब्ध है परन्तु उसके मौलिक स्वरूप में जो परिवर्तन हुए हैं उनका अब ज्ञात कर लेना बड़ा कठिन कार्य हो गया है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के उपरान्त जिन अर्थशास्त्रों की रचना हुई होगी उन पर भी यही नियम चरितार्थ होता है। इससे दो सिद्धान्तों की स्थापना की जा सकती है। एक यह कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र को लोगों ने इतना पूर्ण समझा होगा कि नवीन अर्थशास्त्र की रचना करने की आवश्यकता ही न हुई। अथवा कतिपय अर्थशास्त्रों की रचना हुई भी हो तो वह इतने महत्त्वहीन रहे होंगे कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के होते हुए वह लोकप्रिय न हो सके और इसी लिए वह अल्प काल में ही लुप्त हो गए होंगे। इस विषय में दूसरा सिद्धान्त यह स्थापित किया जा सकता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना हो जाने के कुछ बाल के उपरान्त विद्वानों ने यह अनुभव किया कि अर्थ शब्द अत्यन्त व्यापक है और इसलिए अर्थशास्त्र का क्षेत्र भी उतना ही व्यापक होगा। इसलिए अर्थशास्त्र में से उस विषय को पृथक् कर लिया जाना चाहिए जो शुद्ध राजशास्त्र के अन्तर्गत आ सकता है और इस प्रकार शुद्ध राजशास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थों की रचना होने लगी होगी। यह ग्रन्थ नीतिशास्त्र के नाम से सम्बोधित किए जाने लगे। नीतिशास्त्र के साहित्य में शुक्रनीति, कामन्दकीनीति आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं और जिन की रचना राजशास्त्र के आधार पर ही हुई है।

इसके अतिरिक्त ऐसा भी सम्भव है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र की रचना के उपरान्त अर्थशास्त्रों का स्थान नीतिशास्त्रों ने ग्रहण कर लिया हो और इस प्रकार अर्थशास्त्रों के स्थान में नीतिशास्त्रों का सृजन होना प्रारम्भ हो गया हो। सम्भवतः इसी लिए कामन्दक अपने नीतिशास्त्र के विषय में लिखते हैं कि उनके इस ग्रन्थ में भूमि के उपार्जन और उसके पालन में राजाओं को जिन उपायों का अवलम्बन करना उचित है उन्हीं उपायों का वर्णन इस ग्रन्थ में उन्होंने किया है। इसलिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र और कामन्दकीयनीतिसार में परिभाषा की दृष्टि से समानता

१—पृथिव्या लाभे पालने च यावन्त्यर्थशास्त्राणि पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्राय-
शस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

है। उन्होंने इस विषय में इस प्रकार लिखा है—जिसने अर्थशास्त्र रूपी महा समुद्र से नीतिशास्त्र रूपी अमृत निकाला है उस असीम गुण सम्पन्न विष्णुगुप्त के निमित्त नमस्कार है।^१

कौटिल्य और अर्थशास्त्र—कौटिल्य के प्रस्तुत अर्थशास्त्र में कतिपय ऐसे संकेत किए गए हैं जिनके आधार पर ज्ञात होता है कि कौटिल्य अर्थशास्त्र के रचयिता थे। यह वही कौटिल्य हैं जिन्होंने राजा (चन्द्रगुप्त मौर्य) के निमित्त समस्त शास्त्रों का अध्ययन कर और लोक प्रचलित अनेक प्रकार के लेखों पर मनन कर राजकीय आदेशों (Royal writs) के लिखने की अनेक प्रणालियों को निर्धारित किया था^२ उन्होंने अर्थशास्त्र सम्बन्धी विखरी हुई सामग्री को संग्रहीत कर प्रस्तुत सरल और सुबोध अर्थशास्त्र की रचना की है।^३ यह कौटिल्य वही व्यक्ति हैं जिन्होंने क्रोध (अमर्ष) के कारण नन्द वंशीय राजा से शास्त्र, शस्त्र और भूमि का उद्धार किया है, और इस अर्थशास्त्र की रचना की है।^४

विष्णु पुराण में भी कौटिल्य के विषय में ऐसा वर्णन उपलब्ध है—कौटिल्य नाम का एक ब्राह्मण नन्दवंश का अन्त करेगा नन्दवंश के अन्त हो जाने पर मौर्य राजा पृथ्वी का भोग करेंगे। कौटिल्य ही चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध राज्य के राजपद पर अभिषिक्त करेगा।^५ इस वर्णन के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य नाम का ब्राह्मण चन्द्रगुप्त मौर्य का गुरु था। उसने नन्दवंश का नाश कर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध के राजपद के लिये अभिषिक्त किया था। इस प्रकार सिद्ध होता है कि यह वही कौटिल्य हैं जो मौर्य साम्राज्य के संस्थापक और नन्दवंश के उन्मूलक थे। वही चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु थे। इन्हीं कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की थी।

१—नीतिशास्त्रामृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।

समुद्भो नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताय वेधसे ॥ श्लोक ६ सर्ग १ कामन्दकनीतिसार ॥

२—सर्वशास्त्र एषनुक्रम्य प्रयोगमुपलभ्य चः ।

कौटिल्येन नरेन्द्रार्थे शासनस्य विधिः कृतः ॥ श्लो. ६५ अ० १० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—पूर्वाचार्यैः प्रस्तावितानि प्रायशस्तानि संहृत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ॥

वार्ता १ अ० १ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

सुख ग्रहण विज्ञेयं तत्त्वार्थं पदनिश्चितम् ॥

कौटिल्येन कृतं शास्त्रं विमुक्तप्रत्यविस्तरम् ॥ श्लो. १६४ अ० १ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—येन शास्त्रं च शस्त्रं च नन्दराजगता च भूः ।

अभर्षणाद्धृतान्प्राशु तेन शास्त्रमिदं कृतम् ॥ श्लो. ८० अ० १ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—ततश्च नव चैतान्नन्दान् कौटिल्यो ब्राह्मणस्समुद्धरिष्यति । तेषामभावे मौर्याः

पृथ्वी मोक्षयन्ति । कौटिल्य एव चन्द्रगुप्तमुत्पन्नं राज्ये अभिषेदति ॥

२६ से २८ अ० २४ अंश ४ विष्णुपुराण ॥

इसी विषय की पुष्टि कामन्दक दूसरे शब्दों में इस प्रकार करते हैं—जिसने अति प्रतिग्रहशील प्रतिष्ठित कुल में ऋषियों के समान प्रसिद्ध वंश में जन्म लिया है; जो पृथ्वी में विख्यात है; जो अग्नि के समान तेजस्वी है; जिसने एक वेद के समान ऋक्, यजुः, साम और अथर्व इन चारों वेदों का अध्ययन किया है; जो वज्र और अग्नि के समान तेजस्वी है; जिसके मंत्राभिचार रूप वज्र प्रहार से सुपर्वा श्री नन्दवंश रूपी पर्वत समूल नष्ट हो गया; जो पराक्रम में साक्षात् कार्तिकेय के समान है; जिसने अकेले ही मंत्र शक्ति के प्रभाव से चन्द्रगुप्त मौर्य राजा को साम्राज्य दिया; जिसने अर्थशास्त्र रूपी महासमुद्र से नीतिशास्त्र रूपी अमृत निकाला उस असीम गुण-सम्पन्न विष्णुगुप्त के निमित्त नमस्कार है ।^१

कामन्दक के इन वाक्यों एवं विष्णुपुराण तथा अर्थशास्त्र के उपर्युक्त वर्णन के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य का ही दूसरा नाम विष्णुगुप्त था । यह वही विष्णुगुप्त थे जिन्होंने नन्दवंश का नाशकर चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था । उन्होंने विष्णुगुप्त अथवा कौटिल्य ने अन्य अर्थशास्त्रों से अर्थशास्त्र सम्बन्धी सामग्री को संग्रहीत कर एक नवीन अर्थशास्त्र की रचना की थी इस विषय की पुष्टि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में भी की गयी है ।^२

दशकुमारचरित के रचयिता संस्कृत के प्रसिद्ध लेखक दण्डी ने भी इसी मत की पुष्टि अपने इस ग्रन्थ में की है । उन्होंने इस मत की पुष्टि इस प्रकार की है—दण्डनीति-शास्त्र का अध्ययन कर आचार्य विष्णुगुप्त ने मौर्यों (मौर्यराजाओं) के निमित्त दण्डनीति-

१—वंशे विशाल वंशानामृषीणमिव भूपसाम् ।
 अतिप्रतिग्राहकाणां यो बभूव भुवि विश्रुतः ॥
 जातवेदा इवार्चिष्मन् वेदान् वेदविदाम्बरः ।
 यो ऽधीतवान् सुचतुरश्चतुरो ऽप्येकवेदवत् ॥
 यस्याभिचारवज्रेण वज्रज्वलनतेजसः ।
 पपात मूलतः श्रीमान् सुपर्वा नन्दपर्वतः ॥
 एकाकी मंत्र शक्त्या यः शक्त्या शक्तिधरोपमः ।
 आजहार नृच-द्राय चन्द्रगुप्ताय मेदिनीम् ॥
 नीतिशास्त्रमृतं धीमानर्थशास्त्रमहोदधेः ।
 समुद्धे नमस्तस्मै विष्णुगुप्ताप्रवेधसे ॥

श्लोक २ से ६ तक सर्ग १ कामन्दकनीतिसार ॥

२—पूर्वाचार्यैः प्रस्ताविता नि प्रायशस्तानि संहत्यैकमिदमर्थशास्त्रं कृतम् ॥

वार्ता १ अ० १ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

शास्त्र को छः सहस्र श्लोकों में संक्षिप्त किया। इस शास्त्र के सम्यक् प्रकार से अध्ययन करने से अभिलषित फल की प्राप्ति होती है।^१

अर्थशास्त्र के प्रथम अधिकरण के प्रथम अध्याय में भी इस विषय का उल्लेख है कि अर्थशास्त्र में छः सहस्र श्लोक हैं।^२ दण्डी के उपर्युक्त कथन से भी यही सिद्ध होता है कि विष्णुगुप्त ने प्राचीन अर्थशास्त्रों से अर्थशास्त्र सम्बन्धी सामग्री को संग्रहीत कर चन्द्रगुप्त मौर्य के पथप्रदर्शन हेतु एक नवीन अर्थशास्त्र की रचना की थी। इस प्रकार दण्डी भी उन विष्णुगुप्त को अर्थशास्त्र का रचयिता मानते हैं जिन्होंने चन्द्रगुप्त मौर्य को मगध का राजा बनाया था और नन्दवंश का उन्मूलन किया था। इस प्रकार यह विष्णुगुप्त अर्थशास्त्र और विष्णुपुराण के कौटिल्य ही हैं। कादम्बरी ग्रन्थ के प्रणेता वाण ने भी यह स्वीकार किया है कि कौटिल्य ने अर्थशास्त्र की रचना की है।^३

जैन साहित्य में चाणक्य नाम के ब्राह्मण को नन्दवंश का उन्मूलन करने वाला बतलाया गया है। चाणक्य ने तीक्ष्ण दूत प्रयोग से नन्दवंश का उन्मूलन किया था।^४ पंचतंत्र के रचयिता ने भी चाणक्य को अर्थशास्त्र का प्रधान प्रणेता माना है।^५

इस प्रकार उपर्युक्त प्रामाणिक सामग्री के आधार पर इस विषय में लेशमात्र भी संदेह नहीं रहता कि कौटिल्य जो कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु थे और जिन्होंने नन्दवंश का अन्त किया था अर्थशास्त्र के रचयिता थे। एक ही व्यक्ति के कई नामों का होना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। प्राचीन भारत में इस प्रकार का प्रचलन रहा है। आज भी हिन्दू परिवारों में एक ही व्यक्ति के तीन नाम होना साधारण सी बात है। एक राशि का नाम दूसरा प्यार का नाम, और तीसरा प्रचलित नाम। यह तीन प्रकार के नाम एक ही व्यक्ति के आधुनिक समय में भी होते

१—अधीष्व तावद्दण्डीतिम् । इयमिदानीमाचार्य विष्णुगुप्तेन मौर्यार्थे षड्भिः श्लोक सहस्रैः संक्षिप्ता सैवेयमबोध्य । सम्प्रगनुष्ठीयमाना यथोक्तकर्म क्षमति ॥ दशकुमारचरित ॥

२—शास्त्रसमुद्देशः पञ्चदशाधिरणानि सपञ्चाशदध्यायशतं साशीति प्रकरणशतं षट् श्लोक सहस्राणीति ॥

वार्ता १६३ अ० १ अधि० १ अर्थशास्त्र

३—किं वा तेषां साम्प्रतं येषामतिनृशंस प्रायोपदेशानिघृणं कौटिल्यशास्त्रं प्रमाण × × × ॥ कादम्बरी ॥

४—श्रूयते हिकिलवाणस्यस्तीक्ष्णदूत प्रयोगेणैकं नन्दं जघानेति ॥ नीतिवाक्यामृत ॥

५—ततो धर्मशास्त्राणि मन्वादीनि अर्थशास्त्राणि चाणक्यादीनि कामशास्त्राणि वात्स्यायनीनि ॥ पञ्चतंत्र ॥

हैं। शंकराय ने भी कामन्दकनीतिसार की व्याख्या करते हुए यह बतलाया है कि उनको विष्णुगुप्त नाम नामकरण संस्कार के अवसर पर दिया गया था। परन्तु उनका जन्म स्थान एवं गोत्र के आधार पर क्रमशः चाणक्य और कौटिल्य नाम से सम्बोधित किया गया है। महामहोपध्याय गणपति शास्त्री ने भी कौटिल्य के नामों की सार्थकता सिद्ध करते हुए बताया है कि कौटिल्य शब्द अशुद्ध है। इस के स्थान में कौटल्य होना चाहिए। कौटल्य शब्द कौटल गोत्र से सम्बन्धित है। विष्णुगुप्त इसी गोत्र के थे। इसलिए विष्णुगुप्त को ही कौटल्य कहते थे। कतिपय विद्वानों का मत है कि विष्णुगुप्त चणक नाम के ब्राह्मण के पुत्र थे इसीलिए उन्हें चाणक्य भी कहते थे।

इसलिए इस विषय में दो मत नहीं हो सकते कि चन्द्रगुप्त मौर्य के राजगुरु विष्णुगुप्त नाम के एक ब्राह्मण थे जन्होंने अर्थशास्त्र की रचना की है। उन्हीं विष्णुगुप्त को कौटिल्य अथवा चाणक्य भी कहते थे। चन्द्रगुप्त मौर्य के शासन काल का प्रारम्भ ईसा से ३२१ अथवा ३२३ वर्ष पूर्व से माना जाता है। अतः अर्थशास्त्र का रचना काल भी इसी तिथि के समीप ही मानना न्यायसंगत होगा। इस प्रकार कौटिल्य मौर्यकाल के राजशास्त्र विचारक माने जाएँगे।

प्रस्तुत अर्थशास्त्र का रचनाकाल—परन्तु अब प्रश्न यह उठता है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र ही वह अर्थशास्त्र है जिसके प्रणेता कौटिल्य हैं अथवा कोई दूसरा अर्थशास्त्र है? इस विषय में विद्वानों में एक मत नहीं है। कतिपय विद्वान प्रस्तुत अर्थशास्त्र को मौर्य काल का नहीं मानते। उनका कहना है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र में कुछ ऐसी सामग्री है जो मौर्य काल के पश्चात् की है और इस आधार पर प्रस्तुत अर्थशास्त्र, अर्थशास्त्र के पश्चात् की कृति है। इन विद्वानों में जाली, विटरनिज़, ए० बी० किथ प्रभृति प्रस्तुत अर्थशास्त्र को तीसरी ईसवी की कृति मानते हैं। आर० जी० भण्डारकर ने प्रस्तुत अर्थशास्त्र को ईसा की प्रथम शताब्दी का ग्रन्थ माना है।

परन्तु डा० शामशास्त्री और काशी प्रसाद जायसवाल उपर्युक्त मतों से सहमत नहीं हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु प्रमाण दिए हैं कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है जिसकी रचना चन्द्रगुप्त मौर्य के प्रधानमंत्री कौटिल्य ने मौर्य राजाओं के पथप्रदर्शन हेतु की थी। इस मत के पोषकों में इन दो विद्वानों के अतिरिक्त प्लीट, गणपतिशास्त्री, एन० एन० ला०, डी० आर० भण्डारकर, आर० के० मुर्कजी एच० सी० राय, काणे, वी० ए० स्मिथ, एस० डब्लू० थामस प्रभृति मुख्य हैं। इस श्रेणी के विद्वानों ने उन आक्षेपों का समाधान करने का प्रयत्न किया है जो प्रस्तुत अर्थशास्त्र को मौर्यकाल की रचना होने में सन्देह उत्पन्न करते हैं।

इतना होने पर भी यह विषय अब भी विवादग्रस्त बना ही हुआ है। प्रस्तुत अर्थशास्त्र मौर्यकालीन मान लेने में एक आपत्ति यह भी खड़ी हो जाती है कि दश-कुमारचरित के प्रणेता दण्डी ने अर्थशास्त्र को श्लोकवद्ध देखा था ऐसा उनके

वर्णन से ज्ञात होता है। यह श्लोकबद्ध अर्थशास्त्र छः सहस्र श्लोक - युक्त था। प्रस्तुत अर्थशास्त्र के प्रारम्भिक अध्याय में भी यह उल्लेख है कि अर्थशास्त्र में छः सहस्र श्लोक हैं।^१ परन्तु प्रस्तुत अर्थशास्त्र सूत्र एवं श्लोक - युक्त हैं और इस अर्थशास्त्र के समस्त सूत्रों एवं श्लोकों की संख्या छः सहस्र से न्यून हैं। दण्डी के इस कथन से ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने श्लोक-बद्ध अर्थशास्त्र की रचना की थी जो दण्डी के समय तक प्रचलित रहा। परन्तु दण्डी के उक्तान्त किसी समय किसी दूसरे पण्डित ने कौटिल्य प्रणीत श्लोकबद्ध अर्थशास्त्र का नवीन संस्करण किया और उसको सूत्र एवं श्लोकों के रूप में प्रस्तुत किया। अर्थशास्त्र का वही संस्करण प्रस्तुत अर्थशास्त्र है। परन्तु इस सिद्धान्त की स्थापना में एक बड़ा सन्देह यह है कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र के कतिपय सूत्र दण्डी के पूर्व के कतिपय ग्रन्थों में ज्यों-के-द्यों पाए जाते हैं। डा० शामशास्त्री ने इस विषय में वास्त्यायन के काम-सूत्र से कुछ सूत्रों को प्रस्तुत अर्थशास्त्र के तद्विषयक सूत्रों का मिलान करते हुए यह सिद्ध किया है कि यह सूत्र कौटिल्य के अर्थशास्त्र के आधार पर ही आश्रित हैं। इन प्रसंगों के अनुसार यह मानना न्यायसंगत होगा कि कौटिल्य प्रणीत अर्थशास्त्र दण्डी के पूर्व भी सूत्र और श्लोक बद्ध था। इसी प्रकार जैन साहित्य से भी कुछ उदाहरण डा० शामशास्त्री ने दिए हैं उनमें भी यही बात सिद्ध होती है।

उपर्युक्त सामग्री के आधार पर निश्चय पूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र वही अर्थशास्त्र है जिसकी रचना कौटिल्य ने की थी अथवा यह उसका कोई नवीन संस्करण है। यह समस्या अभी जटिल ही बनी हुई है। इसके वास्तविक समाधान के निमित्त नवीन खोज एवं अन्य पुष्ट प्रमाणों की नितान्त आवश्यकता है। प्रस्तुत अर्थशास्त्र चाहे मौर्यकाल की रचना हो अथवा उसके पश्चात् का नवीन संस्करण हो परन्तु इतना अवश्य मानना पड़ेगा कि प्रस्तुत अर्थशास्त्र में राजशास्त्र सम्बन्धी जिन सिद्धान्तों की स्थापना की गई है वह मौर्य कालीन ही हैं। इस दृष्टि से प्रस्तुत अर्थशास्त्र में जो राजशास्त्र सम्बन्धी सिद्धान्त स्थापित किए गए हैं वह कौटिल्य के ही हैं, और वह प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के इतिहास में मनु और भीष्म के पश्चात् के प्रतिनिधि राजशास्त्र विचारक माने जाएंगे।

द्वितीय अध्याय

राज्य की उत्पत्ति के सिद्धान्त

राज्य की उत्पत्ति किस प्रकार हुई है इस विषय में कौटिल्य के अर्थशास्त्र में विशेष वर्णन नहीं किया गया है। इसलिए इस विषय की समुचित विवेचना नहीं की जा सकती और न निश्चय पूर्वक यही कहा जा सकता है कि राज्य की उत्पत्ति के विषय में कौटिल्य किस सिद्धान्त में आस्था रखते थे। इतना अवश्य है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति के दो सिद्धान्तों की ओर कुछ संकेत किए गए हैं जिनके आधार पर ऐसा अनुमान किया जा सकता है कि कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में राज्य की उत्पत्ति के विषय में समाजअनुबन्धवाद और सावयव सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। इन्हीं दोनों सिद्धान्तों का वर्णन कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपलब्ध प्रामाणिक सामाग्री के आधार पर किया जाएगा।

समाजअनुबन्धवाद—राज्य की उत्पत्ति समाजअनुबन्धवाद सिद्धान्त के आधार पर हुई है इस विषय की ओर अप्रत्यक्ष रूप में कौटिल्य ने कुछ संकेत किए हैं। प्रजा में राजा के महत्त्व की स्थापना करने एवं प्रजा को अपने राजा की धन से सहायता करनी चाहिए इस पक्ष के प्रतिपादन करने के निमित्त तत्सम्बन्धी विचारों को प्रजा में प्रसारित करने के हेतु गुप्तचरों को आदेश देने की व्यवस्था करते हुए कौटिल्य ने यह आदेश दिया है कि गुप्तचरों को राज्य की प्रजा में इस प्रकार के विचार प्रसारित करने चाहिए—पूर्वकाल में एक ऐसा युग था जब प्राणियों में मात्स्यन्याय का प्रावलय था। जल में जिस प्रकार बड़ी मछलियाँ छोटी मछलियों को निरन्तर नष्ट करती रहती हैं इसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्यों को निरन्तर नष्ट करते रहते थे। इस यातनामय जीवन से मुक्त होने के लिए लोगों ने विवस्वान के पुत्र मनु को अपना राजा बनाया।^१ इन लोगों ने उत्पन्न हुए अन्न का छठवाँ भाग, व्यापार द्वारा प्राप्त हुए धन का दसवाँ भाग और सुवर्ण का कुछ भाग कर के रूप में अपने राजा के लिए नियत किया।^२ इस प्रकार करों द्वारा प्राप्त इस धन से राजा गण प्रजा की रक्षा करते हुए उनके कल्याण के साधन जुटाते आए हैं। जो राजा अपनी प्रजा पर कठोर दण्ड का प्रयोग नहीं करता

१—मात्स्यन्यायाभिभूताः प्रजा मनुं वैवस्वतं राजानं चक्रिरे ॥

वार्ता ६ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—धान्यपडभागं पण्यदशभागं हिरण्यं चास्य भागधेयं प्रकल्पयामासुः ॥

वार्ता ७ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

वही प्रजा के दुःखों के हरण करने में समर्थ होते हैं और जो कठोर दण्ड देनेवाले (अन्यायपूर्ण दण्ड प्रयोग करनेवाले) होते हैं वह प्रजा-पीड़क और उनके योगक्षेम के नाशक होते हैं ।^१ मुनिगण भी अपनी उच्छ वृत्ति से प्राप्त अन्न (वीन कर लाए हुए अन्न) का छठवाँ भाग कर के रूप में अपने राजा को प्रदान करते हैं । परन्तु इस भाग (कर द्वारा प्राप्त धन-धान्य) का वही राजा अधिकारी होता है जो उस धन से प्रजा की रक्षा करने में तत्पर रहता है ।^२

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपलब्ध उपर्युक्त वर्णन के विश्लेषण करने से कई सिद्धान्तों की स्थापना होती है । इस वर्णन के आधार पर यह ज्ञात होता है कि पूर्व काल में एक ऐसा भी युग था जब राजा एवं राज्य व्यवस्था का निर्माण नहीं हुआ था । उस युग में मनुष्य बरबर अवस्था में था । मनुष्य अपने स्वार्थ साधन हेतु दूसरों के नाश में संलग्न था । मनुष्य जीवन अस्थिर, यातनामय और पशुवत था । जिस प्रकार जल में बड़ी मछली छोटी मछलियों को नष्ट करती रहती है इसी प्रकार उस युग में सबल मनुष्य निर्बल मनुष्य को नष्ट करने में संलग्न था । इस प्रकार कौटिल्य भी भीष्म की भाँति प्राकृत युग की कल्पना करते हैं^३ और उसके लक्षण लगभग वही बतलाते हैं जिनका उल्लेख इंगलैंड के तत्त्ववेत्ता हाब्स (Hobbes) ने अपने काल्पनिक प्राकृत युग (State of Nature) के विषय में किया है ।

मनुष्य इस प्रकार के जीवन से अत्यन्त दुखी था । वह किसी न किसी प्रकार इस अवस्था से बाहर निकलने के लिए प्रयत्नशील था । लोगों ने सोचा कि कोई ऐसा शक्तिसम्पन्न व्यक्ति होना चाहिए जो उनके मध्य से मात्स्यन्याय की प्रवृत्ति का दमन कर उनमें न्याय एवं सुरक्षा की व्यवस्था स्थापित कर सके । उन्होंने, इसलिए, आपस में मिलकर विवस्वान् के पुत्र मनु को अपना स्वामी बनाया और उनको अपना राजा माना । इस प्रकार प्राकृत युग (Stat of Nature) के मनुष्य ने राजा का निर्माण कर राज्य व्यवस्था को सर्व प्रथम जन्म दिया । परन्तु उन्होंने अपने इस नूतन राजा से यह अनुबन्ध किया कि वह उनके योगक्षेम के लिए सतत प्रयत्न करता रहेगा, और अपने इस राजा को इस कार्य के सम्पादन हेतु वह धन, जन आदि से सदैव सहायता करते रहेंगे । उन्होंने यह स्पष्ट कह दिया कि यदि वह अपने इस कर्तव्य से च्युत होगा तो उसकी यह लोग धन, जन आदि की सहायता बन्द कर देंगे और इस प्रकार वह उनका राजा न रह सकेगा ।

१—तेन भृता राजनः प्रजानां योगक्षेम-वहास्तेषां किल्बिषमदण्डकरा हरन्ति
अयोगक्षेमवहाश्च प्रजानाम् ॥ वार्ता ८ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र

२—तस्मादुच्छ्रष्टु षड्भागमारण्यका अपि निवपन्ति तस्यैतद्भागधेयं योऽस्मान्गो-
पायतीति ॥ वार्ता ६ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र

३—अराजकाः प्रजाः पूर्वं विनेशुरिति नः श्रुतम् ।

परस्परं भक्षयन्तो मत्स्या इव जले कृशान् ॥ श्लोक १७ अ० ६७ शा० पर्व ॥

इस प्रकार कौटिल्य ने राजा एवं राज्य-व्यवस्था के निर्माण में समाज अनुबन्ध-वाद के सिद्धान्त का आश्रय लिया है जिसका स्वरूप किसी अंश तक उसी प्रकार का है जैसा कि भीष्म ने तत्सम्बन्धी सिद्धान्त का आश्रय लिया है और जिसका वर्णन महाभारत के शान्ति पर्व में प्राप्त है ।^१

राज्य का सावयव स्वरूप—कौटिल्य ने राज्य को सप्तप्रकृति युक्त माना है । यह सात प्रकृतियाँ स्वामी, अमात्य, जनपद, दुर्ग, कोश, दण्ड और मित्र हैं ।^२ कौटिल्य ने राज्य की प्रकृतियों को राज्य के अवयव कहकर सम्बोधित किया है ।^३ इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि कौटिल्य राज्य को एक ऐसा अवयवी मानते थे जिसका निर्माण सात अवयवों के संयोग से माना गया है । इसलिए इस आधार पर यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि कौटिल्य राज्य के सावयव स्वरूप में आस्था रखते थे । परन्तु उनके द्वारा प्रतिपादित राज्य के सावयव सिद्धान्त का वास्तविक स्वरूप क्या था इस विषय का निरूपण करने के लिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में सम्पक प्रामाणिक सामाग्री का सर्वथा अभाव है । अतः इस विषय का ठीक ठीक निरूपण नहीं किया जा सकता ।

कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित सावयव सिद्धान्त के चिन्ह भारत के प्राचीनतम साहित्य में भी पाये जाते हैं । ऋग्वेद में समस्त जगत की कल्पना विराट पुरुष से की गयी है । उस विराट पुरुष के विभिन्न अवयवों द्वारा स्रष्टृ की किस प्रकार रचना हुई है इस विषय का बोध कराया गया है । उस विराट पुरुष के चार अंगों से चार प्रकार के व्यक्तियों की उत्पत्ति मानी गयी है । विराट पुरुष के मुख से ब्राह्मण, बाहुओं से क्षत्रिय, उरुओं से वैश्य और पादों से शूद्र की उत्पत्ति हुई ।^४ यजुर्वेद में दिए हुए पुरुषसूक्त में भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है । इस प्रसंग में ऐसा स्पष्ट बतलाया गया है कि विराट पुरुष का मन चन्द्र है और उसकी आँखें सूर्य हैं इत्यादि ।^५ यजुर्वेद में कुछ ऐसी ऋचाएँ भी हैं जिनमें राज्य के सावयव सिद्धान्त का कुछ अधिक स्पष्टता से वर्णन उपलब्ध है । यजुर्वेद के बीसवें अध्याय की एक ऋचा में इस प्रकार वर्णन किया गया है—मेरी (विराट पुरुष की) पीठ राष्ट्र है, मेरा उदर, कन्धे, कटि, जंघा

१—विशेष अध्ययन के लिए लेखक द्वारा रचित भीष्म का राजधर्म नाम का ग्रन्थ पढ़िए ।

२—स्वाम्यमात्य जनपद दुर्ग कोश दण्ड मित्राणि प्रकृतयः ।

वार्ता १ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

३—प्रकृत्यवयवानां तु व्यसनस्य विशेषतः ॥ श्लोक ६६ अ० १ अधि० ८ अर्थशास्त्र ॥

४—ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीद्बाहूराजन्यः कृतः । उरु यद्वैश्यः पदभ्यां शूद्रोऽजायत ॥

मंत्र १२ सूक्त ६ मण्डल १० ऋग्वेद ॥

५—चन्द्रमा मनसोजातश्चक्षुः सूर्यो अजायत ।

श्रोत्राद्वायुश्च प्राणश्च मुखादग्निरजायत ॥ मन्त्र १२ अध्याय ३१ यजुर्वेद ॥

और घुटने यह सब अंग मेरी प्रजा हैं।^१ इस प्रकार ऋग्वेद और यजुर्वेद इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हैं कि राज्य की उत्पत्ति का सावयव सिद्धान्त उतना ही प्राचीन है जितनी कि ऋग्वेद और यजुर्वेद की यह ऋचाएँ प्राचीन हैं

महाभारत में राज्य को सप्तांग माना गया है। इसके अनुसार राज्य का निर्माण सात अंगों (अवयवों) के संयोग से बतलाया गया है। राज्यके यह सात अंग आत्मा (राजा), अमात्य, कोश, दण्ड, मित्र, जनपद और पुर माने गए हैं।^२ महाभारत के रचयिता भी, इस प्रकार, राज्य की उत्पत्ति के सावयव सिद्धान्त की पुष्टि कौटिल्य की भांति ही करते हैं। मनु ने भी राज्य को सप्तात्मक अथवा सप्तांग मानकर सावयव सिद्धान्त की पुष्टि की है। राज्य के यह सात अंग अथवा अवयव स्वामी, अमात्य, सुहृद्, पुर, राष्ट्र, कोश और दण्ड बतलाए गए हैं।^३ मनु का मत है कि इन सात अंगों के संयोग से राज्य उसी प्रकार स्थिर रहता है जैसे कि तीन दण्डे एक दूसरे के सहारे खड़े रहते हैं।^४ मनु राज्य के इन सात अंगों में से प्रत्येक अंग को महत्त्व की दृष्टि से समान ही मानते हैं। इनमें से किसी को भी एक दूसरे से छोटा अथवा बड़ा नहीं मानते हैं। जिस अंग से जो कार्य सिद्ध होते हैं वह अंग उसी में श्रेष्ठ माना गया है।^५ इस प्रकार मानवधर्मशास्त्र में भी सावयव सिद्धान्त की पुष्टि की गयी है।

शुक्र ने भी राज्य की उत्पत्ति के सावयव सिद्धान्त का समर्थन किया है। शुक्र राज्य को सप्तांग रूप में मान कर इस प्रकार वर्णन करते हैं—स्वामी, अमात्य, सुहृद्, कोश, दुर्ग, राष्ट्र और बल यह राज्य के सात अंग हैं। इनमें राजा (स्वामी, मस्तक) अमात्य राज्य रूपी पुरुष के नेत्र, सुहृद् कान, कोश मुख, दुर्ग हाथ, राष्ट्र पाद, और

१—पृष्ठी मेराष्टसुदरं सौम्रीवाश्च श्रोणी ।

ऊरु अरत्नी जानुनी विशोमेङ्गानि सर्वतः ॥ मन्त्र ८ अ० २० यजुर्वेद ॥

२—आत्मा मात्याश्च कोषाश्च दण्डो मित्राणि चैव हि ॥ श्लोक ६४ अ० ६६ शा० पर्व ॥
तथा जनपदाश्चैव पुरं च कुरुनन्दन ।

एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपालयं प्रदत्ततः ॥ श्लोक ६५ अ० ६६ शा० पर्व ॥

३—स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोशदण्डौ सुहृत्तथा ।

सप्तप्रकृतयोद्येताः सप्तांगं राज्यमुच्यते ॥ श्लोक २१४ अ० ६ मा० धर्मशा० ॥

४—सप्तांगस्येह राज्यस्य विष्टब्धस्य त्रिदण्डवत् ॥ श्लोक २६६ अ० ६ मा० धर्मशा० ॥

५—अन्योन्यं गुणवैशेष्यान् किञ्चिदतिरिच्यते ॥ श्लोक २६६ अ० ६ मा० धर्मशा० ॥

तेषु तेषु तु कृत्येषु तत्तदंगं विशिष्यते ।

येन यत्साध्यते कार्यं तत्तस्मिन् श्रेष्ठमुच्यते ॥ श्लोक २६७ अ० ६ मानवधर्मशास्त्र ॥

बल उस पुरुष का मन माना गया है ।^१ इस प्रकार शुक्र भी राज्य की कल्पना पुरुष रूप में करते हैं । शुक्रनीति के एक प्रसंग में शुक्र ने राज्य को वृक्ष माना है । इस वृक्ष का मूल राजा, मन्त्री स्कन्ध, सेनापति शाखा, सेना पल्लव और कुसुम, प्रजा फल और भूभाग बीज से सम्बोधित किए गए हैं ।^२ इस प्रकार शुक्र भी राज्य के सावयव सिद्धान्त का समर्थन करते हैं ।

इस प्रकार प्राचीन भारत के साहित्य में ऐसे प्रचुर प्रमाण उपलब्ध हैं जो इस विषय की पुष्टि करते हैं कि प्राचीन भारत में राज्य की उत्पत्ति के सावयव स्वरूप को भी स्थिर किया गया था । इसी विचारचारा के पोषक कौटिल्य भी रहे हैं ।

१—स्वाभ्यमाव्य सुहृत्कोष राष्ट्र दुर्ग बलानि च । सप्तांगमुच्यते राज्यं ॥

श्लोक ६१ अ० १ शुक्रनीति ॥

× × × यत्र मूर्धा नृपः स्मृतः ॥ श्लोक ६१ अ० १ शुक्रनीति ॥

रामाया सुहृच्छ्रोत्रं मुखं कोषो बलमनः ।

हस्तौ पादौ दुर्गराष्ट्रौ राज्यांगानि स्मृतानि हि ॥ ६२ अ० १ शुक्रनीति ॥

२—राज्यं वृक्षस्य नृपतिर्मूलं स्कन्धाश्च मंत्रिणः ॥ श्लोक १२५७ अ० ४ शुक्रनीति ॥

शाखाः सेनाधिपा सेनाः पल्लवाः कुसुमानि च ।

प्रजाः फलानि भूभागो बीजं भूमिः प्रकल्पिता ॥ श्लोक १२५८ अ० ४ शुक्रनीति ॥

तृतीय अध्याय

राजा

वर्णाश्रम-व्यवस्था—प्राचीन भारत में मनुष्य जीवन को दो मुख्य क्षेत्रों में विभक्त किया गया था। इन क्षेत्रों में एक क्षेत्र का सम्बन्ध मनुष्य के उस जीवन से था जिसमें वह अपने वैयक्तिक विकास एवं उत्थान के निमित्त क्रियाशील रहता था। मनुष्य जीवन के दूसरे क्षेत्र का सम्बन्ध मनुष्य के उस जीवन से माना जाता था जिसमें वह सम्पूर्ण मानव समाज से अपने को सम्बन्धित मानता था और जिस जीवन में वह अन्य मनुष्यों के साथ कन्धे से कन्धा जोड़कर सार्वजनिक कल्याण के कार्यों में भाग लेता था। इस प्रकार प्राचीन भारत में व्यक्ति और समाज के क्रिया क्षेत्रों को एक दूसरे से पृथक् रहने पर भी उनमें अभिन्नता रखने का प्रयत्न किया गया था। व्यक्ति को अपने विकास के लिए विशेष प्रकार के नियमों का पालन करना पड़ता था और तदनुसार आचरण करना अनिवार्य समझा जाता था। दूसरी ओर व्यक्ति के कुछ ऐसे भी कर्तव्य माने गए थे जिनका उद्देश्य सम्पूर्ण मानव समाज का विकास एवं उत्थान होता था। व्यक्ति के जीवन के इस क्षेत्र में वह स्वतंत्र न था। उसे सम्पूर्ण समाज के कल्याण के उद्देश्य को अपने समक्ष रखकर कार्य करना पड़ता था। व्यक्ति और समाज के विकास एवं उत्थान हेतु मनुष्य जीवन के जो यह दो क्रिया क्षेत्र जिस व्यवस्था के अनुसार निर्धारित किए गए थे उस व्यवस्था को उस युग में वर्णाश्रम-व्यवस्था अथवा वर्णाश्रम-धर्म के नाम से सम्बोधित किया गया है। वर्ण व्यवस्था मनुष्य जीवन के उस अंग से सम्बन्ध रखती थी जिसमें मनुष्य अपने को सम्पूर्ण मानव समाज से सम्बन्धित समझता था और जिसमें वह सम्पूर्ण समाज के विकास एवं उत्थान के निमित्त क्रियाशील रहना अपना परम कर्तव्य समझता था। परन्तु आश्रम-व्यवस्था का निर्माण मनुष्य के वैयक्तिक विकास के लिए हुआ था। आश्रम-व्यवस्था के द्वारा वह आत्यन्तिक आत्मविकास के लिए अपने शरीर एवं आत्मा को तप और त्याग के द्वारा उस लक्ष्य तक पहुँचने का प्रयास करता था।

भारतीय परम्परा के अनुसार वर्णाश्रम-व्यवस्था अनादि काल से प्रचलित मानी जाती है और इसीलिए प्राचीन भारत के साहित्य में इस व्यवस्था को शाश्वत कह कर सम्बोधित किया गया है। इस परम्परा के पोषक कौटिल्य भी हैं। उनके मतानुसार इस व्यवस्था के सम्यक् प्रकार से पालन किए जाने में ही लोक-कल्याण निहित है। अपने इस मत की पुष्टि वह इन शब्दों में करते हैं—जब वर्णाश्रम-व्यवस्था की मर्यादा

स्थापित कर दी जाती है तो जगत प्रसन्न रहता है और कभी दुखी नहीं होता ^१ इसी वर्णाश्रम-व्यवस्था के अनुसार निर्धारित अपने अपने धर्म का पालन करने से मनुष्य इस लोक में सुख पूर्वक जीवन यात्रा करता हुआ मृत्यु के उपरान्त परमधाम (मोक्ष) को प्राप्त करता है और जिसकी प्राप्ति ही मनुष्य जीवन का एकमात्र लक्ष्य माना गया है । इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं अपने-अपने धर्म का पालन स्वर्ग और अनन्त सुख (मोक्ष) के लिए होता है ।^२ यदि लोक में स्वधर्म पालन का लोप किया गया तो वर्णसंकरता होकर लोक का नाश कर देगी ।^३

दण्डनीति — परन्तु मनुष्य स्वभाव सदैव शुचि ही बना रहे ऐसा कौटिल्य मानते नहीं हैं । उनके मतानुसार काम, क्रोध, लोभ, मान, मद और हर्ष जिन्हें वह षड्वर्ग के नाम से सम्बोधित करते हैं मनुष्य में विकार उत्पन्न करते रहते हैं । इस षड्वर्ग से प्रभावित होकर मनुष्य अधर्म की ओर पदार्पण करने लगता है । इस अवस्था में मनुष्य समाज में मात्स्यन्याय का जन्म होता है जो जगत के नाश का कारण बन जाता है । इसी षड्वर्ग के प्रभाव से मनुष्य को अक्षुण्य रखने के लिए और मात्स्यन्याय के उन्मूलन हेतु दण्ड का निर्माण किया गया । जो व्यक्ति अपने धर्म से विचलित होगा उसको दण्डित कर धर्म पालन के निमित्त विवश करके धर्म-स्थापना की जानी चाहिए । परन्तु दण्ड का प्रयोग उचित रूप में होना चाहिए । जिस मात्रा में मनुष्य अपने धर्म से विचलित होता है उसको उसी मात्रा में दण्ड देना चाहिए । मनुष्य के अपराध के अनुसार ही दण्ड देकर लोक में मर्यादा स्थापित की जा सकती है और जिस लोक में इस प्रकार की मर्यादा की स्थापना की सम्यक व्यवस्था कर दी जाती है वह लोक सुखी और सम्पन्न रहता है । दण्ड के सम्यक प्रकार से प्रयुक्त किए जाने से लोक-कल्याण होता है इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—तीक्ष्ण दण्ड से प्राणियों में उद्वेग उत्पन्न होता है ।^४ मृदु दण्ड देने से प्राणी दण्डवारी का तिरस्कार करने लगते हैं ।^५ सम्यक दण्ड पूजनीय समझा जाता है ।^६ सुप्रणीत दण्ड प्रजा को धर्म, अर्थ और काम की सिद्धि को

१—व्यवस्थितार्यमर्यादःकृतवर्णाश्रमस्थितिः ।

त्रयम् हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति ॥ श्लोक १७ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—स्वधर्मः स्वर्गायानन्याय च ॥ वार्ता १४ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तस्यातिक्रमे लोकः संकरादुच्छिद्येत ॥ वार्ता १५ अ० ३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—कामक्रोधलोभमानमदहर्षत्यागाकार्यः ॥ वार्ता १ अ० ६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

तस्मादरिषड्वर्गं त्यागेनेद्रिन्यजयं कुर्वति ॥ वार्ता १ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—तीक्ष्णदण्डो हि भूतानामुद्वेजनीयः ॥ वार्ता ११ अ० ४ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—मृदु दण्डः परिभूयते ॥ वार्ता १२ अ० ४ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—यथार्थदण्डः पूज्यः ॥ वार्ता १३ अ० ४ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

प्रदान करता है ।^१ काम, क्रोध (राग-द्वेष) और अज्ञान से दण्ड का व्यवहार करना वानप्रस्थ और परिव्राजकों को भी कुपित कर देता है । फिर भला गृहस्थों का कहना ही क्या है ।^२ दण्ड के अनुचित प्रयोग से मात्स्यन्याय का प्रचार होता है ।^३

इस प्रकार लोकरक्षा एवं लोककल्याण के निमित्त न्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग की आवश्यकता अनिवार्य मानी गयी है । परन्तु न्यायपूर्वक दण्ड प्रयोग के निमित्त दण्ड-प्रयोग करने के नियमों की आवश्यकता होती है जिससे इन नियमों के अनुसार ही दण्ड का प्रयोग किया जा सके । इन नियमों का वर्णन जिस शास्त्र में होता है उस शास्त्र को दण्डनीति कहते हैं । कौटिल्य ने दण्डनीति की परिभाषा इस प्रकार की है—दण्ड प्रदान करने की नीति को दण्डनीति कहते हैं ।^४ कौटिल्य ने दण्ड का बहुत बड़ा महत्त्व माना है । उनके मतानुसार चार विद्याएं हैं जो आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता और दण्डनीति हैं । इनमें आन्वीक्षिकी, त्रयी और वार्ता इन तीनों विद्याओं के सुचारु रूप में संचालन में दण्ड ही समर्थ है ऐसा कौटिल्य का मत है ।^५

राजा—परन्तु दण्डनीति के अनुसार प्राणियों में दण्ड प्रयोग करने के लिए एक योग्य एवं कुशल दण्डधारी की आवश्यकता होती है । वस यही दण्डधारी व्यक्ति राजा कहलाया क्योंकि प्रजारंजन (प्रजा को प्रसन्न करना) उसका परमधेय माना गया है । राजा को प्रजा के सुख में अपना सुख और प्रजा के कल्याण में अपना कल्याण समझना चाहिए । इसी सिद्धान्त का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—प्रजा के सुख में सुख और उसके हित में ही राजा को अपना हित समझना चाहिए । राजा का अपना निजी प्रिय और हितकारी कोई भी कार्य प्रथक नहीं होता । प्रजा का प्रिय और हितकारी कार्य ही राजा का प्रिय और हितकारी कार्य होता है ।^६ इस प्रकार राजा का परमकर्तव्य अपनी प्रजा को सुपथ पर ले जाकर उसके सुख और कल्याण प्राप्ति के साधनों का प्रस्तुत करना है । इस कार्य के सम्पादन हेतु राजा को स्वयं श्रेष्ठ आचरणवान व्यक्त होना चाहिए जिससे वह अपने आचरण का आदर्श अपनी प्रजा के समक्ष रख सके और अपने को उस आदर्श प्राप्ति के लिए प्रेरित कर

१—सुविज्ञात प्रणीतो हि दण्डः प्रजा धर्मार्थकामैर्प्रोजयति ॥ वार्ता १४ अ० ४ अ० १ अर्थशास्त्र ॥

२—दुष्प्रणीतः कामक्रोधाभ्रामज्ञानाद्धानप्रस्थपरिव्राजकानपि कोपयति किमङ्गपुनर्गृहस्थान् ॥ वार्ता १५ अ० ४ अ० १ अर्थशास्त्र ॥

३—अप्रणीतो हि मात्स्यन्यायमुद्गावयति ॥ वार्ता १६ अ० ४ अ० १ अर्थशास्त्र ॥

४—तस्य नीतिर्दण्डनीतिः ॥ वार्ता २ अ० ४ अ० १ अर्थशास्त्र ॥

५—आन्वीक्षिकीत्रयीवार्तानां योगक्षेमसाधनो दण्डः ॥ वार्ता ४ अ० ४ अ० १ अर्थशास्त्र ॥

६—प्रजा सुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।

नाम प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तुप्रियंहितम् ॥ श्लोक ३६ अ० १ अर्थशास्त्र ॥

सके । इसके अतिरिक्त दण्ड धारण कर उसका प्रजा में सम्पक एवं न्यायपूर्ण प्रयोग करने में साधारण पुरुष सफल नहीं हो सकता । इस प्रकार के कार्यवहन हेतु ऐसे विशिष्ट प्रकार के आचरण करने की परम आवश्यकता होती है जिसके धारण किए बिना वह इस कार्य के सम्पादन के लिए सदैव अयोग्य समझा जाएगा । कौटिल्य ने इस प्रकार के आचरण को आत्मसम्पद् अथवा स्वामिसम्पद् (राजा की सम्पदा) नाम से सम्बोधित किया है ।

स्वामिसम्पद्—प्रजा को आकृष्ट करने वाले, प्रजा सम्बन्धी, उत्साह उत्पन्न करनेवाले आदि गुणों को धारण करना राजा का कर्तव्य बतलाया गया है । उत्तम कुलोत्पन्न, आस्तिक, बलशाली, वृद्धों के द्वारा निर्दिष्ट किए गए पथ पर चलनेवाला, धार्मिक, संत्यवादी, वार्तालाप में विशेष योग्य, कृतज्ञ, उच्च उद्देश्यवाला, महान उत्साह-युक्त, शीघ्र कार्य करने वाला, समर्थ सामन्तों से युक्त, दृढ़-बुद्धि, उत्तम मनुष्यों की सभा में बैठने वाला और शास्त्र-मर्यादा का अभिलाषी—यह राजा के वह गुण हैं जिन से आकृष्ट होकर लोग राजा के समीप जाने को उत्सुक होते हैं ।^१ सुनने की उत्कण्ठा उचित बात या शास्त्र का सुनना, सुनकर उसको ग्रहण करना, ग्रहण करने के उपरान्त, उसको धारण कर लेना, धारण कर लेने के अनन्तर विज्ञान, फिर तर्क-वितर्क और तत्व का ज्ञान लेना—यह बुद्धि के गुण माने गए हैं ।^२ शौर्य, अमर्ष, कार्य में शीघ्रता, दक्षता—यह चार गुण राजा के चार उत्साह गुण माने गए हैं ।^३ अर्थ पूर्ण वचन बोलने में कुशल, प्रगल्भ, भाषण करने में समर्थ, स्मृतिवान, बुद्धि और बल-सम्पन्न, उन्नतचित्त, संयमी, समस्त कलाओं में दीक्षित, समय पर शत्रु पर आक्रमण करने में समर्थ, उपकार और अपकार का बदला देने में समर्थ, लज्जाशील, आपत्ति और प्रकृति के ऊपर अधिकार रखनेवाला, दूरदर्शी, परिणामदर्शी, देश, काल, के अनुसार पुरुषार्थ के करने में प्रधानशक्तियुक्त, सन्धि-विग्रह के रहस्य का ज्ञाता, त्यागी, प्रणालक, शत्रु छिद्रदृष्टा, अपने आकार को गुप्त रखने वाला, दीन पुरुष की हँसी न करने वाला, टेढ़ी भृकुटी से न देखने वाला, काम, क्रोध, लोभ, मोह, चपलता, उपता, छल कपट, आदि दुर्गुणों से रहित, प्रियभाषी, प्रसन्नचित्त सहित उत्तम बोलने में समर्थ, वृद्धों के आचार और उपदेश का ज्ञाता राजा श्रेष्ठ है । इन समस्त गुणों का संग्रह स्वामिसम्पद् अथवा

१—महाकुलीनो दैवबुद्धिः सत्यसम्पन्नो वृद्धदर्शी धार्मिकः सत्यवागविरसंवादकः कृतज्ञः स्थूलज्ञो महोत्साहोऽर्शव्यूहः शस्यसामन्तो लघुद्विरनुत्तरिपको विनयकाम इत्याभिगामिका गुणाः ॥ वार्ता ३ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

२—शुश्रूषाश्रवणप्रदणधारणविज्ञानोदायोदतत्त्वानिनिवेशः प्रज्ञागुणाः ॥ वार्ता ५ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

३—शौर्यमर्षः शीघ्रता दास्य चोत्साह गुणाः ॥ वार्ता ५ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

आत्मसम्पद् कहलाता है ।^१ इसलिए उपर्युक्त गुणों को धारण करना और उनके अनुसार आचरण करना राजा का परम धर्म माना गया है ।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में एक दूसरे प्रसंग में राजा के आचरण सम्बन्धी विशेष गुणों का उल्लेख करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी है—राजा को कामादि पड्वर्ग पर विजय प्राप्त कर इन्द्रिय-जय करना चाहिए ।^२ राजा को विद्या वृद्धों के सहवास से बुद्धि, गुप्तचरों के चक्षु उद्योग से योगक्षेम के साधनों की प्राप्ति, अपने अपने कार्य में प्रजा को लगाकर उनके धर्मों में उनकी स्थिति, विद्या के प्रचार से शिक्षा तथा उचित दानोपहार आदि देकर प्रजा की प्रियता एवं हितकारी कार्यों के द्वारा अपने व्यवहार को चलाते रहना चाहिए ।^३ इस प्रकार जितेन्द्रिय होकर राजा को परस्त्री, परधन और व्यर्थ की हिंसा से बचते रहना चाहिए ।^४ अधिक शयन, लोभ, मिथ्या व्यवहार, उद्धतवेष तथा अनर्थ के अन्य कार्यों का राजा को त्याग कर देना चाहिए ।^५ राजा को अधर्मपूर्ण और अनर्थ उत्पादन करने वाले व्यवहार के पास जाना उचित नहीं है ।^६ धर्म और अर्थ का विरोध कर काम का सेवन नहीं करना चाहिए ।^७ अपने सुख का त्याग नहीं करना चाहिए ।^८ एक दूसरे से बँधे हुए अर्थ, धर्म और काम का समय पर सेवन करना चाहिये ।^९ यदि राजा धर्म, अर्थ और काम इन तीनों में से

१—वाग्मी प्रगल्भः स्मृतिमतिबलवानुदग्रः स्वग्रहः कृतशिल्पोव्यसने दण्डनाय्युप-
कारापकारयोद्देष्टप्रतीकारी हीमानापत्यहृत्प्रोर्विनिशोक्ता दीर्घदूरदर्शी देशकाल-
पुरुषकारकार्यप्रधानः सन्धिविक्रमत्यागसंप्रमण परच्छिद्विभागी संवृतो ऽ
दीनाभिहास्यजिह्वस्त्रकुटीक्षणः कामक्रोधलोभस्तम्भचापलोपतापपैशुन्यहीनः शक्लः
स्मितोदग्राभिभाषी वृद्धोपदेशाचार इत्यात्मसम्पत् ॥

वार्ता ६ अ० १ अधि० ६ अर्थशास्त्र ॥

२—तस्मादरिपड्वर्गस्याग्नेनेन्द्रियजयं कुर्वीत ॥ वार्ता १ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—वृद्धसंयोगेन प्रजां चारेण चक्षुस्थानेन योगक्षेमसाधनं कार्यानुष्ठासनेन
स्वधर्मस्थापनं विनयं विद्योपदेशेन लोकप्रियत्वमर्थसंयोगेन हितेन वृत्तिम् ॥

वार्ता २ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—एवं वश्येन्द्रियः परस्त्रीद्रव्यहिंसाश्च वर्जयेत् ॥

वार्ता ३ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—स्वप्नलौल्यमनृतमुद्धतवेषत्वमर्थसंयोगं च ॥

वार्ता ४ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—अधर्मसंयुक्तं चानर्थसंयुक्तं च व्यवहारम् ॥

वार्ता ५ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—धर्मार्थविरोधेन कामं सेवेत् ॥

वार्ता ६ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—न निः सुखः स्वात् ॥

वार्ता ७ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—समं वा त्रिवर्गमन्योन्यं नुबन्धम् ॥

वार्ता ८ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

किसी एक का दूसरे की अपेक्षा अधिक सेवन करेगा तो राजा अपना अथवा धर्म, अर्थ और काम में से किसी एक का नाश अवश्य कर लेता है ।^१

इस प्रकार राजा को एक महान उच्च आचरणधारी व्यक्ति होना चाहिए जिससे उसकी प्रजा उसकी ओर उंगली न उठा सके ।

राजा की दिनचर्या—राजा के चरित्र की उच्चता पर कौटिल्य ने विशेष महत्त्व दिया है उनका मत है कि जब राजा उदार आचरण से सम्पन्न होता है तो उसके सेवक (राजकर्मचारी) भी उन्नत विचार एवं आचरण के होंगे ।^२ जो राजा प्रमाद करेगा तो उसके सेवक गण (राजकर्मचारी) भी उसी प्रकार प्रमादी हो जायेंगे ।^३ यदि राजा उद्योग भी करेगा तो इस प्रकार के उसके कर्मचारी गण अपने प्रमाद के कारण सर्वनाश कर देंगे ।^४ यहाँ तक कि राजा को प्रमाद-ग्रस्त देखकर यह शत्रु से भी सन्धि कर लेते हैं ।^५ इसलिये राजा को अपनी उन्नति का प्रयत्न सावधानी से अवश्य करना चाहिए ।^६ राजा को अपने दैनिक कार्य का विभाग कर अपने कार्य के अनुसार समय विभाग निश्चित कर निर्धारित कर लेना चाहिये । उसको रात और दिन को आठ घड़ियों में विभाजित कर लेना चाहिए और तदनुसार राज्य के कार्यों का सम्पादन करना चाहिए ।^७ अथवा छाया के घटने बढ़ने के आधार पर कार्य विभाग कर लेना चाहिए ।^८ प्रातः जब तक पुरुष की छाया उसके आकार से तीन गुनी से कम न हो इतने काल को एक भाग, जब तक पुरुष की छाया की लम्बाई पुरुष के आकार के समान रहे यह दूसरा भाग, जब पुरुष के आकार से घटकर छाया केवल चार अंगुल की रह जाए तो इतने काल को तीसरा भाग समझना चाहिए । इसके पश्चात् मध्याह्न काल चतुर्थ भाग समझना चाहिए । इसी प्रकार उलटे क्रम से दिन के उत्तरार्ध के भी भाग बना लेने चाहिये और इस प्रकार दिन के आठ भाग कर लेने चाहिये ।^९

१—एको ह्यत्यासेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमतरो च पीडयति ॥

वार्ता ६ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—राजानमुत्तिष्ठमानमनृत्तिष्ठन्ते भृत्याः ॥ वार्ता १ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—प्रमाद्यन्तमनुप्रमाद्यन्ति ॥ वार्ता २ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—कर्मणि चास्य भक्षयन्ति ॥ वार्ता ३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—द्विषद्भिश्चातिसंधीयते ॥ वार्ता ४ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—तस्मदुत्थानमात्मनः कुर्वीत ॥ वार्ता ५ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—नाडिकाभिरहरथ्या रात्रिं च विभजेत ॥ वार्ता ६ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—छाया प्रमाणेन वा ॥ वार्ता ७ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—त्रिपौरुषी पौरुषी चतुरङ्गुला च छाया मध्याह्न इति पूर्णं दिवसस्याष्टभागाः ॥

वार्ता ८ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

दिन के प्रथम भाग में राजा को प्रजा रक्षण के उपायों पर विचार करना और राज्य का आय-व्यय का श्रवण करना चाहिये ।^१ दिन के दूसरे भाग में उसको राजधानी और राष्ट्र के लोगों के कार्यों का अवलोकन करना चाहिये ।^२ दिन के तीसरे भाग को स्नान, भोजन और स्वाध्याय में लगाना चाहिये ।^३ दिन के चौथे भाग में राजा को सुवर्ण-ग्रहण और अध्यक्षा की नियुक्ति सम्बन्धी कार्यों का अवलोकन करना चाहिए ।^४ दिन के पांचवें भाग में मंत्रिपरिषद् के सदस्यों से, पत्रव्यवहार और गुप्तचरों से गोपनीय विषयों का पता लगाना चाहिए ।^५ दिन के छठे भाग में राजा चाहे तो अपने को विहार में अथवा मंत्रणा के निर्णय करने में संलग्न करना चाहिए ।^६ दिन का सातवां भाग राज्य के हाथी, घोड़ों, रथों और आयुधों के निरीक्षण करने में व्यतीत करना चाहिए ।^७ दिन के अष्टम भाग में सेनापति के साथ बैठकर युद्धयोजनाओं या ऐसे ही विक्रम के कार्यों की योजनाओं पर चिन्तन करना चाहिए ।^८ इस प्रकार सायंकाल हो जाने पर संध्योपासना करनी चाहिए ।^९

रात्रि के भी आठ भाग किये गये हैं जिनका कार्यक्रम इस प्रकार बतलाया गया है—रात्रि के प्रथम भाग में गुप्त पुरुषों से वार्तालाप करना चाहिए ।^{१०} रात्रि के दूसरे भाग में राजा को स्नान, भोजन और स्वाध्याय करना चाहिये ।^{११} तीसरे भाग में तूर्यध्वनि के साथ रनिवास में प्रवेश करना चाहिये और रात्रि का चतुर्थ और

१—तत्र पूर्वे दिवसस्थाष्टभागे रक्षविधानमाध्वयौ च शृणुयात् ॥

वार्ता १० अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—द्वितीये पौरजानपदानां कार्याणि पश्येत् ॥

वार्ता ११ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तृतीये स्नानभोजनं सेवेत ॥

वार्ता १२ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

स्वाध्यायं च कुर्वीत् ॥

वार्ता १३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—चतुर्थे हिरण्यप्रतिग्रहमध्यक्षांश्च कुर्वीत ॥

वार्ता १४ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—पंचमे मंत्रिपरिषदा पत्रसंप्रेषणेन मंत्रयेत् ॥

वार्ता १५ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

चार गुह्य बोधनीयानि च बुद्धयेत् ॥ वार्ता १६ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—पष्टे स्वैरविहारं मंत्रं वा सेवेत ॥ वार्ता १७ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—सप्तमे हस्त्यश्वरथायुधीयान्पश्येत् ॥ वार्ता १८ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—अष्टमे सेनापतिसखो विक्रमं चिन्तयेत् ॥ वार्ता १९ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—प्रतिष्ठितेऽहनि संध्यामुपासीत ॥ वार्ता २० अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१०—प्रथमे रात्रिभागे गूढपुरुषान्पश्येत् ॥ वार्ता २१ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

११—द्वितीये स्नानभोजनं कुर्वीत स्वाध्यायं च ॥ वार्ता २२ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

पंचम भाग सोने में व्यतीत करना चाहिए ।^१ रात्रि के छठे भाग में उसी तूर्यध्वनि के साथ राजा को निद्रा का त्याग कर देना चाहिये और शास्त्रों का अध्ययन कर अपने कर्तव्य का निश्चय करना चाहिये ।^२ रात्रि के सातवें भाग में गुप्त मंत्रणा कर गुप्तचरों को उनके कामों पर नियुक्त कर उनको भेज देने के कार्य का सम्पादन करना चाहिये ।^३ रात्रि के अन्तिम (आठवें) भाग में ऋत्विक्, आचार्य और पुरोहित के साथ स्वस्तिवाचन, पुण्याहवाचन करना चाहिए ।^४ वैद्य, भोजनालय के कार्यकर्त्ताओं और ज्योतिषियों से वात-चीत करके अपने शरीरादि के विषय में विचार करना चाहिये ।^५ प्रातःकाल होने पर वत्सवतीधेनु और वृष की प्रदक्षणा करके राजा को राजसभा में प्रवेश करना चाहिये ।^६

इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने राजा को अपनी सामर्थ्य के अनुसार दिनचर्या बनाने का भी अधिकार दिया है । उनका कथन है कि राजा अपनी शक्ति की अनुकूलता के अनुसार रात-दिन का विभाग कर सकता है और उनमें पृथक्-पृथक् कार्यों का अवलोकन कर सकता है । राजा कार्यक्रम चाहे जिस प्रकार का क्यों न बनाए परन्तु राजा को स्वयं कार्य अवलोकन करना चाहिए और उसके अवलोकन में प्रमाद नहीं करना चाहिए ।^७

राजा के कर्तव्य—आचार्य कौटिल्य राजा के कर्तव्यों को राजा के व्रतों के नाम से सम्बोधित करते हैं । उन्होंने राजा के प्रमुख व्रतों का उल्लेख भी किया है । प्रत्येक प्रकार की उन्नति, यज्ञ, प्रजः द्वारा किए जानेवाले कार्यों की उचित व्यवस्था करना अथवा उनके परस्पर मतभेदों एवं कलह सम्बन्धी विषयों में निर्णय देना, दान देना, सम्पूर्ण प्रजा पर समदृष्टि रखना और उसके सम्पत्ति पालन-पोषण की समुचित व्यवस्था करना, अथवा शत्रु, मित्र और उदासीन की देख-रेख करके तदनुकूल उनसे

१—तृतीये तूर्यधोषेण संविष्टश्चतुर्थपंचमौ शयीत ॥

वार्ता २३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—पण्डे तूर्यधोषेण प्रतिबुद्धः शास्त्रमितिकर्तव्यतां च चिन्तयेत् ॥

वार्ता २४ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—सप्तमे मंत्रमध्यासीत गृहपुरुषांश्च प्रेषयेत् ॥

वार्ता २५ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—अष्टम ऋत्विगाचार्यपुरोहितसखः स्वस्ययनानि प्रतिगृह्णीयात् ॥

वार्ता २६ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—चिकित्सकमाहानसिकमौहूतिकांश्च पश्येत् ॥ वार्ता २७ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—सवत्सां धेनुं वृषभं च प्रदक्षिणीकृत्योपस्थानं गच्छेत् ॥

वार्ता २८ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—आत्मबलानुकूल्येन वा निशाहर्भागान्प्रविभज्य कार्याणि सेवेत ॥

वार्ता २९ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

व्यवहार करना तथा विधिवत दीक्षा प्राप्ति किए हुये व्यक्तियों को राज्य के विभिन्न पदों पर नियुक्त करना आदि राजा के व्रत माने गये हैं।^१ इस प्रकार सार्वजनिक उत्थान, दान, यज्ञ, प्रजा के दैनिक कार्यों पर उचित नियंत्रण एवं राज्य में विभिन्न पदों पर योग्य पुरुषों की नियुक्ति करना राजा के व्रत माने गए हैं।

राजा के कर्तव्यों के विषय में कोटिल्य एक सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं। वह सिद्धान्त यह है कि राजा का प्रत्येक कार्य इस भावना से ओत-प्रोत होना चाहिये कि प्रजा के सुख में ही राजा का सुख और प्रजा के कल्याण में ही राजा का कल्याण होता है। राजा का अपना, व्यक्तिगत, प्रिय एवं कल्याणकारी कोई कार्य पृथक् नहीं होता है। प्रजा-प्रिय और प्रजा-कल्याणकारी कार्य ही राजा का प्रिय और कल्याणकारी कार्य होता है।^२ इस सिद्धान्त को ध्यान में रखकर राजा को नित्य उद्योगशील होकर नीति के अनुसार प्रजा का शासन करना चाहिए। जो राजा नीति के अनुसार आचरण करता है उसकी उन्नति होती है और उसके समस्त विघ्न एवं बाधाएँ दूर भागती रहती हैं।^३

राजा की रक्षा—नृपतन्त्रात्मक राज्यों में राज्य का प्राण राजा होता है। इसलिए प्रत्येक प्रकार के संकट से राजा की रक्षा होनी चाहिए। राजा का जीवन संकट-ग्रस्त होता है। इसलिए राजा के जीवन की रक्षा के निमित्त विशेष सावधानी की आवश्यकता होती है। आचार्य कोटिल्य ने भी राजा की रक्षा पर विशेष महत्त्व दिया है। उन्होंने राजा के जीवन नष्ट करने वाले अथवा राजा के जीवन को संकट-ग्रस्त करने वाले पड़्यों एवं कुचक्रों से उसकी किस प्रकार रक्षा की जा सकती है इस विषय में अनेक सावधानियों एवं उपायों का उल्लेख किया है जिनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जाएगा।

राजभवन में विशेष सावधानी—राजा के जीवन का एक विशेष अंश राजभवन में व्यतीत होता है। इसलिए उन्होंने सबसे प्रथम राजा के जीवन के इस विशेष अंश में आने वाले संकटों के निवारण हेतु कुछ उपाय बतलाए हैं। राजभवन में धनुषधारण करनेवाली स्त्रियाँ होनी चाहिए। प्रातः समय जब राजा निद्रा से जाग कर अपनी शय्या से उठता है उस समय यह धनुषधारिणी स्त्रियाँ राजा के साथ रहें जिससे राजा की रक्षा होती रहे।^४ इस विषय की पुष्टि यूनानी राजदूत मेगस्थनीज़ ने भी की है कि

१—राज्ञो हि व्रतमुत्थानं यज्ञः कार्यानुशासनम् ।

दक्षिणावृत्तिसाम्यं च दीक्षितस्थाभिषेचनम् ॥ श्लोक ३८ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥

२—प्रजामुखे सुखं राज्ञः प्रजानां च हिते हितम् ।

आत्म प्रियं हितं राज्ञः प्रजानां तु प्रियं हितम् ॥ श्लोक ३९ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥

३—तस्मान्नित्योत्थितो राजा कुर्यादर्थानुशासनम् ।

अर्थस्य मूलमुत्थानमनर्थस्य विपर्ययः ॥ श्लोक ४० अ० १६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—शयनादुत्थितः स्त्रीगणैर्धन्विभिः परिगृह्येत ॥

वार्ता १ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

राजा की रक्षा हेतु सशस्त्र स्त्रियां (रनिवास में) नियुक्त थीं । यह स्त्रियाँ उनके माता-पिता से क्रय की गामी होती थी । इसके उपरान्त जब राजा शयनगृह से निकल कर दूसरे कमरे (कक्ष्या) में प्रवेश करता है तो वहाँ कंचुक और पगड़ी पहने हुए राज्य की ओर से नियुक्त नपुंसक और राजभवन के प्रबन्धकों को राजा की रक्षा में तत्पर रहना चाहिए । ^१ तीसरे कमरे (कक्ष्या) में राज्य की ओर से नियुक्त कुबड़े, बीने और किरातों द्वारा राजा की रक्षा की जानी चाहिए । ^२ चौथी कक्ष्या (राजसभा-भवन) में राजा के मंत्रीगण, राजा के सम्बन्धी और द्वारपाल प्रास (barbed missilies) नाम का शस्त्र धारण किए हुए राजा की रक्षा में तत्पर रहें, ^३ राजभवन में रनिवास की रक्षा करनेवाली सेना की व्यवस्था की जानी चाहिए । ^४ राजा को राजभवन में रहने वाली राजमहिषी को अपने कमरे में ही बुलाना चाहिए । राजमहिषी के कमरे में स्वयं नहीं जाना चाहिए । ^५ सम्भव है राजमहिषी के कमरे में छिपा हुआ उसका शत्रु बैठे हो । कौटिल्य ने इस प्रकार के अनेक उदाहरण दिए हैं जिनमें ऐसी घटनाएँ हुई हैं । इस प्रकार राजभवन में राजा के जीवन-रक्षा की व्यवस्था की जानी चाहिए ऐसा कौटिल्य ने आदेश दिया है ।

राजा के आत्मरक्षक (Body guard)—राजा के समीप हर समय कुछ विशेष व्यक्ति रहने चाहिए जिनका एक मात्र कर्तव्य राजा के जीवन की रक्षा करना होता है । यह व्यक्ति किस प्रकार के होने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—पिता-पितामह से जिस वंश के लोग उस राजवंश की सेवा करते आए हैं उस वंश में उत्पन्न हुए पुरुष, राजा के बहुत समीप के सम्बन्ध में अनुवृद्ध, शिक्षित, प्रेमी और सांसारिक जीवन के अनुभव से सम्पन्न पुरुषों को राजा को अपना आत्मरक्षक (जनमासज्जं) नियुक्त करना चाहिए । ^६ राजा के आत्मरक्षकों के पद पर विदेशी को नियुक्त नहीं करना चाहिए और न अपने राज्य के ही उन पुरुषों को यह पद दिया जाना चाहिए जिन्होंने राज्य की कोई विशेष सेवा कर विशेष सत्कार एवं पुरस्कार प्राप्त नहीं

१—द्वितीयस्यां कक्ष्यायां कंचुकोष्णीपिभिर्वर्षवराभ्यामारिक्कैः ॥

वार्ता २ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तृतीयस्यां कुञ्जवामनकिरातैः ॥ वार्ता ३ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—चतुर्थ्यां मंत्रिभिः संबन्धिभिर्दोवारिक्कैश्च प्रासपाणिभिः ॥

॥ वार्ता ४ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—कक्ष्यांतरेष्वन्तर्वंशिकसैन्यं तिष्ठेत् ॥ वार्ता २० अ० २० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—न कांचिदभिगच्छेत् ॥ वार्ता २२ अ० २० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—पितृपैतामहं महासम्बन्धानुबन्धं शिद्धातमनुरक्तं कृतकमाणां जनमासज्जं कुर्वीत ॥

वार्ता ५ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

किए हैं अथवा जिनके द्वारा किसी प्रकार का भी राज्य का अपकार हुआ है ।^१ इस कोटि के पुरुषों को राजा के आत्मरक्षकों अथवा राजा के अन्तःपुर के रक्षकों के पद पर नियुक्त किया जाए इसका निषेध कौटिल्य ने किया है ।^२ कौटिल्य का मत है कि जब कभी राजा किसी यात्रा, सभा, उत्सव अथवा प्रवहण में जाए तो उसकी रक्षा में कम से कम दस रक्षक अवश्य होने चाहिए ।^३

राजा के भोजन में विशेष सावधानी—राजा का भोजन प्रत्येक प्रकार से सुरक्षित स्थान पर बनना चाहिए । राजा के मुख्य रसोयिए की देख रेख में राजा के निमित्त स्वादिष्ट भोजन इस स्थान पर तैयार करना चाहिए ।^४ जिस भोजन को राजा खाने जा रहा है उसमें से कुछ अंश की बलि, अग्नि और पक्षियों के निमित्त प्रदान करनी चाहिए ।^५ यदि राजा के भोजन में विष मिलाया गया है तो अग्नि में नीली लपट और नीला धुआँ निकलेगा और अग्नि में चट-चट शब्द होता है^६ । विष-युक्त अन्न शीघ्र ठण्डा हो जाता है और उसके तोड़ने पर वह एक विशेष रङ्ग का हो जाता है ।

किसी किसी विष के संयोग से भोजन में पानी छुट जाता है और किसी-किसी विष से भोजन बहुत शुष्क बन जाता है ।^७ दाल-शाक में विष हो तो वह शीघ्र शुष्क हो जाते हैं । वह क्वाथ की भाँति दिखलायी पड़ते हैं । किसी साग का रंग काला, किसी में झाग और किसी का आकार विकृत दिखलाई पड़ने लगता है । इस प्रकार उसके गन्ध, स्पर्श और रस में भी अन्तर पड़ जाता है ।^८ रसीले शाक के रस में पुरुष की

१—नान्यतोदेशीयमकृतार्थमानं स्वदेशीयं वाग्रपक्वस्योपगृहीतम् ॥

वार्ता ६ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अन्तर्वंशिरुसैन्यं राजानमन्तः पुरं च रक्षेत् ॥

वार्ता ७ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—यात्रासमाजोत्सवप्रवहणानि दशवर्गिकाधिष्ठातानि गच्छेत् ॥

वार्ता ४६ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—गुप्ते देशे माहानसिकः सर्वमास्वादवाहुल्येन कर्तव्येत् ॥

वार्ता ८ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—तद्राजा तथैव प्रतिभुंजीत पूर्वमग्नये वयोभ्यश्च बलिं कृत्वा ॥

वार्ता ९ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—अग्नेर्ज्वालाधूमनीलता शब्दस्फोटनं च विषयुक्तस्य वपसां विपत्तिश्च ॥

वार्ता १० अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—अन्नस्योष्मा मयूरघ्रीवाभः शैत्यमाशुक्लिष्टस्यैव वैवर्ण्यं सोदकत्वमबिलन्नत्वं च ॥

वार्ता ११ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—व्यंजनानामाशुशुष्कत्वं च क्वाथश्याम केनपटलविच्छिन्नभावो गन्धस्पर्शरसव-
धश्च ॥

वार्ता १२ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

छाया का आकार दूसरे ढंग का दिखलाई पड़ने लगता है^१ । उसमें झाग उठने लगता है, पानी अलग और शाक अलग हो जाता है अथवा उसके ऊपर रेखा सी दिखलायी पड़ने लगती है।^२ विषयुक्त खाद्य पदार्थों के लक्षण बतलाते हुए कौटिल्य कहते हैं शाकादि के रस में विष होने पर उसमें नीली पंक्ति देख पड़ती है, दूध में लाल, मद्य और जल में काली, दही में श्याम और मधु में श्वेत धारी दिखायी पड़ती हैं।^३ तरल पदार्थों में विष होने पर वह शीघ्र ही बासे दिखायी देने लगेंगे अथवा सड़ से जाएंगे। यदि उनको पकाया जाएगा तो वह अच्छी तरह नहीं पकेंगे और उनका रस नीला और काला सा दिखलायी पड़ेगा।^४ शुष्क पदार्थों में विष होने से वह शीघ्र कट जाएंगे और उनका रङ्ग बदल जाएगा।^५ कठोर पदार्थ मृदु और मृदुल पदार्थ कठोर हो जाते हैं।^६ विषयुक्त पदार्थों के समीप आए हुए छुद्र जीव मृत्यु को प्राप्त हो जाते हैं।^७

इस प्रकार विष युक्त भोजन एवं तत्सम्बन्धी अन्य पदार्थों के लक्षणों का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि राजा को इन लक्षणों के आधार पर विषयुक्त भोजन से अपनी रक्षा करनी चाहिए।

विषयुक्त वस्त्रों एवं अन्य उपयोग करने वाली सामग्री से सावधानी— राजा को विषयुक्त वस्त्रों के प्रयोग से भी बचते रहना चाहिए। बिछाने और ओढ़ने के जिन वस्त्रों में विष का प्रयोग किया गया है उन में काले धब्बे पड़ जाते हैं, अथवा उनके तन्तु और रोम कट जाते हैं।^८ धातु और मणियों के पात्रों में विष का सम्पर्क होते ही वह कीचड़ में लिपटे हुए दिखायी पड़ने लगते हैं।^९ इसी प्रकार विष के संयोग करने से पदार्थों की चिकनायी, रंगत, उन का प्रभाव, वर्ण और स्पर्श सब नष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार कौटिल्य ने विषयुक्त पदार्थों के विशेष लक्षण बतलाए हैं।^{१०}

१—द्रव्येषु हीनातिरिक्च्छायादर्शनम् ॥ वार्ता १३ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—फेनपटलसीमान्तोर्ध्वराजीदर्शनं च ॥ वार्ता १४ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

३—रसस्य मध्ये नीला राजी पयसस्ताम्रा मद्योययोः

काली दध्नः श्यामा च मधुनः श्वेता ॥ वार्ता १५ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

४—द्रव्याणामाद्राणामाशुग्रस्नानत्वमुत्पक्कभावः काथनीलश्यामता च ॥

वार्ता १६ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—शुष्काणामाशुशातनं वैवर्ण्यं च ॥ वार्ता १७ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—कठिनानां मृदुत्वं मृदूनां कठिनत्वं च ॥ वार्ता १८ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

७—तदभ्याशे क्षुद्र सत्त्ववधश्च ॥ वार्ता १९ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—आस्तरणप्रावरणानां श्याममण्डलता तन्तुरोमपद्मशातनं च ॥

वार्ता २० अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

९—लोहमणिमयानां पङ्कमलोपदेहता ॥ वार्ता २१ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

१०—स्नेहरागौर्वप्रभाववर्णस्पर्शवधश्चेति विषयुक्तलिङ्गानि ॥

वार्ता २२ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

विष देने वाले पुरुष की पहचान—विष देने वाले पुरुष के मुख की कान्ति नष्ट हो जाती है। उसके मुख पर सूखापन और कालिमा छा जाती है। उस की वाणी रुक-रुक कर निकलती है। उसको पसीना, जँभाई और अधिक कप-कपी सी आती रहती है, बार-बार गति भंग होती है, बाहर की ओर टक-टकी बाँधे रहता है। उसको बहुत घबराहट रहती है और वह अपने काम एवं स्थान पर स्थिर नहीं रहता।^१

विष से उपचार करने के लिए वैद्यों की नियुक्ति—विष की परख में चतुर वैद्यों को राजा को सदैव अपने समीप रखना चाहिए।^२ वैद्यों को भी औषधालय (भैषज्यागार) में चख-चख कर निर्माण की गयी औषधियों को मँगा कर उन के पकाने, पीसने वाले पुरुष और स्वयं भी राजा के सम्मुख चख कर तब राजा को देना चाहिए।^३ इसी प्रकार पीने योग्य तरल पदार्थों का पान कर राजा को अर्पण करना चाहिए।^४

क्षौर स्नान-शृंगार आदि में सावधानी—क्षौर बनाने वाले अथवा स्नान कराने वाले या शृंगार कराने वाले पुरुषों को प्रथम स्वयं स्नान करके शुद्ध वस्त्र धारण किए हुए होना चाहिए। उनको मुद्रा से अंकित वस्त्र, उरतरे, शृंगार की सामग्री आदि राजभवन में रहनेवाले सेवकों से प्राप्त कर राजा की सेवा में लगाना चाहिए।^५ स्नान कराने, पैर दबाने, शय्या तैयार करने, कपड़े धोने तथा माला बनाने आदि का कार्य दासियों से कराना चाहिए।^६ यदि दासी इन कार्यों के करने में समर्थ न हों तो यह कार्य शिल्पियों से लिया जाना चाहिए।^७ परन्तु वस्त्र, माला आदि उपकरण का दासियों को भली भाँति निरीक्षण कर राजा को अर्पण करना चाहिए।^८ स्नान के उपयोगी उबटन, चन्दन, सुगन्धित द्रव्य आदि वस्तुओं को दासियों को प्रथम अपनी

१—विषप्रदस्य तु शुष्कश्याववक्त्रता वाक् सङ्गः स्वेदो विजृम्भणं चातिमात्रं वेपथुः

प्रस्खलनं बाह्य विप्रेक्षाणमावेगः स्वकर्मणि स्वभूमौ चानवस्थानमिति ॥

वार्ता २३ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तस्मादस्य जाङ्गलीविदो भिषजश्चासन्नाः स्युः ॥

वार्ता २४ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

३—भिषग्भैषज्यागारादास्वाद विशुद्धमौषधं गृहीत्वा पाचकपोषकाभ्यामात्मना च प्रीतस्वाद्यराजं प्रयच्छेत् ॥

वार्ता २५ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

४—पानं पानोयं चौषधेन व्याख्यातम् ॥ वार्ता २६ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

५—कल्पक प्रसाधकाः स्नान शुद्धवस्त्रहस्ताः समुद्रमुपकरणमन्तर्वशिकहस्तादादाय परिचरेयुः ॥

वार्ता २७ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

६—स्नापकसंवाहकास्तरकरजकमालाकारकमं दास्यः कुर्युः ॥

वार्ता २८ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

७—ताभिरधिष्ठिता वा शिल्पिनः ।

वार्ता २९ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

८—आत्मक्षुषि निवेश्य वस्त्रमाल्यं दद्युः ॥ वार्ता ३० अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

छाती और भुजाओं पर लगाना चाहिए ।^१ इस प्रकार बाहर से आने वाले पदार्थों की परीक्षा कर लेनी चाहिए ।^२

कुछ और सावधानियां—कौटिल्य के मतानुसार शस्त्र, अग्नि और विष के व्यवहार के खेल राजा को नट-नर्तकों आदि के द्वारा न दिखाए जाएं ।^३ इन नट नर्तकों आदि के वाजे भी राजा के अन्तः पुर में ही रहने चाहिए । राजा के उपयोग में आनेवाले रथ, अश्व, हाथी और अलङ्कार आदि भी राजा के भवन में ही रहने चाहिए ।^४ विश्वासी पुरुष के चढ़ने पर ही राजा को पालकी आदि यान और अश्व आदि वाहन पर चढ़ना चाहिए ।^५ नाव पर भी आप्त नाविक के साथ ही राजा को सवारी करनी चाहिए ।^६ किसी दूसरी नाव से बँधी हुई नाव या वायु के वेग से गमनागमनवाली नाव पर राजा को चढ़ना नहीं चाहिए ।^७ नौका की सवारी के समय सेना तट पर स्थित रहनी चाहिए ।^८ मगर, ग्राह आदि हिंसक जलजन्तुओं से रहित जल में ही राजा को प्रवेश करना चाहिए ।^९ हाथी और ग्राह आदि से रहित उद्यान में राजा को भ्रमण हेतु प्रवेश करना चाहिए ।^{१०} कुतो रखने वाले शिकारियों के साथ घोर, सिंह, शत्रु आदि के भय से रहित वनवासी जन्तुओं से सम्पन्न वन में चंचल लक्ष्य के बेधने के निमित्त राजा को मृगया हेतु गमन करना चाहिए ।^{११}

शस्त्रधारी आप्त पुरुषों के साथ ही राजा किसी तपस्वी से मिल सकता है ।^{१२}

१—स्तानानुलेपन प्रधर्षचूर्णवासस्नानीयानि स्ववक्षोबाहुपुच ॥

वार्ता ३१ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—एतेन परस्मादागतं च व्याख्यातम् ॥ वार्ता ३२ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

३—कुशीलवाः शस्त्राग्निरसर्वजं नमंयेयुः ॥ वार्ता ३३ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—आतोद्यानि चैषामन्तस्तिष्ठेयुरश्वरथद्विपालंकाराश्च ॥

वार्ता ३४ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—मौलपुरुषाधिष्ठितं यानवाहनमारोहेत् ॥

वार्ता ३५ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—नावं चाप्तनाविकाधिष्ठिताम् ॥ वार्ता ३६ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—अन्यनौप्रतिवद्धां वातवेगवशां च नोपेयात् ॥

वार्ता ३७ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—उदाकान्ते सैन्यमासीत

वार्ता ३८ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—मत्स्यग्राहविशुद्धमवाहेत्

॥ वार्ता ३९ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१०—ग्यालग्राहपरिशुद्धमुद्यानं गच्छेत् ॥ वार्ता ४० अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

११—लुब्धकैः श्वगणिभिरपास्तस्तेन ग्यालपराबाधभयं च जलचापरिचर्यायं मृगरण्यं

गच्छेत् ॥

वार्ता ४१ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१२—आप्तशस्त्रग्राहाधिष्ठितः सिद्धतापसं पश्येत् ॥

वार्ता ४२ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

मंत्रियों से घिरे होने पर राजा को दूसरे राज्यों के राजदूतों से भेट करनी उचित है। स्वयं कवच पहन कर और शस्त्रों से सुसज्जित होकर अश्व, हाथी अथवा रथ पर आरूढ़ होकर सेना का निरीक्षण करना चाहिए।^१ राजधानी से किसी अन्य स्थान को जाने अथवा वहां से आने के समय राजमार्ग के दोनों ओर दण्डधारी पुरुष पंक्तिबद्ध खड़े रहें और मार्ग की रक्षा करते रहें। यह मार्ग शस्त्रधारी सन्यासी अथवा लंगड़े लूले पुरुषों से रहित होने चाहिए।^२ पुरुषों की भीड़ में राजा को कभी गमन नहीं करना चाहिए।^३ जिस प्रकार गूढ़ प्रयोगों का राजा शत्रु पर प्रयोग करता है उसी प्रकार शत्रु के गूढ़ प्रयोगों से राजा को अपनी रक्षा करते रहना चाहिए।^४

इस प्रकार राजा की आत्मरक्षा के निमित्त विशेष सचेत एवं सावधान रहने के लिए कौटिल्य ने अनेक व्यवस्थाएं दी हैं।

राज्य के उत्तराधिकार के नियम—राज्य के उत्तराधिकार के प्रश्न पर कौटिल्य का मत है कि सामान्य रीति से राज्य का अधिकार शासन करने वाले राजा के ज्येष्ठ पुत्र को ही मिलना चाहिए।^५ परन्तु राजा के ज्येष्ठ पुत्र का यह अधिकार तभी तक वैध माना गया है जब तक कि उसमें राजोचित गुण पाए जाते हैं। इन योग्यताओं से रहित होने पर राजा के ज्येष्ठ पुत्र को अपने पिता के सिंहासन के अधिकार से वंचित कर दिया जाना चाहिए।^६ इसी सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने दूसरे प्रसंग में एक स्थल पर अर्थशास्त्र में अपना मत प्रकट करते हुए इस प्रकार लिखा है—राजा की मृत्यु हो जाने पर जो राजकुमार उत्तम गुणों से सम्पन्न हो उसको ही श्वेत राजपद देना चाहिए।^७ कौटिल्य राजकुमार के राजोचित गुणों पर बहुत बड़ा महत्त्व देते हैं। वह इस विषय में स्पष्ट व्यवस्था देते हैं—यदि राजकुमार राजाओं के

१—मंत्रिपरिषदा सामन्तदूतं सन्नद्धोऽश्वं हस्तिनं रथं वारूढः सन्नद्धमनीकं गच्छेत् ॥

वार्ता ४३ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—निर्याणोऽभियाने च राजमार्गमुभयतः कृतारचां दण्डिभिरपास्तशस्त्रहस्त

प्रव्रजितवृष्णं गच्छेत् ॥

वार्ता ४४ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—न पुरुषसंवाधमवगाहेत् ॥

वार्ता ४५ अ० २१ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—यथा च योगपुरुषैरन्यान् राजाधितिष्ठति ।

तथायमन्यबाधेभ्यो रक्षेदात्मानमात्मवान् ॥ श्लो० ४७ अ० २१ अधि० १ अर्थ० ॥

५—अन्यत्रापद एश्वर्यं ज्येष्ठभागि तु पूज्यते ॥ श्लोक ५४ अ० १७ अधि० १ अर्थ० ॥

६—न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत् ॥ वार्ता ५३ अ० १७ अधि० १ अर्थ० ॥

७—राजपुत्रमात्मसंपन्नं राज्ये स्थापयेत् ॥ वार्ता ३८ अ० ६ अधि० ५ अर्थ० ॥

लिए जो निर्धारित गुण हैं उनसे सम्पन्न है तो उस राजकुमार को सेनापति अथवा युवराजपद पर नियुक्त कर देना चाहिए ।^१

कौटिल्य ने इस दृष्टि से राजकुमारों को तीन कोटि में परिगणित किया है । वह हैं बुद्धिमान, आहार्यबुद्धि और दुर्बुद्धि ।^२ जो राजकुमार सिखाने से धर्म और अर्थ की शिक्षा को ठीक-ठीक ग्रहण कर लेता है और उसका आचरण भी उचित ही करता है ऐसा राजकुमार बुद्धिमान कहलाता है ।^३ जो धर्म और अर्थ को समझ तो लेता है परन्तु तदनुसार आचरण नहीं करता है वह आहार्यबुद्धि राजकुमार कहलाता है ।^४ जो राजकुमार नित्य विपत्ति लाने के उपाय सोचा करता है और धर्म तथा अर्थ के विरुद्ध आचरण करता है वह दुर्बुद्धि होता है ।^५ इन तीनों प्रकार के राजकुमारों में सर्व प्रथम बुद्धिमान को राजपद दिया जाना चाहिए । उसके अभाव में आहार्य बुद्धि राजकुमार को, परन्तु दुर्बुद्धि राजकुमार को राजपद कभी नहीं मिलना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है । वह स्पष्ट लिखते हैं—यदि राजा के दुर्बुद्धि पुत्र ही हो तो ऐसी दशा में उसको राज्याधिकारी न समझकर उससे पुत्र उत्पन्न कराने का प्रयत्न करना चाहिए ।^६ इस प्रकार उत्पन्न हुए राजा के पौत्र को राज्याधिकार मिलना चाहिए । यदि पुत्र के पुत्र उत्पन्न न हो तो अपनी पुत्री के पुत्र को योग्य बनाकर उस को राज्य का अधिकार दे देना चाहिए ।^७ इस प्रकार कौटिल्य गुणवान पुत्र को ही राजपद का अधिकारी मानते हैं । ऐसे पुत्र अथवा पौत्र के अभाव में पुत्री के पुत्र को राज्याधिकार प्राप्त है—ऐसा कौटिल्य का मत है ।

राजा के पुत्र अथवा पौत्र या पुत्री का पुत्र नहीं है ऐसी परिस्थिति में कौटिल्य राजसिंहासन पर समस्त राजवंश की पंचायत (Regency) का अधिकार स्वीकार करते हैं । कुल समूह का शत्रु द्वारा जीता जाना बड़ा कठिन होता है । इस प्रकार के राज्य में किसी प्रकार की बाधा नहीं आने पती और राज्य-व्यवस्था उचित रीति से चलती रहती है—ऐसा कौटिल्य का मत है ।^८

१—आत्मसम्पन्नं सेनापत्ये यौवराज्ये वा स्थापयेत् ॥

वार्ता ४२ अ० १७ अधि० १ अर्थ० ॥

२—बुद्धिमानाहार्यबुद्धिर्दुर्बुद्धिरिति पुत्रविशेषाः ॥वार्ता ४६अ० १७अधि० १अर्थ० ॥

३—शिष्यमाणो धर्माथर्वुपलभते चानुतिष्ठति च बुद्धिमान् ॥

वार्ता ४७ अ० १७ अधि० १ अर्थ० ॥

४—उपलभमानो नानु तिष्ठत्याहार्यबुद्धिः ॥ वार्ता ४८ अ० १७ अधि० १ अर्थ० ॥

५—अपायनित्यो धर्माथर्वेपी चेति दुर्बुद्धिः ॥ वार्ता ४९अ० १७अधि० १ अर्थ० ॥

६—स यद्येकपुत्रः पुत्रोपत्पत्तावस्य प्रयतेत ॥वार्ता ५०अ० १७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—पुत्रिका पुत्रानुत्पादयेद्वा ॥ वार्ता ५१ अ० १७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—कुलस्य वा भवेद्राज्यं कुलसङ्घो हि दुर्जयः ।

अराज्यसनाबाधः शश्वदावसति चितिम् ॥श्लोक ५५अ० १७अधि० १अर्थशास्त्र ॥

कौटिल्य ने राजकन्या और गर्भिणी राजमहिषी को भी राजपद का अधिकारी माना है। राजा की मृत्यु हो जाने पर राजकुमार, राजकुमार का पुत्र, राजकन्या के पुत्र आदि के अभाव में राज-कन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी को राजपद पर नियुक्त करने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।^१

कौटिल्य वंश की कुलीनता पर अधिक महत्त्व देते हैं। उनके मतानुसार राजा का वह पुत्र जो राजा की जाति की स्त्री में उत्पन्न नहीं हुआ है सत्य अर्थ में राजा की सन्तान नहीं है। ऐसे पुत्र को वह राज्य का अधिकारी नहीं मानते।^२ कुलीन पुत्र चाहे मूर्ख ही क्यों न हो उसका अधिकार राज्य पर माना गया है। कुल-विहीन बुद्धिमान पुत्र मंत्रणा का अधिकारी नहीं माना गया है।^३ परन्तु इसका अर्थ यह कदापि न समझना चाहिए कि कौटिल्य मूर्ख पुत्र को राजपद देने के पक्षपाती थे। उन्होंने यह स्पष्ट कहा है कि अविनीत राजकुमार को राजपद कभी भी देना नहीं चाहिए।^४

इस प्रकार कौटिल्य राजा के ज्येष्ठ एवं श्रेष्ठ पुत्र को सर्व प्रथम राज्य का अधिकारी मानते हैं। ऐसे पुत्र के अभाव में उसके अन्य राजकुमारों में योग्य राजकुमार को अधिकार मिलना चाहिए। उसके अभाव में राजकुमार के योग्य पुत्र अथवा राजा की पुत्री के योग्य पुत्र को राजपद प्राप्ति का अधिकार होगा। इनके अभाव में राजकन्या अथवा गर्भिणी राजमहिषी का अधिकार माना गया है। यदि इनका भी अभाव हो तो राजकुल की पंचायत को राजपद सौंपा जाना चाहिए। राजा का अकुलीन पुत्र चाहे जितना योग्य क्यों न हो राज्य का अधिकारी नहीं माना गया है। उसको मंत्राधिकारी बतलाया गया है।

१—कुमारं राजकन्यां गर्भिणीं देवीं वाधिकुर्वीत ॥

वार्ता ४६ अ० ६ अधि० ५ अर्थशास्त्र ॥

२—जात्यादजात्यो हि लुप्तदायादसंतानत्वादाधातुं श्रेयान् ॥

वार्ता २२ अ० १७ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

३—जात्यप्राज्ञप्रोजात्यमप्राज्ञमैश्वर्यप्रकृतिरनुवर्त्तते ॥ प्राज्ञमजात्यं मंत्राधिकाराः ॥

वार्ता २७, २८ अ० १७ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

४—न चैकपुत्रमविनीतं राज्ये स्थापयेत् ॥ वार्ता २३ अ० १७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

चतुर्थ अध्याय

मंत्रिपरिषद्

मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता—मंत्रिपरिषद् राजा के लिए अनिवार्य संस्था मानी गयी है। मंत्रिपरिषद् राजा के लिए अनिवार्य संस्था है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करने के लिए कौटिल्य यह हेतु देते हैं—राज्य एक रथ है जिसमें राजा और सचिव दो चक्र हैं। इसलिए राज्य के विधिवत संचालन हेतु राजा को सचिव रखना अनिवार्य है। जिस प्रकार रथ एक ही चक्र के आश्रय गमन नहीं कर सकता उसको गमन करने के लिए दूसरे चक्र का आश्रय लेना होगा इसी प्रकार राज्य को विधिवत संचालित करने के लिए सचिव रूपी दूसरे चक्र की आवश्यकता होगी।^१ इसी प्रसंग में राजा के लिए अमात्यों के रखने की आवश्यकता बतलाते हुए कौटिल्य ने दूसरा हेतु भी दिया है और वह इस प्रकार है—अमात्य विपत्ति से राजा की रक्षा करते हैं।^२ अमात्य गण समय विभाग रूपी चाबुक से प्रमाद-ग्रस्त राजा को सावधान किया करते हैं।^३ इन शब्दों में कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता प्रमाणित की है।

इन हेतुओं के अतिरिक्त मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता का एक और कारण कौटिल्य द्वारा बतलाया गया है और जिस को मंत्रिपरिषद् के निर्माण का एकमात्र आधार माना गया है। वह है राज्य के विधिवत संचालन हेतु सद्मंत्रणा का प्राप्त करना। राज्य का मूल मंत्र माना गया है। इसी सिद्धान्त में अटूट आस्था रखते हुए महात्मा भीष्म ने यह स्पष्ट कहा है कि राज्य का मूल राजा के मंत्रियों की सद्मंत्रणा ही होती है।^४ मंत्रणा के महत्त्व को स्वीकार करते हुए कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—समस्त कार्यों का प्रारम्भ (तद्विषयक) मंत्रणा कर लेने के उपरान्त ही होना चाहिए।^५ मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता बतलाते हुए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में आचार्य विशालाक्ष का मत दिया गया है जो इस प्रकार है—राजा को अकेले

१—सहायसाध्यं राजत्वं चक्रमेकं न वर्तते ।

कुर्वीत सचिवांस्तस्मात्तेषांच शृणुयान्मतम् । श्लोक १२ अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

२—य एनमपाप्रस्थानेश्वोवारयेयुः ॥ श्लोक १३ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—छायानालिकाप्रतोदेन वा रहसि प्रमाद्यन्तमभितुदेयुः ॥

श्लोक १४ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राज्ञो राष्ट्रं विवर्धते ॥ श्लोक ४८ अ० ८३ शान्तिपर्व ॥

५—मंत्रपूर्वाः सर्वा रम्भाः ॥ वार्ता २ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

ही विचार करने से मंत्रसिद्धि नहीं हो सकती ।^१ अज्ञात विषय का ज्ञान लेना, ज्ञात विषय का निश्चय करना, निश्चित विषय को दृढ़ बनाना, मतभेद में संशय न रहने देना, एक अंग का ज्ञान होने पर उसके अवशेष अंगों का ज्ञान प्राप्त करना आदि मंत्रियों का ही कार्य होता है ।^२ इसलिए राजा को विशेष बुद्धिमान पुरुषों के साथ मंत्रणा अवश्य करनी चाहिए ।^३

इस प्रकार कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् की आवश्यकता को सिद्ध किया है ।

मंत्रगोपन—अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने मंत्रगुप्त रहना चाहिए इस विषय पर बड़ा महत्व दिया है । कौटिल्य का मत है कि जब तक कार्य प्रारम्भ न कर दिया जाए मंत्र गुप्त रखना चाहिए । केवल आवश्यकता पड़ने पर राजा द्वारा मंत्र प्रकाशित होना चाहिए इसके अतिरिक्त अन्य अवसरों पर मंत्र को युक्ति पूर्वक गुप्त रखना चाहिए । अपने इस सिद्धान्त की स्थापना हेतु वह कछुए का उदाहरण देते हुए कहते हैं कि जिस प्रकार कछुआ अपने अंगों को गुप्त रखता है और केवल आवश्यकता पड़ने पर उनको प्रकट करता है इसी युक्ति के अनुसार राजा को मंत्रगोपन अथवा प्रकाशन करना उचित होगा ।^४ मंत्र का फूट जाना राजा और मंत्राधिकारी पुरुषों दोनों के कल्याण का घातक होता है ।^५ इसलिए मंत्ररक्षा (मंत्रगोपन) का विशेष रूप से प्रयत्न करना चाहिए ।^६ इसीलिए कौटिल्य ने मंत्रगोपन हेतु विशेष प्रकार से सावधान रहने का आदेश दिया है । मंत्रगोपन हेतु कौटिल्य ने कई उपाय अथवा साधन बतलाए हैं । इनमें एक साधन अथवा उपाय यह भी बतलाया गया है कि मंत्रणा का स्थान इस दृष्टि से अत्यन्त सुरक्षित होना चाहिए । वह इतना सुरक्षित होना चाहिए कि उस स्थान से किसी प्रकार भी मंत्रभेद न होने पाए । इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—मंत्रणा का स्थान इतना सुरक्षित होना चाहिए कि मंत्रणा के विषय में की गयी बात-चीत कोई अन्य व्यक्ति सुन न सके । यहां तक कि पक्षी भी उस स्थान पर अपना पंख मारने में समर्थ न हो सकें ।^७ ऐसा सुना

१—नैकस्य मंत्रसिद्धिरस्तीति विशालाक्षाः ॥वार्ता २० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानमर्थद्वैधस्य संशयच्छेदनमेकदेशदृष्टस्य शेषोपलब्धिरिति मंत्रिसाध्यमेतत् ॥

वार्ता २२ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तस्मात्बुद्धिवृद्धैः साधमसीत मंत्रम् ॥ वार्ता २३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—गृहेत्कर्म इवाङ्गानि यस्याद्विवृतमात्मनः ॥श्लोक ६२ १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—मंत्रभदो ह्ययोगक्षेमकरो राजस्तदा युक्तपुरुषाणां च ॥

वार्ता १४ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—तस्माद्रक्षेममंत्रम् ॥

वार्ता १३ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—तदुद्देशः संवृतः कथानामनिश्चयी पक्षिभिरप्यनालोक्यः स्यात् ॥

वार्ता ३ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

जाता है कि तोता और मैना ने किसी राजा की मंत्रणा सुन ली और उन्होंने मंत्रणा के रहस्य को खोल दिया । कहीं कुत्तों की चेष्टाओं से मंत्र प्रकाशित हो गया, और कहीं पर अन्य तिरियञ्चों (पशु-पक्षियों) ने इसी प्रकार किसी राजा की मंत्रणा प्रकाशित कर दी ।^१ राजा को इस प्रकार का आदेश प्रचारित कर देना चाहिए कि मंत्रणा करने के स्थान पर कोई भी व्यक्ति बिना राजा की आज्ञा प्राप्त किए हुए न आ-जासके ।^२ मंत्र-भेदी का राजा को मूलोच्छेद कर देना चाहिए ।^३

मंत्रगुप्ति का दूसरा उपाय अथवा साधन यह बतलाया गया है कि राजा एवं उसके मंत्राधिकारीगणों को मंत्रगण के प्रभाव के कारण शरीर में जो विकार उत्पन्न होने के चिन्ह प्रकट होने लगते हैं उनको बड़ी चतुराई से छिपाए रखना चाहिए । विशेषज्ञ लोग शारीरिक विकारों से हृदय के भावों को जान लेने में समर्थ हो जाते हैं और इस प्रकार ऐसे व्यक्तियों द्वारा मंत्र के प्रकाशित हो जानें की बहुत कुछ सम्भावना रहती है । इसीलिए कौटिल्य ने इस विषय में यह व्यवस्था दी है — राजा को (मंत्र-रक्षा हेतु) अपने इंगित^४ अथवा आकार^५ को गुप्त रखना चाहिए और जब तक मंत्रणा को रचनात्मक रूप में परिणत किए जाने का समय उपस्थित न हो जाए तब तक अपने इंगित-आकार को ही नहीं अपितु इस मंत्रणा के कार्य में सम्मिलित हुए पुरुषों की सावधानी से रक्षा करते रहना चाहिए ।^६

मंत्र-गोपन करने का तीसरा साधन मंत्राधिकारियों को उनकी असावधानियों से रक्षा करना बतलाया गया है । मनुष्य मद्यपान कर उसके प्रभाव के कारण अनर्गल बातें बकने लगता है । इसलिए मंत्राधिकारियों को मद्यपान से दूर रखना चाहिए । अन्यथा वह मद्य के प्रभाव में आकर अनर्गल बातें बकते हुए अज्ञानता वश मंत्र का भी प्रकाशन कर सकते हैं । मनुष्य कभी कभी सोते हुए बड़-बड़ाने लगता है और ऐसी दशा में उससे अज्ञानतावश गोपनीय विषयों का रहस्य प्रकट हो सकता है । इसलिये मंत्राधिकारी पुरुषों को एकान्त में सोना चाहिए जहां कोई दूसरा व्यक्ति न हो । इसी प्रकार कामासक्त पुरुष से भी मंत्रगोपन कार्य नहीं सध पाता । इसलिए मंत्राधिकारी पुरुषों को इस दुर्गुण से भी दूर रखने की आवश्यकता है । जो पुरुष अभिमानी होता है वह अभिमान के वश में होकर उचित अथवा अनुचित सभी प्रकार

१ — श्रूयते हि शुक्रशारिकाभिर्मन्त्रोभिन्नः श्वभिरन्यैश्च तिर्यग्गोनिभिः ॥

वार्ता ४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२ — तस्मान्मन्त्रोद्देशमनायुक्तो नोपगच्छेत् ॥ वार्ता ५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३ — उच्छिद्येत् मंत्रभेदी ॥ वार्ता ६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४ — इंगितमन्यथावृत्तिः ॥ वार्ता ८ क० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५ — आकृतिग्रहणमाकारः ॥ वार्ता ९ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६ — तस्य संवरणमायुक्तपुरुषरक्षणमाकार्यकालादिति ॥

वार्ता १० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

की अनावश्यक बातें कह डालता है। इसलिये मंत्राधिकारियों की रक्षा इस दुर्गुण से भी करनी चाहिए। मनुष्य अपमानित किये जाने पर भी रहस्य खोल देता है इसलिये मंत्राधिकारियों को तिरस्कार से रक्षित रखने का उपाय करना चाहिये। इस प्रकार राजा को मंत्रगुप्ति के लिए इन समस्त दुर्गुणों से मंत्राधिकारियों की रक्षा करते रहना चाहिये।^१

मंत्र-रक्षा के निमित्त कौटिल्य ने एक और विशेष सावधानी की आवश्यकता बतलायी है। यह सावधानी यह है कि मंत्रणा अधिक लम्बी नहीं होनी चाहिए।^२ मंत्रणा द्वारा किसी विषय पर निर्णय पर पहुँच जाने पर उसको रचनात्मक रूप देने में विलम्ब नहीं करना चाहिए।^३ विलम्ब करने से मंत्र-भेद हो जाता है।

कौटिल्य ने कतिपय ऐसे लोगों का भी उल्लेख किया है जिनको मंत्रणा का अधिकार नहीं दिया जाना चाहिये। इन पुरुषों में वह पुरुष भी परिगणित किए गए हैं जिनका अपकार राजा द्वारा किया गया हो और जो पुरुष इन पुरुषों से सम्बन्ध रखते हों।^४ ऐसे पुरुष न तो राजा को सद्परायण ही देंगे और न अपने परामर्श को गुप्त ही रख सकेंगे। अतः ऐसे पुरुषों से भी मंत्र की रक्षा होनी परमावश्यक है।

मंत्र-गुप्ति के विषय में भरद्वाज मुनि के अनुयायियों ने तो इतना महत्त्व दिया है कि उन्होंने मंत्रणा को राजा तक ही सीमित रखना उचित माना है। इस विषय में उन्होंने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किये हैं—मंत्र-भेद राजा और मंत्राधिकारी पुरुषों दोनों के कल्याण का नाशक है। इन समस्त कारणों से राजा को गुप्त विषयों पर अकेले ही विचार करना चाहिए।^५

इस प्रकार कौटिल्य के अर्थशास्त्र में मंत्र-गुप्ति पर विशेष महत्त्व दिया गया है।

मंत्रणा के विषय—कौटिल्य मंत्र के पाँच अंग मानते हैं। उन्होंने मंत्र के इन पाँच अंगों की व्याख्या इस प्रकार की है—कार्य के प्रारम्भ करने का उपाय, अपने समीप योग्य पुरुषों का रखना और दृव्य-संचय करना, देश और काल का विचार, आये हुए अनर्थों से अपनी रक्षा का उपाय और अपने अभीष्ट की सिद्धि का विचार—मंत्रणा के यह पाँच अंग अथवा प्रकार माने गये हैं।^६ इस प्रकार कौटिल्य ने सूत्र रूप

१—तेषां हि प्रमादमदसुप्तप्रलापकामादिरुत्सेकः ॥

वार्ता ११ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

तस्माद्वृत्तेन्मंत्रम् ॥

वार्ता १३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—न दीर्घकालं मंत्रयेत् ॥

वार्ता ५१ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—अवाप्तार्थः कालं नातिक्रामयेत् ॥

वार्ता ५० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—न च तेषां पश्यैर्येषामपकुर्वात् ॥

वार्ता ५२ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—तस्मादनुहमेको मंत्रयेतेति भारद्वाजः ॥

वार्ता १५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—कर्मण्यमाभ्योपायः पुरुषद्वयसंपदं शकालविभागो विनिपात प्रतीकारः

कार्यसिद्धिरिति पंचाङ्गो मंत्रः ॥ वार्ता ४७ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

(३५)

में यह बतलाया है कि इन पांच विषयों में राजा को अपने मंत्रियों से मंत्रणा अवश्य करनी चाहिए और उस मंत्रणा द्वारा प्राप्त निश्चय के अनुसार कार्य करना चाहिए। इन विषयों पर राजा मंत्रणा चाहे समस्त मंत्रियों से एक साथ ही ले अथवा प्रत्येक से पृथक् पृथक् ग्रहण करनी उचित होगी।^१ राजा को इस विषय में समयानुसार आवश्यकता के अनुरूप मन्त्रणा लेनी चाहिए।

मंत्रिपरिषद् का संक्षिप्त वर्णन देते हुए कौटिल्य ने मंत्रियों के कर्तव्यों की ओर कुछ संकेत किया है। मंत्रियों के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए वह इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—इन मंत्रियों को स्वपक्ष (अपने राज्य के पक्ष) और पर पक्ष (परराष्ट्र के पक्ष) में विचार करना चाहिए।^२ इन मंत्रियों को प्रारम्भ नहीं किए गए कार्य का प्रारम्भ कराना चाहिए, प्रारम्भ किए हुए कार्य का सम्यक प्रकार से पूरा कराने का प्रयत्न करना चाहिए। जिन कार्यों की समाप्ति हो चुकी है उनमें इनको विशेषता लाने का प्रयत्न करना चाहिए।^३ इस प्रकार राज्य के कार्यों के प्रारम्भ करने, उनके विधिवत समाप्त होने, समाप्त हुआओं में विशेषता लाने एवं स्वराष्ट्र के कल्याण और परराष्ट्र के विषय में समय एवं परिस्थिति के अनुसार विचार करने आदि विषयों पर राजा को अपने मंत्रियों से मंत्रणा लेना उचित बतलाया गया है।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या—मंत्रिपरिषद् में कितने सदस्य होने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अन्य आचार्यों के मत अर्थशास्त्र में दिए हैं जिनके अनुसार यह विदित होता है कि मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के विषय में प्राचीन भारत के राजशास्त्र के आचार्यों में एक मत नहीं रहा है। मंत्रिपरिषद् की सदस्य संख्या के विषय में अर्थशास्त्र में कतिपय आचार्यों के जो मत दिए गए हैं उनका उल्लेख यहाँ किया जाएगा।

मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में मनु के अनुयायियों का ऐसा मत है कि मंत्रिपरिषद् में बारह सदस्य होने चाहिए।^४ बृहस्पति के मतावलम्बियों के अनुसार राजा की मंत्रिपरिषद् में सोलह सदस्य होने चाहिए।^५ उसना ऋषि के अनुयायियों के मतानुसार मंत्रिपरिषद् में बीस सदस्य रखने चाहिए।^६ कौटिल्य का कहना है कि इन्द्र की मंत्रिपरिषद् में एक सहस्र ऋषि सदस्य थे।^७ यह एक सहस्र ऋषि जो कि इन्द्र की

१—तानेकैकशः पृच्छेत् समस्तांश्च ॥ वार्ता ४८ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—ते ह्यस्य स्वपक्षं परपक्षं च चिन्तयेयुः ॥ वार्ता ५७ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—अकृतारम्भमारब्धानुष्ठानमनुष्ठितविशेषं च कर्मणां कुर्युः ॥

वार्ता ५८ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—मंत्रिपरिषद् द्वादशमात्यान्कुवतेति मानवाः ॥

वार्ता ५३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—षोडशेति बार्हस्पत्याः ॥

वार्ता ५४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—विंशतिमित्यौशनसाः ॥

वार्ता ५४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—इन्द्रस्यहि मंत्रिपरिषदधीणां सहस्रम् ॥ वार्ता ६० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

मंत्रिपरिषद् के सदस्य थे इन्द्र की आँखें माने गए हैं।^१ अर्थात् इन्हीं की मंत्रणा के आधार पर इन्द्र को शासन-कार्य-क्षेत्र में उचित अथवा अनुचित मार्ग का बोध होता था। यही कारण है कि इनके दो ही आँखें होने पर भी लोक में यह सहस्राक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुए।^२

परन्तु कौटिल्य ने अपना मत देते हुए यह व्यवस्था दी है कि राजा को समय, परिस्थिति और आवश्यकतानुसार अपनी मंत्रिपरिषद् में सदस्य रखने चाहिए।^३ उन्होंने इसी प्रसंग में एक स्थल पर इस विषय में कि कितने मंत्रियों से राजा को मंत्रणा लेनी चाहिए। अपना मत देते हुए बतलाया है कि तीन अथवा चार मंत्रियों से राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।^४ उनके विचार से इनसे कम अथवा अधिक मंत्रियों से मंत्रणा लेनी उचित न होगा। कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था के अनुसार ऐसा ज्ञात होता है कि आचार्य कौटिल्य तीन अथवा चार सदस्यों की मंत्रिपरिषद् के निर्माण किए जाने के पोषक थे। परन्तु मंत्रिपरिषद् कब बुलायी जानी चाहिए इस विषय का वर्णन करते हुए उन्होंने इस प्रकार की स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अत्यन्त आवश्यक कार्य के उपस्थित होने पर मंत्रियों और मंत्रिपरिषद् को बुलाकर उनके समक्ष उस विषय को प्रस्तुत करना चाहिए।^५ कौटिल्य द्वारा दी गई इस व्यवस्था के आधार पर ऐसा विदित होता है कि राजा के मंत्रिगण ही मंत्रिपरिषद् के सदस्य न रहे होंगे वरन् कुछ और भी व्यक्ति होंगे। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि उन्होंने जो तीन अथवा चार मंत्रियों के रखने का विधान किया है उसका तात्पर्य यह कदापि नहीं है कि उनके द्वारा वर्णित मंत्रिपरिषद् में केवल तीन अथवा चार ही सदस्य होते होंगे और जिसकी स्थापना उन्होंने की है। वास्तविक बात यह है कि मंत्रिपरिषद् में अधिक सदस्य रहते होंगे। परन्तु इन समस्त सदस्यों से राज्य के महत्वपूर्ण प्रत्येक विषय में मंत्रणा नहीं ली जा सकती। इस दृष्टि से वह राजा के मंत्राधिकारी माने नहीं जा सकते। वह मंत्रिपरिषद् के सदस्य तो बनाए जा सकते थे परन्तु उन्हें मंत्रिपद नहीं दिया जा सकता था। इसी विचार की पुष्टि उस प्रसंग द्वारा होती है जिसमें कौटिल्य ने मंत्रियों की नियुक्ति सम्बन्धी सिद्धान्तों का उल्लेख किया है। इस प्रसंग में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—राजा, इस प्रकार, अमात्योचित गुण, देश, काल और कार्योचित व्यवस्था को देखकर उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न किन्हीं भी पुरुषों को अमात्य बना सकता है परन्तु उसको सहसा मंत्रिपद पर किसी व्यक्ति को नियुक्त नहीं करना

१—स तच्चक्षुः ॥

वार्ता ६१ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तस्मादिदं द्वयक्षं सहस्राक्षमाहुः ॥ वार्ता ६२ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—यथा सामर्थ्यमिति कौटिल्यः ॥ वार्ता ५६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—मंत्रिभिस्त्रिभिर्यत्तुमिवा सहमंत्रयेत् ॥ वार्ता ३७ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—आत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषद् चाहूय मूयात् ॥

वार्ता ६३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

चाहिए।^१ इस व्यवस्था से यह स्पष्ट विदित होता है कि मंत्रिपद और अमात्यपद भिन्न थे। मंत्री मंत्रिपरिषद् का सदस्य होता था और राजा को मंत्रणा भी देता था। अमात्य मंत्रिपरिषद् का सदस्य तो होता था परन्तु वह मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के अधिकार मात्र से मंत्री पद ग्रहण नहीं कर सकता था। वास्तव में यह तीन अथवा चार मंत्री मंत्रिपरिषद् की अन्तरंग समिति के सदस्य होते होंगे। इसी सिद्धान्त का समर्थन भीष्म ने भी किया है। वह मंत्रिपरिषद् में सैंतीस सदस्यों को रखने की व्यवस्था देते हुए यह बतलाते हैं कि इस बड़ी परिषद् में से सर्वगुण सम्पन्न पूजनीय, सर्वश्रेष्ठ कम से कम तीन मंत्रियों की परमअन्तरङ्ग समिति का निर्माण राजा को करना चाहिए।^२ इन्हीं तीन अथवा चार मंत्रियों से राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।

उपर्युक्त वर्णन से ऐसा विदित होता है कि अर्थशास्त्र में वर्णित मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की संख्या बड़ी रही होगी। परन्तु कौटिल्य मंत्रिपरिषद् की सदस्य-संख्या के विषय में मौन हैं।

मंत्रिपरिषद् की अध्यक्षता—अर्थशास्त्र में मंत्रिपरिषद् के विषय में जो वर्णन दिया हुआ है उससे यह विदित होता है कि मंत्रिपरिषद् की बैठकें स्वतंत्र रूप में होती थी। इस परिषद् की बैठकें इसी परिषद् के अध्यक्ष के तत्वावधान में होती थी। राजा इस परिषद् का अध्यक्ष नहीं होता था। राजा का विशेष सम्बन्ध मंत्रिपरिषद् की अन्तरंग समिति से रहता था। केवल किसी अत्यन्त महत्वपूर्ण समस्या के उपस्थित होने पर राजा मंत्रिपरिषद् को बुलाता था। अन्य अवसरों पर इसकी बैठकें स्वतंत्रतापूर्वक इसी के अध्यक्ष के अधीन ही होती थी। मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष का पद राज्य में बहुत ऊँचा माना गया है। कौटिल्य ने राज्य के अट्टारह तीर्थों में एक तीर्थ मंत्रिपरिषद् के अध्यक्ष को भी माना है।^३

मंत्रिपरिषद् में निर्णय बहुमत से होते थे। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त की पुष्टि इस प्रकार की है—अत्यन्त आवश्यक कार्य के उपस्थित होने पर राजा को मंत्री-

१—विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च।

अमात्याः सर्व एवैते कार्याः स्युर्न तु मंत्रिणः ॥

श्लोक ३३ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तस्मात्सर्वैर्गुरोरेतैसपन्नाः संपूजिताः।

मंत्रिणः प्रतिज्ञाः सुन्यवरा महदीप्सवः ॥ श्लोक ४७ अ० ८३ शा० पर्व ॥

३—तान् राजा स्वविषयै मंत्रिपुरोहितसेनापतियुवाराज × × × ×

मंत्रिपरिषदध्यक्ष × × ॥ वार्ता ८ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

परिषद् को बुलाना चाहिए ।^१ उस समय जिस विषय की पुष्टि बहुमत द्वारा होती हो उसी निर्णय को कार्यान्वित करने वाले उपायों को अपनाना चाहिए ।^२

मंत्रिपरिषद् की अंतरंग समिति—राजा को प्रत्येक विषय में वास्तविक मंत्रणा प्राप्त हो सके साथ ही मंत्र की रक्षा भी हो सके इन दोनों बातों को ध्यान में रखते हुए कौटिल्य यह उचित नहीं समझते कि मंत्रिपरिषद् के प्रत्येक सदस्य से प्रत्येक विषय में मंत्रणा प्राप्त की जानी चाहिए । वह मंत्रिपरिषद् के समस्त सदस्यों में से तीन अथवा चार सर्वश्रेष्ठ सदस्यों को इस कार्य के लिए अलग कर लेना उचित समझते हैं । यही तीन अथवा चार सदस्य राजा के वास्तविक मंत्री माने गए हैं । यद्यपि कौटिल्य ने ऐसा कहीं भी स्पष्ट नहीं कहा है कि यह तीन अथवा चार मंत्री मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में से ही नियुक्त किए जाते थे अथवा उनकी नियुक्ति अन्य प्रकार से प्रत्यक्षरूप में होती थी । इसलिए यह निश्चय पूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह तीन अथवा चार मंत्री मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में से ही नियुक्त किए जाते थे । परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह मंत्रिगण मंत्रिपरिषद् के सदस्यों में से ही नियुक्त किए जाते होंगे । परन्तु इतना अवश्य है कि यह मंत्रिपरिषद् की उन बैठकों में अवश्य सम्मिलित होते थे जिन बैठकों को राजा स्वयं बुलाया करता था ।^३

इन मंत्रियों की कितनी संख्या होनी चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अन्य आचार्यों का भी मत दिया है । वह भरद्वाज मुनि का मत इस विषय में सर्वप्रथम म देते हैं । भरद्वाज मुनि का मत देते हुए कौटिल्य बतलाते हैं कि उनके अनुयायियों के मतानुसार राजा को अत्यन्त गोपनीय विषयों में अकेले ही विचार करना चाहिए क्योंकि मंत्रियों के भी मंत्री होते हैं ।^४ उनके अन्य मंत्री होते हैं ।^५ यह मंत्रि-परम्परा ही मंत्र-भेद कर देती है ।^६ आचार्य विशालाक्ष ने भरद्वाज मुनि के मत का खण्डन करते हुए यह व्यवस्था दी है कि राजा के अकेले ही मंत्र निर्णय करने से मंत्र-सिद्धि नहीं

१—आत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषद्ं चाहूय ब्रूयात् ॥

वार्ता ६३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तत्र यद्भूषिष्ठाः कार्यसिद्धिकरं वा ब्रूयुस्तत्कुर्वन्त ॥

वार्ता ६४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—आत्ययिके कार्ये मंत्रिणो मंत्रिपरिषद्ं चाहूय ब्रूयात् ॥

वार्ता ६३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—तस्मादनुद्यमेको मंत्रयेतेतिभारद्वाजः ॥वार्ता १५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—मंत्रिणामपि हि मंत्रिणो भवन्ति ॥ वार्ता १६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

तेषामप्यन्ये

॥ वार्ता १७ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१—सैषा मंत्रिपरंपरा मंत्रं भिनत्ति ॥ वार्ता १८ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

हो सकती। क्योंकि एक व्यक्ति के विचार करने मात्र से मंत्र सिद्ध नहीं किया जा सकता।^१ नहीं जानी हुई बात का जानना, जानी हुई का निश्चय करना, निश्चित विषय को टाढ़ बनाना, मतभेद की बात में संशय न रहने देना, एक देश का ज्ञात होने पर उसके शेष अंग को पूरा करना मंत्रियों का ही कार्य होता है।^२ मंत्रियों के साथ मंत्रणा किए बिना राजाओं का कार्य सम्पादित नहीं हो सकता अतएव अधिक बुद्धिमानों के साथ राजा को अवश्य मंत्रणा करनी चाहिए।^३ बुद्धिमान ही क्या राजा को तो सबके मत को सुनना चाहिए किसी के भी मत की अवहेलना नहीं करनी चाहिए। बुद्धिमान राजा को तो बालक के भी सार्थक वाक्य को स्वीकार कर लेना चाहिए।^४ इस प्रकार आचार्य विशालाक्ष राजा के मंत्रियों की संख्या में कोई सीमा ही निर्धारित नहीं करते।

पराशर मुनि के अनुयायियों ने इसका खण्डन किया है। उनका कहना है कि इस व्यवस्था से मंत्र की रक्षा नहीं की जा सकती।^५ पिशुनाचार्य ने पराशर मुनि का खण्डन करते हुए अपने मत का इस प्रकार प्रकाशन किया है—जो पुरुष जिन-जिन कार्यों में नियुक्त किए जाएँ उनके साथ राजा को मंत्रणा करनी चाहिए।^६ ऐसे व्यक्तियों से मंत्रणा करने से मंत्र-वृद्धि एवं उसकी रक्षा होती है।^७ इस प्रकार पिशुनाचार्य के मतानुसार प्रत्येक अध्यक्ष अथवा अभिमत पुरुष से मंत्रणा करनी चाहिए।

आचार्य कौटिल्य ने इन मतों में से किसी मत का भी समर्थन नहीं किया है।^८

१—नैकस्य मंत्रसिद्धिरस्तीति विशालाक्षः ॥वार्ता २० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अनुपलब्धस्य ज्ञानमुपलब्धस्य निश्चयो निश्चितस्य बलाधानमर्थद्वैधस्य संशयच्छेदनमेकदेशदृष्टस्य शेषोपलब्धिरिति मंत्रिसाध्यमेतम् ॥

वार्ता २२ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तस्माद्बुद्धिवृद्धैः सार्धमासीत मंत्रम् ॥

वार्ता २३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—नकिंचद्वमन्येत सर्वस्य शृणुयान्मतम् । बालस्याप्यर्थवद्वाक्यमुपयुज्जीत प्यण्डितः ॥

श्लोक २४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—एतन्मंत्रज्ञानं नैतन्मंत्ररक्षणमिति पाराशराः ॥

वार्ता २५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—तस्याक्तर्गमु येपु येऽभिप्रेतास्तैः सह मंत्रयेत् ॥

वार्ता ३३ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—तैर्मंत्रयमाणो हि मंत्रवृद्धिगुप्तं च लभत इति ॥

वार्ता ३४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—नेति कौटिल्यः

॥ वार्ता ३५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

वह इसको अव्यवस्था के नाम से सम्बोधित करते हैं ।^१ और यह व्यवस्था देते हैं कि राजा को तीन अथवा चार मंत्रियों से मंत्रणा लेनी चाहिए ।^२ इस प्रकार कौटिल्य तीन अथवा चार राज्य के सर्वश्रेष्ठ व्यक्तियों की एक अन्तरंग समिति के निर्माण का आदेश देते हैं और इसी अन्तरङ्ग समिति के सदस्यों की मंत्रणा के आधार पर राजा को मंत्र निर्णय-करना चाहिए—ऐसा उनका मत है ।

अपने इस मत की पुष्टि में वह इस प्रकार के हेतु देते हैं—एक ही मंत्री के साथ मंत्रणा करने से मंत्रभेद के स्थानों में मंत्र का निश्चय नहीं हो सकता ।^३ यदि अकेला ही मंत्री है तो वह अपनी इच्छानुसार बिना किसी सोच-विचार के उच्छृङ्खल रूप से कार्य कर सकता है ।^४ दो मंत्रियों के मध्य मंत्र का निश्चय करना भी उचित नहीं है क्योंकि दोनों के मिल जाने पर राजा का मंत्र उचित रीति से सिद्ध नहीं हो सकता क्योंकि दो व्यक्तियों का परस्पर मिल जाना स्वाभाविक है ।^५ इसके अतिरिक्त दोनों में मत-भेद होने पर मंत्र का निर्णय नहीं हो सकता और इस प्रकार कार्य का नाश हो जाएगा ।^६ यदि तीन अथवा चार मंत्री होंगे तो इस प्रकार के अनर्थ के आने की बहुत ही कम सम्भावना होती है ।^७ कार्य ठीक-ठीक चलता रहता है ऐसा ही देखा गया है ।^८ यदि मंत्रणा के लिए चार से अधिक मंत्री किए जाएँगे तो किसी भी विषय में निर्णय पर पहुँचना बहुत ही कठिन हो जाएगा ।^९ और मंत्र की रक्षा भी नहीं हो सकती ।^{१०} देश, काल और कार्य की आवश्यकता देखकर एक अथवा दो मंत्रियों

१—अनवस्था ह्येषा

॥ वार्ता ३६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—मंत्रिभिस्त्रिभिश्चतुर्भिर्वा सह मंत्रयेत् ॥

वार्ता ३७ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—मंत्रयमाणो ह्येकेनार्थकृच्छ्रेषु निश्चयं नाधिगच्छेत् ॥

वार्ता ३८ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—एकश्चमन्त्री वथेष्टमनवग्रहश्चरति ॥ वार्ता ३९ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—द्वाम्नां मंत्रयमाणो द्वाम्नां संहताभ्यामवगृह्यते ॥

वार्ता ४० अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—विगृहीताभ्यां विनाश्यते

॥ वार्ता ४१ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—त्रिषु चतुर्षु वा नैकान्तं कृच्छ्रेणोपपद्यते महादोषम् ॥

वार्ता ४२ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—उपपन्नं तु भवति

॥ वार्ता २४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—ततः परेषु कृच्छ्रेणार्थं निश्चयो गम्यते ॥

वार्ता ४४ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१०—मन्त्रो वा रक्ष्यते

॥ वार्ता ४५ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

के साथ भी मंत्रणा की जा सकती है। राजा को इस विषय में समयानुसार इन नियमों का पालन करना चाहिए।^१

इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार राजा के तीन अथवा चार मंत्री होने चाहिए। यह तीन अथवा चार मंत्री राजा की अन्तरङ्ग समिति के सदस्य होंगे।

मंत्रिपरिषद् के सदस्यों की योग्यता—कौटिल्य ने मंत्रिपरिषद् की सदस्यता के निमित्त कतिपय योग्यताएँ निर्धारित की हैं जिनको वह अमात्यसंपद् के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह योग्यताएँ इस प्रकार बतलायी गयी हैं—अपने ही जनपद और उत्तम कुल में उत्पन्न, समय पर भली प्रकार अपने अनुकूल चलाए जाने अथवा उत्तम बन्धु-बान्धवों से सम्पन्न, शिल्प विद्या में कुशल, प्रत्येक विषय का जाननेवाला, विद्वान्, स्मृतिमान, कार्यकुशल, बोलने में चतुर, तीव्र भाषण देनेवाला, शीघ्र प्रबन्ध करने में समर्थ, उत्साही, प्रभावशाली, क्लेश सहन में समर्थ, पवित्र आचरणधारी, स्नेह करनेवाला, दृढ़भक्ति से युक्त, शील, बल, आरोग्य तथा मानसिक शक्ति से सम्पन्न, जड़ता और चपलता से शून्य, सब का प्रिय और व्यर्थ किसी से बैर मोल न लेने वाले व्यक्ति को मंत्रिपरिषद् का सदस्य बनाना चाहिए।^२

कौटिल्य गुणों के आधार पर तीन प्रकार के मंत्री मानते हैं। जिस मंत्री में उपर्युक्त समस्त गुण हों वह उत्तम मंत्री माना गया है। जिस मंत्री में इन गुणों के तीन चौथायी गुण हों वह मध्यम मंत्री कहलाता है और जो मंत्री उपर्युक्त गुणों में से केवल अर्धगुण सम्पन्न है वह छुद्र मंत्री माना गया है।^३

मंत्रियों की नियुक्ति—मंत्रियों की नियुक्ति किस प्रकार की जानी चाहिए। इस विषय में भी कौटिल्य ने अपना मत प्रकट किया है। राजा को किस प्रकार के व्यक्तियों को मंत्री बनाने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत प्रकट करते हुए अन्य आचार्यों का भी मत दिया है। भरद्वाज मुनि के अनुयायियों के मतानुसार राजा को अपने सहपाठियों में से अमात्य बनाने चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि में उन्होंने यह हेतु दिया है कि राजा अपने सहपाठियों के पवित्र आचरण एवं उनकी सामर्थ्य को भलीभाँति

१—देशकालकार्यवशेन त्वेकेन सह द्वाभ्यामेको वा यथा सामर्थ्यं मंत्रयेत ॥

वार्ता ४६ अ० १५ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—जानपदोभिजातः स्ववग्रहः कृतशिल्पश्चक्षुष्मान्प्राज्ञो धारयिष्युर्दक्षो वाग्मी प्रगल्भः प्रतिपत्तिमानुत्साहप्रभावयुक्तः क्लेशसहः शुचिर्मात्रो दृढभक्ताः शीलबलारोग्यसत्त्वसंयुक्तः स्तम्भचापत्यवर्जितः संप्रियो वैराणामकार्येत्य मात्यसंपत् ॥

वार्ता १ अ० ६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—अतः पदार्थगुणहीनो मध्यमावरौ ॥ वार्ता २ अ० ६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

जानता रहता है ।^१ राजा के सहपाठी विश्वास पात्र रहेंगे ।^२ आचार्य विशालाक्ष इस मत का खण्डन करते हुए कहते हैं ।^३ कि सहपाठी साथ में खेला हुआ होता है इसलिए वह मित्र राजा की आज्ञा की अवहेलना कर देता है ।^४ जो व्यक्ति राजा की इच्छा के अनुकूल हों उनको ही अमात्य पद दिया जाना चाहिए चाहे वह सहपाठी रहे हों अथवा न रहे हों ।^५ समान गुणधारी व्यक्ति ही विपत्ति में राजा का साथ दे सकते हैं । वह ही राजा के मर्म के जानने वाले और राजा से भय मानने वाले होते हैं । इस कारण वह राजा के विरुद्ध होकर राजा का कुछ अपराध नहीं करते ।^६

पराशर मुनि आचार्य विशालाक्ष के इस मत को दोषपूर्ण मानते हैं ।^७ अपने अमात्यों के मर्मज्ञ होने के कारण राजा उनसे भयभीत रहेगा । इसलिए अमात्य गण जो कुछ करेंगे राजा को उन का अनुसरण करना ही होगा ।^८ पराशर मुनि के मतानुसार उस व्यक्ति को अमात्य बनाना चाहिये जिसने प्राण संकट के अवसर पर राजा की सहायता की हो ।^९ क्योंकि ऐसा व्यक्ति अपनी भक्ति का परिचय पूर्व में ही दे चुकता है ।^{१०}

पिशुनाचार्य पराशर मुनि के इस मत से सहमत नहीं हैं ।^{११} वह पराशर मुनि के मत का खण्डन इस आधार पर करते हैं कि उन्होंने भक्ति गुण का महत्व दिया है परन्तु बुद्धि पर नहीं ।^{१२} अमात्य आदि राजकर्मचारियों को विशिष्ट बुद्धिमान होना चाहिए जो अपने कर्तव्य का विधिवत पालन कर सके । अपनी बुद्धि के चमत्कार से

१—सहाध्यायिनोऽमात्यान्कुर्वीत दृष्टशौचसामर्थ्यत्वादिति भारद्वाजः ॥

वार्ता १ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—ते ह्यस्य विश्वास्या भवन्तीति ॥

वार्ता २ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—नेति विशालाचाः ॥

वार्ता ३ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—सहक्रीडितत्वात्परिभवन्त्येनम् ॥

वार्ता ४ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—ये ह्यस्य गुह्यसधर्माणस्तानमात्यान्कुर्वीत समानशीलव्यसनत्वात् ॥

वार्ता ५ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—ते ह्यस्य मर्मज्ञत्वभयान्नपराधन्तीति ॥ वार्ता ६ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—साधारण एष दोष इति पराशरः ॥ वार्ता ७ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—तषामपि मर्मज्ञत्वं भयाकृताकृतान्यनुवर्तेत ॥ वार्ता ८ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—य एनमापस्य प्राणाबाधयुक्तास्वनुगृहीयुस्तानमात्यान्कुर्वीत ॥

वार्ता ९ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१०—दृष्टानुरागत्वादिति ॥

वार्ता ११ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

११—नेति पिशुनः

वार्ता १२ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१२—भक्तिरेषा न बुद्धिगुणः ॥

वार्ता १३ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

अपने कर्तव्य का तो पालन कर ही दे परन्तु अन्य अधूरे कार्यों को भी पूरा कर सके ।^१ वही अमात्य उत्तम समझा जाएगा जो अपने कर्तव्य को भली भाँति जानता है ।^२

आचार्य कौणपदन्त पिशुनाचार्य के मत का खण्डन करते हैं ।^३ उनका कथन है कि विशेष बुद्धिगुण युक्त व्यक्ति होने पर भी वह अमात्योचित अन्य गुणों से रहित हो सकता है ।^४ उनके मतानुसार पिता-पितामह आदि के क्रम से आनेवाले पुरुषों को ही अमात्य बनाना उचित होगा ।^५ ऐसे पुरुष अपने पैतृक प्रभाव से इस पद के योग्य समस्त अनुभवों का ज्ञान प्राप्त कर लेते हैं ।^६ अपने इस सिद्धान्त की पुष्टि में वह यह हेतु देते हैं कि कुल-क्रमागत आनेवाले अमात्य राजा के प्रति दूषित कर्म किए जाने पर भी उसका त्याग नहीं करते क्योंकि उनका स्वार्थ राजा के स्वार्थ में ही रहता है ।^७ मनुष्यों के अतिरिक्त पशुओं में भी ऐसा व्यवहार देखा जाता है ।^८ गौएं दूसरे गेसमूह को त्याग कर अपने गेसमूह में ही रहती हैं ।^९

आचार्य वातव्याधि इस सिद्धान्त को नहीं मानते ।^{१०} वंशपरम्परागत अमात्य राजा के अधीन सब कुछ पर अपना अधिकार करके उसे अपना समझ बैठते हैं ।^{११} इस लिए राजनीति विशारद नवीन व्यक्तियों को अपने अमात्य नियुक्त करने चाहिए ऐसा उनका मत है ।^{१२} नवीन अमात्य दण्डधारी राजा से यमराज की भाँति भयभीत रहते हैं इसलिए वह (जान बूझ कर) अपराध नहीं करते ।^{१३} आचार्य बाहुदन्ती पुत्र ने

१—संख्यातार्थेषु कर्मसु नियुक्ता ये यथादिष्टमर्थं सविशेषं वा कुर्युस्तानमात्यान्कुर्वीत ॥

वार्ता १४ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—दृष्टगुणत्वादिति ॥

वार्ता १५ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—नेतिकौणपदन्तः ॥

वार्ता १६ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—अन्यैरमात्यगुणैरयुक्ता ह्येते ॥

वार्ता १७ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—पितृपैतामहानमात्यान् कुर्वीत ॥

वार्ता १८ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—दृष्टापादानत्वात् ॥

वार्ता १९ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—ते ह्येनमपचरन्तमपि न त्यजन्ति सगन्धत्वात् ॥

वार्ता २० अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—अमानुषेष्पि चैतद्दृश्यते ॥

वार्ता २१ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

९—गावो ह्यसगन्धं गोगणमतिक्रम्य सगन्धेष्वेवावतिष्ठन्ति इति ॥

वार्ता २२ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१०—नेति वातव्याधिः ॥

वार्ता २३ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

११—ते ह्यस्य सर्वमपगृह्य स्वामिवत्प्रचरन्तीति ॥ वार्ता २४ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१२—तस्मान्नीतिविदो नवानमात्यान्कुर्वीत ॥ वार्ता २५ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

१३—नवास्तु यमस्थाने दण्डधरं मन्यमाना नापराध्यन्तीति ॥

वार्ता २६ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

इस सिद्धान्त का खण्डन किया है ।^१ शास्त्र के ज्ञाता होने पर भी अमात्य पद से सम्बन्धित कार्यों के अनुभव से रहित होने पर तत्सम्बन्धी कार्य-सम्पादन में क्लेश सहन करते हैं ।^२ इन समस्त विषयों पर विचार कर कुलीन, बुद्धिमान, पवित्र हृदय, शौर्य-सम्पन्न एवं अनुराग युक्त व्यक्तियों में से अमात्य नियुक्त किए जाने चाहिए ।^३ अमात्य-पद उन्हीं व्यक्तियों को दिया जाना चाहिए जो गुणों में प्रधान हों ।^४

आचार्य कौटिल्य इन समस्त सिद्धान्तों को हेतुयुक्त मानते हैं ।^५ परन्तु उनका मत है कि कार्य के उपस्थित होने पर देशकालानुसार जैसा उचित हो वैसे पुरुष को अधिकार देना चाहिए क्योंकि अमात्य की नियुक्ति में समयानुसार योग्यता की ही विशेषता मानी गयी है ।^६ राजा, इस प्रकार, अमात्योचित गुण, देश-काल और कार्यों-चित व्यवस्था देखकर उपर्युक्त योग्यता सम्पन्न किसी भी पुरुष को अमात्य बना सकता है । परन्तु उसको मंत्रिपद पर सहसा नियुक्त कर दिया जाए कौटिल्य इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं ।^७ उन्होंने मंत्रिपद के लिए कतिपय विशेष गुणों एवं योग्यताओं को निर्धारित किया है । मंत्री को इन गुणों एवं योग्यताओं से सम्पन्न होना चाहिए । इन गुणों एवं योग्यताओं को कौटिल्यने अमात्यसम्पद् के नाम से सम्बोधित किया है । जिन गुणों एवं योग्यताओं का वर्णन कौटिल्य ने अमात्यसम्पद् के नाम से सम्बोधित किया है उनका वर्णन इसी अध्याय में पीछे किया गया है ।

उपधा प्रणाली द्वारा मंत्रियों की नियुक्ति—राज्य में मंत्रिपद परम महत्त्व का पद होता है । अतः राजा के मंत्रियों को पवित्र आचरणवान होना चाहिए । उन का चरित्र इतना महान होना चाहिए कि चाहे जैसी परिस्थिति क्यों न हो परन्तु मंत्रियों को स्थिर बुद्धि एवं विकार रहित रहना चाहिए । काम, क्रोध, लोभ, मोहादि मनुष्य पर प्रतिक्षण आक्रमण करते रहते हैं । विरले ही पुरुष इन पर विजय प्राप्त करने में समर्थ होते हैं । इसलिए यह परम आवश्यक है कि राजा को अपने मंत्रियों के आचरण की परख करते रहना चाहिए । राजा को प्रतिक्षण इस विषय का ज्ञान रखना चाहिए कि उसके मंत्री किसी समय विकार ग्रस्त तो नहीं हो जाते हैं । इस प्रकार के

१—नेति बाहुदन्तीपुत्रः ॥ वार्ता २७ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—शास्त्रविददृष्टकमां कर्मसु विपादं गच्छेत् ॥ वार्ता २८ अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

३—अभिजनप्रज्ञाशौचशौर्ध्रानुरागयुक्तानमात्यान्कुर्वीत ॥

वार्ता २६ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—गुणप्राधान्यादिति ॥

वार्ता ३० अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—सर्वमुपपन्नमिति कौटिल्यः ॥

वार्ता ३१ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—कार्यसामर्थ्याद्विपुरुषसामर्थ्यं कप्नते सामर्थ्यतश्च ॥

वार्ता ३२ अ० ८ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—विभज्यामात्यविभवं देशकालौ च कर्म च ।

अमात्याः सर्व एवैते कार्याःस्युर्न तु मंत्रिणः ॥ श्लोक ३३ अ० ८ अधि० १ अर्थ० ॥

ज्ञान की प्राप्ति हेतु प्राचीन भारत में एक विशेष प्रणाली का निर्माण किया गया था जिसको अपनाने से मंत्रियों एवं उच्च पदाधिकारियों आदि के आचरण एवं व्यवहार तथा उनके अन्य प्रकार के गुणों एवं योग्यताओं की गुप्त रीति से परख हो जाती थी। इस प्रणाली को प्राचीन भारत में उपधा प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया गया है। मंत्रियों की नियुक्ति में उपधा प्रणाली का आश्रय लिये जाने के सिद्धान्त का कौटिल्य ने भी समर्थन किया है। उन्होंने चार प्रकार की उपधाओं का उल्लेख किया है और जिन को वह कामोपधा, अर्थोपधा, धर्मोपधा और भयोपधा नाम से सम्बोधित करते हैं। कौटिल्य का मत है कि मंत्रियों की नियुक्ति हेतु पहले अग्यर्थी को राज्य में सामान्य अधिकरणों पर नियुक्त करना चाहिए और फिर उनकी गुप्त रीति से परीक्षा करनी चाहिए।^१ उनकी परीक्षा धर्मोपधा, अर्थोपधा, कामोपधा और भयोपधा द्वारा होनी चाहिए।^२ इन समस्त परीक्षाओं में जो व्यक्ति शुद्ध प्रमाणित हो जाए उसको ही मंत्रिपद दिया जाना चाहिए।^३ अन्य आचार्यों ने उपधा प्रणाली के द्वारा मंत्रियों के शोधन हेतु महारानी तक का लोभ इन मंत्रियों की कामवृत्ति के जाग्रत करने के हेतु अपनाने की व्यवस्था दी है, परन्तु कौटिल्य ने इसका विरोध किया है। उनका मत है कि उपधा प्रणाली द्वारा परीक्षा हेतु राजा और महारानी को पड़ना नहीं चाहिए। इस हेतु किसी बाहरी व्यक्ति अथवा पदार्थ का लोभ दिया जाना चाहिए और फिर गुप्तचरों द्वारा उनकी शुद्धता का ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए।^४

मंत्रियों के वेतन—कौटिल्य ने राज्य के विभिन्न कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों के वेतन का भी उल्लेख किया है। इस विषय में कौटिल्य इस सिद्धान्त के अनुसरण किए जाने का समर्थन करते हैं कि राज्य के कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों को उनके पद के अनुसार वेतन दिए जाने चाहिए। यह वेतन इतने होने चाहिए जिससे उनका एवं उनके परिवार का उनकी परिस्थिति के अनुसार विधिवत भरण-पोषण हो सके। वेतन द्वारा प्राप्त धन इतना कभी न्यून नहीं होना चाहिए जिससे राजकर्मचारी को अपने एवं अपने आश्रित परिवार के भरण-पोषण के लिए दूसरे साधनों का आश्रय लेना पड़े। कौटिल्य के मतानुसार वेतन की न्यूनता कर्मचारी को कुपित कर देती है जिससे राजा एवं राज्य को बड़ी क्षति पहुँचती है।

१—मंत्रिपुरोहितसम्बः सामानेष्वधिकरणेषु स्थापयित्वा मात्यानुपधाभिः शोधयेत् ॥
वार्ता १ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—प्रत्याख्याने शुचिरिति धर्मोपधा; प्रत्याख्याने शुचिरित्यर्थोपधा, प्रत्याख्याने-
शुचिरिति कामोपधा; प्रत्याख्याने शुचिरिति भयोपधा ॥

वार्ता ६, ६, १२, १६ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—सर्वोपधाशुद्धान्मंत्रिणः कुर्यात् ॥ वार्ता २४ अ० १० अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—तस्माद् बाह्यमधिष्ठानं कृत्वा कार्यं चतुर्विधे ।

शौचाशौचममात्यानां राजा मार्गेत संत्रिभिः ॥ श्लोक ३० अ० १० अधि० १ अर्थ० ॥

इसी सिद्धान्त को दृष्टि में रखकर उन्होंने मंत्रियों का वेतन निर्धारित किया है । उन्होंने वेतन की दृष्टि से ऋत्विक् आचार्य, मन्त्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और राजमहिषी को एक ही श्रेणी में परिगणित किया है । इन सब-अधिकारियों में प्रत्येक के लिए कौटिल्य ने अड़तालीस सहस्र पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया है । ^१ उनके मतानुसार इतने वेतन से यह सुविधा पूर्वक अपना एवं अपने आश्रितों का भरण-पोषण कर सकते हैं, और उनके कुपित होने की सम्भावना नहीं रहती । ^२ कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् के विभिन्न अमात्यों एवं विभिन्न मन्त्रियों में वेतन की दृष्टि से अन्तर होना चाहिए इसविषय का विशेष उल्लेख नहीं किया है । शुक्र ने इसका विशेष उल्लेख किया है और उन्होंने मन्त्रिपरिषद् के सदस्यों के वेतनों में उनके पद के महत्त्व के अनुसार अन्तर रखा है । ^३ यह बात कौटिल्य के इस विषय के वर्णन से स्पष्ट नहीं होती । इसलिए वेतन की दृष्टि से मन्त्रिपरिषद् के विभिन्न सदस्यों में जो अन्तर शुक्र ने दिखलाया है उस अन्तर को कौटिल्य भी मानते थे अथवा नहीं इस विषय पर प्रकाश नहीं डाला जा सकता ।

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने मन्त्रिपरिषद् के निर्माण, एवं संचालन, उसके महत्त्व आदि विषयों पर अर्थशास्त्र में समुचित प्रकाश डाला है ।

१—ऋत्विगाचार्यमन्त्रिपुरोहितसेनापतियुवराजराजमातराजमहिष्यो ऽष्टचत्वरिंशस्ता-
हस्राः ॥

वार्ता ४ अ० ३ अधि० ५ अर्थशास्त्र ॥

२—एतावता भरणे नानास्वाद्यस्वमकोपकं चैषां भवति ॥

वार्ता ५ अ० ३ अधि० ५ अर्थशास्त्र ॥

३—दशमांशाधिकाः पूर्वदूतान्ताः क्रमशः स्मृताः ॥

श्लोक ७१ अ० २ शुक्रनीति ॥

पंचम अध्याय

दूत

दूत की आवश्यकता—प्राचीन भारत के कतिपय आचार्यों ने दूत को मन्त्रिपरिषद् का ही सदस्य माना है। परन्तु दूसरे आचार्य दूत को मन्त्रिपरिषद् का सदस्य नहीं मानते। परन्तु दूत को उपयोगिता एवं उसकी आवश्यकता को सभी आचार्यों ने एक ही समान माना है। राजाओं के पारस्परिक बात करने का एक प्रधान साधन दूत माना गया है। राजाओं के मध्य पारस्परिक सम्बन्धों के स्थापित करने का भी प्रधान साधन दूत ही होता है। इसीलिए कौटिल्य दूत को राजा का मुख मानते हैं। दूत रूपी मुख से ही राजागण परस्पर बात करते हैं ऐसा उन्होंने अर्थशास्त्र में लिखा है।^१ इस प्रकार कौटिल्य ने दूतों को राजाओं का मुख मानकर उनके द्वारा बात करके पारस्परिक सम्बन्ध स्थापित किए जाने की व्यवस्था दी है। राजाओं द्वारा इस प्रकार के कार्य सम्पादन हेतु दूतों के रखने का प्रचलन भारत में प्राचीन काल से चला आ रहा है। बाल्मीकीय रामायण, महाभारत, मानवधर्मशास्त्र, शुकनीति आदि ग्रन्थों में दूत की आवश्यकता एवं उसके महत्त्व पर समुचित प्रकाश डाला गया है। आधुनिक युग में भी इस प्रथा का महत्त्व स्वीकार किया गया है। इस युग में दूत-कार्य इतना महत्त्वपूर्ण समझा जाता है कि लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में उन राज्यों के राजदूत स्थायी रूप से रहते हैं जिनका उस राज्य से किसी प्रकार का सम्बन्ध होता है। पारस्परिक राज्यों में अपने अपने दूतों को नियुक्त कर उन्हें स्थायी रूप से स्थापित करना इस युग की राजनीति के दैनिक कार्य का एक अंग मान लिया गया है।

दूतों का आचरण एवं व्यवहार—कौटिल्य का मत है कि दूत को अपने निर्धारित यान, वाहन, नौकर-चाकर, और उत्तम सामग्री लेकर दूसरे राजा के राज्य में रहना चाहिए।^२ दूसरे राज्य में वास करते हुए दूत को उस राज्य के वन की रक्षा के प्रधान अधिकारी, पुर और राष्ट्र के प्रधान व्यक्तियों से जहाँ तक हो सके अपना मेल-जोल बढ़ा लेना चाहिए।^३ दूत को पर-राज्य में वहाँ के राजा की आज्ञा प्राप्त कर

१—दूतमुखा वै राजानस्त्वं चान्ये च ॥ वार्ता १६ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—सुप्रतिविहितयानवाहनपुरुषपरिवापः प्रतिष्ठेत ॥

वार्ता ५ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥

३—अटव्यन्तपालपुरराष्ट्रमुख्यैश्च प्रतिसंसर्गं गच्छेत् ॥

वार्ता ७ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥

लेने के उपरान्त उस राज्य में प्रवेश करना चाहिए ।^१ दूत को अपने राजा का आदेश पर राज्य के राजा के समक्ष ज्यों का त्यों प्रस्तुत करना चाहिए ।^२ यदि प्राण-वाधा का भय भी उपस्थित हो तो भी दूत को अपने राजा के आदेश को घटा-बढ़ाकर प्रस्तुत नहीं करना चाहिए ।^३ जब तक पर-राज्य का राजा दूत को जाने की आज्ञा न दे दे उसको वहीं निवास करना चाहिए अर्थात् दूत को पर राज्य के राजा से अनुमति लेकर उसके राज्य से अपने राज्य को गमन करना चाहिए । पर-राज्य के राजा के द्वारा किये गये सत्कार से उसको अधिक उत्सुक (आनन्द से प्रफुल्लित) नहीं हो जाना चाहिए ।^४ परराज्य के लोगों के मध्य में पहुँचकर अपने बल का प्रदर्शन नहीं करना चाहिए ।^५ यदि वहाँ कोई अनिष्ट वाक्य भी बोलता है तो उसका भी सहन कर लेना चाहिए ।^६ दूत को पर-स्त्री-गमन और मद्यपान बिल्कुल नहीं करना चाहिए ।^७ दूत को अकेला ही सोना चाहिये ।^८ यदि दूत सुरापान करके मद में पागल होगा अथवा सोता हुआ कभी अनर्गल बकने लगेगा तो इन कारणों से दूत के मत के रहस्य के खुल जाने की सम्भावना होती है ।^९ इसीलिए कौटिल्य ने दूत को सुरापान और दूसरे के पास शयन करने का निषेध किया है । यदि पर-राजा किसी प्रकार से दूत से उसके (दूत के) राज्य के राजा अथवा उसकी प्रकृतियों (अमात्य, कोष, बल आदि) के विषय में कुछ भेद लेना चाहता है तो उसको कुछ भी भेद देना नहीं चाहिए ।^{१०} ऐसी दशा में उसको इस प्रकार कहकर टाल जाना चाहिए—अप सब कुछ जानते हैं ।^{११} दूत को सदैव अपने कार्य की सिद्धि करनेवाले वचन बोलने चाहिए ।^{१२} अपने स्वामी का सन्देश सुनाते हुए विरोधी राजा को यदि बुरा प्रतीत हो और वह उस दूत को बन्दी बनाना

- १—पराधिष्ठानमनुज्ञातः प्रविशेत् ॥ वार्ता १० अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥
 २—शासनं च यथोक्तं ब्रूयात् ॥ वार्ता ११ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥
 ३—प्राणावाधेऽपि दृष्टे ॥ वार्ता १२ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
 ४—वसेद्विसृष्टः प्रपूजश नोस्तिक्तः ॥ वार्ता २० अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥
 ५—परेषुबलित्वं न मन्येत ॥ वार्ता २१ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
 ६—वाक्यमनिष्टं सहेत ॥ वार्ता २२ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
 ७—स्त्रियः पानं च वर्जयेत् ॥ वार्ता २३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
 ८—एकः शयीत ॥ वार्ता २४ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥
 ९—सुप्तमत्तयोर्हि भावज्ञानं दृष्टम् ॥ वार्ता २५ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥
 १०—परेण चान्तः स्वासां प्रकृतीनां परिमाणं नाचक्षीत ॥

वार्ता ३१ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥

- ११—सर्ववेद भवानिति ब्रूयात् ॥ वार्ता ३२ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
 १२—कार्यसिद्धिकरं वा ॥ वार्ता ३३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

चाहता हो अथवा उसके वध करने का विचार कर रहा हो तो ऐसी परिस्थिति में दूत को उस राज्य से भाग जाना चाहिये ।^१

इस प्रकार कौटिल्य ने दूत को पर राज्य में जाकर किस प्रकार का आचरण एवं व्यवहार करना चाहिये इस विषय का वर्णन दिया है जो आधुनिक काल के राजदूतों के तत्सम्बन्धी आचरण एवं व्यवहार से बहुत कुछ समानता रखता है । प्राचीन भारत के अन्य ग्रन्थों में दूत के आचरण एवं व्यवहार पर इतना स्पष्ट एवं युक्तियुक्त वर्णन उपलब्ध नहीं है । इस दृष्टि से कौटिल्य की विशेषता मानी जाएगी ।

दूतों के कर्तव्य—आचार्य कौटिल्य ने संक्षेप में दूतों के कर्तव्यों का भी उल्लेख किया है । दूतों के कर्तव्यों को निर्धारित करते हुये उन्होंने बतलाया है कि राजा अपने दूतों के द्वारा इन कार्यों का सम्पादन कराते हैं—दूसरे राज्यों के शासकों के पास अपना सन्देश भेजना, पूर्व में की हुई सन्धि के नियमों का पालन करवाना, अपने प्रताप को प्रकट करवाना, मित्रों का संग्रह करना, शत्रु के मित्रों में भेद उत्पन्न करवाना, चुपचाप दण्ड देने की व्यवस्था करवाना, शत्रु के बन्धु-बान्धव आदि अच्छे अच्छे व्यक्तियों का संग्रह करना, गुप्तचरों का ज्ञान प्राप्त करना, पराक्रम का प्रयोग, सन्धि के रूप में मुक्त किये गये राजकुमारों आदि को मुक्त करवाना तथा अपने कार्य की सिद्धि के निमित्त मारण आदि प्रयोगों का आश्रय लेना यह दूतों के कर्तव्य माने गये हैं ।^२

कौटिल्य का कथन है कि दूत को शत्रु के राज्य में तोड़ने-फोड़ने योग्य व्यक्तियों को तोड़-फोड़ कर अपनी ओर मिला लेना चाहिए, जो तोड़ने फोड़ने में नहीं आएँ उन का सूक्ष्म दृष्टि से ज्ञान प्राप्त कर लेना चाहिए । विरोधी राजा के रन्ध्र (छिद्र) तथा अमर्यादि प्रकृति का अनुराग और द्वेष तापस तथा वैदेहक रूपधारी अपने राज्य के गुप्तचरों से पता लगाते रहना चाहिए ।^३ इन तापस और वैदेहक गुप्तचरों के शिष्य, वैद्य तथा अन्य बनावटी भेषधारी एवं दोनों ओर से वेतन लेने वाले गुप्तचरों से भी

१—शासनमनिष्टमुक्त्वा बन्धवधभयादविसृष्टो व्यपगच्छेत् ॥

वार्ता ४७ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—प्रेषणं सन्धिपालत्वं प्रतापो मित्रसंग्रहः ।

उपजापः सुहृद्भेदो गूढदण्डातिसारणम् ॥ श्लोक ४६ अ० १६ अधि० १ अर्थ० ॥

बन्धुरत्नापहरणं चारज्ञानं पराक्रमः ।

समाधिमोक्षो दूतस्य कर्म योगस्य चाश्रयः ॥

श्लोक ५० अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—कृत्यपक्षोपजापमकृत्यपक्षे गूढप्रणिधानं रागापरागौ भर्तरिरन्ध्रं च

प्रकृतीनां तापसवैदेहकव्यञ्जनाभ्यामुखलभेत ॥

वार्ता २६ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

पूर्वोक्त बातों का पता लगाया जा सकता है ।^१ यदि उन लोगों के साथ बात-चीत का अवसर न मिल सके तो याचक, मत्त, उन्मत्त तथा सुप्त व्यक्तियों के प्रलापों से इन बातों का ज्ञान प्राप्त करना चाहिए ।^२ इसके अतिरिक्त तीर्थ स्थान देवालय, चित्रशाला तथा अन्य लेखनकला आदि के संकेतों द्वारा परराज्य के समाचारों से पता लगाते रहना चाहिए ।^३ जब पता लग जाए तो जिसकी तोड़-फोड़ करनी है उन्हें तोड़-फोड़ देना चाहिए ।^४

दूत के विशेषाधिकार—राजा के अनेक कर्तव्यों में दूत-प्रेषण कार्य की व्यवस्था करना भी एक महत्वपूर्ण माना गया है । दूत का पद बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता था । मनु के मतानुसार राजाओं के मध्य सन्धि और विग्रह कार्य दूत के अधीन होना चाहिए ।^५ दूत ही राजाओं में मेल करता है और मिले हुए में भेद उत्पन्न करता है । दूत वह कार्य करता है जिससे मनुष्यों में भेद उत्पन्न हो जाता है ।^६ राज्य के ऐसे महत्वपूर्ण और मार्मिक (नाजुक) परिस्थितियों में कार्य करनेवाले व्यक्ति को कुछ विशेष अधिकार मिलना आवश्यक हो जाता है । इसीलिए कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कुछ ऐसे विशेष अधिकारों की ओर संकेत किया गया है जिनके भोगने का अधिकार दूत को प्राप्त था । इनमें सबसे महत्वपूर्ण विशेषाधिकार दूत के अवध्य होने का था ।

(क) अवध्यता का विशेषाधिकार—प्राचीन भारत में दूत-प्रेषण प्रणाली सुव्यवस्थित रूप में प्रचलित थी । एक राजा अपना सन्देश दूसरे राजा के समक्ष दूतों द्वारा ही प्रेषित करता था । यह सन्देश प्रिय और अप्रिय दोनों प्रकार के हो सकते हैं । प्रिय सन्देश को सुनकर राजा स्वभावतः प्रसन्न होगा । कभी कभी यह अप्रिय सन्देश ऐसे भी हो सकते हैं जो राजा के लिए अति कटु प्रतीत हों और जो उसके लिए असह्य हों । ऐसे अप्रिय एवं असह्य सन्देश को सुनकर राजा आवेशके वश होकर दूत पर क्रोध प्रकट कर उसके वध का आदेश भी दे सकता है । इस परिस्थिति से दूत की रक्षा करने के लिए एवं दूत प्रेषण कार्य के विधिवत संचालन हेतु प्राचीन भारत में राज-शास्त्र प्रणेताओं ने एक मत होकर दूत के वध के निषेध सम्बन्धी व्यवस्था की घोषणा

१—तयोरन्तेवासिभिश्चिकित्सकपापण्डव्यब्जिनोभयवेतमैर्वा ॥

वार्ता २७ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तेषामसंभाषायां याचकमत्तोन्मत्तसुप्तप्रलापैः ॥

वार्ता २८ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—पुण्यस्थानदेवगृहचित्रलेख्यसंज्ञाभिर्वा चारमुपलभेत ॥

वार्ता २९ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—उपलब्धस्योपजापमुपेयात् ॥

वार्ता ३० अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—दूतेनसन्धिविपर्ययौ ॥

श्लोक ६५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

६—दूत एवहि संधत्ते भिनस्येव च संहतान् । दूतस्यत्कुरुते कर्म भिद्यन्ते येन मानवाः ॥

श्लोक ६६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

की है। कौटिल्य अपने अर्थशास्त्र में इस व्यवस्था का प्रतिपादन करते हुए अपनी मत इस प्रकार प्रकट करते हैं—जिस राजा के पास दूत सन्देश ले जाता है यदि दूत से मिलने पर उसकी वाणी, मुख और दृष्टि पर प्रसन्नता की झलक आ जाए, दूत के वचन का आदर करे, प्रिय प्रश्न करे, सन्देश भेजनेवाले राजा के गुणों के सुनने में मन लगाए, दूत को अपने समीप आसन दे, सत्कार करे, इष्टमित्रों की कुशल पूछे तथा दूत पर विश्वास प्रकट करे तो समझ लेना चाहिए कि यह राजा प्रसन्न है।^१ यदि इसके विपरीत आचरण धारण करे अथवा चेष्टा करे तो समझ लेना चाहिए कि राजा अप्रसन्न है।^२ ऐसी परिस्थिति में दूत को राजा से निवेदन कर देना चाहिए^३ कि राजागण तो दूतों के द्वारा ही परस्पर बात करते हैं। निश्चय पूर्वक दूत ही राजा के मुख होते हैं।^४ ऐसी अवस्था में दूत को अपने सन्देशानुसार कटु वा मधुर सब कुछ कहने का अधिकार है। तुम हो अथवा अन्य कोई राजा हो सबको दूत तो इसी प्रकार भेजने ही पड़ते हैं और सबके दूत इसी प्रकार निर्भीकता से अपने राजा के सन्देश को प्रस्तुत करते हैं। दूत चाहे चाण्डाल ही क्यों न हो वह भी अवध्य ही है। राजा द्वारा (दूत के वध के लिए) शस्त्र उठा लेने पर भी दूत तो यथोक्त बात ही कहता है अथवा उस को कहनी चाहिए।^५ यदि चाण्डाल दूत भी इस परिस्थिति में हो तो भी वह अवध्य है फिर ब्राह्मण दूत के अवध्य होने में तो सन्देह ही क्या है।^६ दूत का धर्म दूसरे की बात को सत्य-सत्य कहना ही है।^७

इस प्रकार कौटिल्य के उपर्युक्त कथन से इस सिद्धान्त की स्थापना हो जाती है कि उनके मतानुसार दूत अवध्य माना जाता था और इस प्रकार दूत को अवध्यता का अधिकार प्राप्त था।

बाल्मीकीय रामायण में भी दूत की अवध्यता के सिद्धान्त की स्थापना की गयी है। रामायण के सुन्दर काण्ड में यह वर्णन मिलता है कि हनुमान ने लंका राज्य में पहुँच कर बहुत बड़ा उत्पात किया। यहाँ तक कि उन्होंने वहाँ के राजा रावण के एक

१—परस्य वाचि वक्त्रे दृष्ट्यां च प्रसादं वाक्य पूजनमिष्टपरिप्रश्नं गुणकथा

संगमासन्नमासनं सत्कारमिष्टेषु स्मरणं विश्वासगमनं च लक्ष्येत्पुष्टस्य ॥

वार्ता १३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—विपरीतमनुष्टस्य ॥

वार्ता १४ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तं ब्रूयात् ॥

वार्ता १५ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—दूतमुखा व राजानस्त्वं चान्ये च ॥

वार्ता १६ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—तस्मादुद्यतेऽपि शस्त्रेषु यथोक्तवक्त्रास्तेषामन्तावसायिनोऽव्यवधाः ॥

वार्ता १७ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—किमङ्ग पुनर्ब्राह्मणाः ॥

वार्ता १८ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—परस्येतद्वक्त्रमेव दूतधर्म इति ॥

वार्ता १९ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

पुत्र का भी वध कर दिया था। इतना होने पर भी जब हनुमान ने कहा कि वह राम के दूत हैं तो दूत होने के कारण उनको प्राण-दण्ड नहीं दिया गया। रामायण में यह घटना इस प्रकार दी गयी है—क्रोध से जलते हुए रावण ने हनुमान के वध की आज्ञा दी।^१ इस पर शत्रु विजयी निपुण वक्ता विभीषण कर्तव्य निश्चित करके पूज्य भाई से नम्रता पूर्वक अत्यन्त हितकारी वचन बोले।^२ क्षमा कीजिये राक्षसेन्द्र ! क्रोध का त्याग कीजिए ! प्रसन्न होयिए और मेरी बात सुनिये। ऊँच-नीच का ज्ञान रखनेवाले सज्जन राजा दूत का वध नहीं करते।^३ वीर ! इस वानर का वध करना धर्म विरुद्ध लोक-व्यवहार से निन्दित तथा तुम्हारे (राजा के) अयोग्य है।^४ लंकेश्वर राक्षसेन्द्र आप प्रसन्न हों। धर्म और धर्मयुक्त मेरे वचन सुनें। सब समयों में सब स्थानों में दूत अवध्य है ऐसा सन्त पुरुष कहते हैं।^५ दूत चाहे साधु हो अथवा असाधु। वह तो दूसरे का भेजा हुआ एवं दूसरे की बात का कहने वाला होता है। इसलिए दूत के वध का सदैव निषेध किया गया है।^६ इस प्रकार वाल्मीकीय रामायण में दूत के अवध्य होने के सिद्धान्त की सम्पुष्टि की व्यवस्था दी गयी है। दूत अवध्य था। इस नियम का पालन इस प्रकार, प्राचीन भारत के अनार्य राज्यों में भी होता था।

दूत अवध्य है इस सिद्धान्त का प्रतिपादन महाभारत में भी किया गया है। दूत का वध करने वाला राजा नरक गामी होता है और उसके पितर भ्रूणहत्या पाप के भागी होते हैं। इस विषय में महाभारत में इस प्रकार उल्लेख है—राजा चाहे जिस आपत्ति में क्यों न ग्रस्त हो परन्तु उसको दूत का वध नहीं करना चाहिए क्योंकि दूत का वध करने वाला राजा मन्त्रियों सहित नरक को जाता है।^७ क्षात्रधर्म में रत जो

१—आज्ञापयद्वधं तस्य रावणः क्रोधमूर्च्छितः ॥ श्लोक १ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

२—निश्चितार्थस्ततः साम्ना पूज्यं शत्रुजिदग्रजम् ।

उवाच हितमत्यर्थं वाक्यं वाक्यविशारदः ॥ श्लोक ४ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

३—क्षमस्वरोषं त्यज राक्षसेन्द्र प्रसीद मे वाक्यमिदं शृणुष्व ।

वधं न कुर्वन्ति परावरजा दूतस्य सन्तो वसुधाधिपेन्द्राः ॥

श्लोक ५ सर्ग ५२ सुन्दरकाण्ड ॥

४—राजन्धर्मविरुद्धं च लोकवृत्तेश्च गहितम् ।

तव चासदृशं वीर कपेरस्य प्रमापणम् ॥ श्लोक ६ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

५—प्रसीद लंकेश्वर राक्षसेन्द्र धर्मर्थतत्त्वं वचनं शृणुष्व ।

दूता न वध्याः समयेषु राजन्सर्वेषु सर्वत्र वदन्ति सन्तः ॥

श्लोक १३ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

६—साधुवि यदि वाऽसाधुः परैरेष समर्पितः ।

प्रवन्परायं परवान्न दूतो वधमर्हितः ॥ श्लोक १६ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

७—न तु न हन्यान्तृषो जातु दूतं कस्याच्चिदापि ।

दूतस्य हन्ता निरमयमा विशेस्तच्चिवैः सह ॥ श्लोक २६ अ० ८५ शा० पर्व ॥

राजा यथोक्तवादी दूत का बध करते हैं उनके पितर गण भ्रूणहत्या के भागी होते हैं।^१ इस प्रकार महाभारत में भी दूत का बध महान पाप माना गया है। रामायण और महाभारत दोनों ग्रन्थों में, इस प्रकार, कौटिल्य के समान ही इस विषय में मत प्रकट किए गए हैं।

(ख) दूत के लिए विशेष विधियों का प्रयोग — कौटिल्य ने दूत का वर्णन करते हुए कहीं भी इस विषय को स्पष्ट नहीं किया है कि पर राज्य में वास करते हुए दूत पर किन नियमों अथवा विधियों को लगाया जाना चाहिए। यह नियम अथवा विधि उसी विशेष राज्य के होने चाहिए जिस राज्य में वह दूत बनाकर प्रेषित किया गया है अथवा वह उस राज्य के होने चाहिये जिसका कि दूत नागरिक है अथवा अन्य विशेष प्रकार के नियमों अथवा विधियों को उस पर लागू किया जाना चाहिये। परन्तु दूतों के विषय में जो कुछ भी कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में वर्णन दिया है उससे यह अवश्य विदित होता है कि किन्हीं विषयों में दूत राज्य के सामान्य विधियों से मुक्त माने गये हैं। कुछ ऐसे विधियों एवं प्रथाओं तथा परम्पराओं का निर्माण हो चुका था जिनके अनुसार दूतों को अपना आचरण एवं व्यवहार धारण करना पड़ता था और यह विशेष नियम एवं प्रथाएँ तथा परम्पराएँ प्राचीन भारत के लगभग प्रत्येक सभ्य राज्य में समान रूप में पाली जाती थी। इसलिये यह कहना अनुचित न होगा कि दूतों के आचरण एवं व्यवहार के विषय में राज्य विशेष के सामान्य विधियों को लागू न करके यही विशेष विधियों अथवा प्रथाओं एवं परम्पराओं को लागू किया जाता था। इसीको आधुनिक भाषा में इस प्रकार व्यक्त किया जा सकता है—दूतों के आचरण एवं व्यवहार का निर्णय अन्तर्राष्ट्रीय विधियों द्वारा किया जाता था। इस सिद्धान्त की पुष्टि इस बात से भी होती है कि दूत अवध्य मान लिया गया था। दूत बन्दी बनाया जा सकता था तथा उसको अन्य प्रकार के दण्ड दिये जा सकते थे। दण्ड के इन प्रकारों को प्रत्येक सभ्य राज्य ने दूतों के लिये समान रूप में स्वीकार कर रखा था और उनका पालन किया जाता था।

इसी सिद्धान्त की पुष्टि वाल्मीकीय रामायण में स्पष्ट शब्दों में की गयी है। हनुमान ने लंका राज्य में पहुँच कर वहाँ इस प्रकार के उपद्रव किये थे जिनके परिणाम स्वरूप लंका राज्य के विधियों के अनुसार हनुमान को प्राण दण्ड मिलना चाहिये था परन्तु वह दूसरे राज्य से भेजे हुये दूत थे अतः उन्हें प्राण दण्ड नहीं दिया गया था। इसी प्रसंग में विभीषण ने दण्ड के कुछ ऐसे प्रकारों का उल्लेख किया है जो दूतों को दिये जाते थे। परन्तु इस प्रकार के दण्ड केवल लंका राज्य में भेजे जाने वाले दूतों पर ही लागू न किये जाते थे किन्तु उस युग के समस्त सभ्य राज्यों में दूतों के लिये निर्धारित किये गये थे। इन विशेष दण्डों का उल्लेख करते हुये विभीषण ने अपने राज्य के राजा

१—यथोक्तवादिमं दूतं क्षात्रधर्मतोमृपः ।

यो हन्यात्पितरस्तस्य भ्रूणहत्यामवाप्नुयुः ॥ श्लोक २७ अ० ८५ शा० पर्व ॥

रोवण को हनुमान को किस प्रकार का दण्ड दिया जाना चाहिये इस विषय में अपनों मत इस प्रकार दिया है—निस्संदेह यह शत्रु बहुत बड़ा हुआ है और इसने बहुत बड़ा अप्रिय कार्य किया है फिर भी सन्त गण दूतों के वध की सम्मति नहीं देते। उनके लिये दूसरे अनेक दण्ड उन्होंने निर्धारित किये हैं और वह इस प्रकार^१ हैं—अंग भंग कर देना, कोड़े लगवाना, भौं आदि मुड़वा देना, मस्तक पर किसी गरम वस्तु से कोई विशेष चिन्ह बनवादेना इस प्रकार के दण्ड दूतों के लिये निर्धारित किये गये हैं। उनका वध तो मैंने कहीं सुना ही नहीं है।^२

दूत के प्रकार—योग्यता एवं अधिकारों की दृष्टि से कौटिल्य ने दूतों को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है। दूतों की यह तीन श्रेणियाँ निसृष्टार्थ, परिमितार्थ और शासन-हर हैं। जिस दूत में वह योग्यताएँ हों जोकि अमात्यपद के लिये निर्धारित की गयी हैं तो वह दूत निसृष्टार्थ दूत कहलाएगा।^३ प्राचीन भारत के कतिपय आचार्यों ने मंत्रिपरिपद् के अन्तर्गत दूत को भी माना है। इससे यह विदित होता है कि यह आचार्य भी दूत पद के लिए अमात्यपद की योग्यताओं की प्राप्ति का आदेश देते हैं। महाभारत में दूत की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए बतलाया गया है कि दूत को कुलीन वंशोत्पन्न, वाग्मी (सुवक्ता), दक्ष, प्रियभाषी, यथोक्तवादी, स्मृतिमान होना चाहिए।^४ दूत पद के लिए योग्यता का उल्लेख करते हुए मनु ने भी लगभग इन्हीं योग्यताओं को निर्धारित किया है। मनु के मतानुसार बहुश्रुत, आकार और चेष्टाओं के विकार से आन्तरिक भावों के जानने की क्षमता रखने वाला, पवित्र आचरणवाला, दक्ष, उच्च वंशोत्पन्न, राजभवत, देश-काल का ज्ञाता, स्मृतिमान, सुन्दर आकारवाला, निर्भीक, वाग्मी और समस्त शास्त्रों का ज्ञाता होना चाहिए।^५ शुक्र ने दूत को मंत्रिपरिपद्

१—असंशयं शत्रुरयं प्रवृद्धः कृतं ह्य नेनाप्रियमप्रमेयम् ।

न दूतं वध्यां प्रवदन्ति सन्तो दूतस्य दृष्टा बहवो हि दण्डाः ॥

श्लोक १४ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

२—वैरूप्यमङ्गेषु कशाभिघातो मौण्ड्यं तथा लङ्घनसंनिपातः ।

एताद्भिदूते प्रवदन्ति दण्डान्यधस्तु दूतस्य न नः श्रुतोऽस्ति ॥

श्लोक १५ सर्ग ५२ सुन्दर काण्ड ॥

३—अमात्यसंपदोपेतो निसृष्टार्थः ॥ वार्ता २ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—कुलीनः कुलसम्पन्नो वाग्मी दक्षः प्रियंवदः ।

यथोक्तवादी स्मृतिमान् दूतः स्यात्सप्तभिर्गुणैः ॥ श्लोक २८ अ० ८५ शा० पर्व ॥

५—दूतं चैव प्रकुर्वीत सर्वशास्त्रं विशारदम् ।

इ गिताकारचेष्टज्ञं शुचिं दक्षं कुलोद्भूतम् ॥

श्लोक ६३ अ० ७ मानव धर्मशास्त्र ॥

अनुरक्तः शुचिर्दक्षः स्मृतिमान्देशकालवित् ।

वपुष्मान् वीतभीर्वाग्मी दूतो राज्ञः प्रशस्यते ॥

श्लोक ६४ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

(५५)

का सदस्य माना है। उन्होंने दूत की योग्यताओं को निर्धारित करके, बतलाया है कि दूत को इंगित और आकार का ज्ञाता, स्मृतिमान, देश-काल का ज्ञाता, पाङ्गुण्य नीति का पण्डित, वाग्मी और निर्भीक होना चाहिए।^१ निसृष्टार्थ शब्द से ज्ञात होता है कि इस श्रेणी के दूतों को विशेष अधिकार प्राप्त थे और जो अन्य श्रेणी के दूतों को प्राप्त न थे। निसृष्टार्थ श्रेणी के दूत राजा का सन्देश परराजाओं के समक्ष प्रस्तुत करते थे और उन राजाओं का सन्देश अपने राजा के समक्ष तो प्रस्तुत ही करते थे परन्तु उन्हें इस अधिकार के अतिरिक्त कतिपय अन्य अधिकार भी प्राप्त रहते थे। निसृष्टार्थ दूतों को अपनी बुद्धि से अपने राजा के कार्य सिद्धि के अनुकूल योग्य बात-चीत अपनी स्वतंत्र बुद्धि से भी चलाने का अधिकार प्राप्त रहता था। निसृष्टार्थ दूत का पद आधुनिक काल के राजदूतों (Ambassador) के समान होता था। इस प्रकार विशेष प्रकार से योग्य व्यक्ति ही निसृष्टार्थ दूत के पद पर नियुक्त किए जा सकते थे।^२

दूसरी श्रेणी के दूतों को कौटिल्य परिमितार्थ दूत के नाम से सम्बोधित करते हैं। इनकी योग्यता का उल्लेख करते हुए उन्होंने बतलाया है कि इस श्रेणी के दूत में अमात्य की योग्यता से कुछ न्यून योग्यताएँ हो सकती हैं, अमात्यपद के लिए निर्धारित योग्यताओं से तीन चौथायी योग्यताएँ इस पद के लिए वाञ्छनीय मानी गयी हैं।^३ निसृष्टार्थ दूत की अपेक्षा परिमितार्थ दूत के अधिकार सीमित माने गए हैं। परिमितार्थ दूत राजा द्वारा निर्धारित अधिकार सीमा के अन्तर्गत ही पर-राजा से बात करने का अधिकार रखता था। इसीलिए इस दूत को परिमितार्थ दूत के नाम से सम्बोधित किया गया है। तीसरी श्रेणी में कौटिल्य मद्बोध्य ने उन दूतों को परिगणित किया है जो शासनहर कहलाते थे। शासनहर दूतों के लिए कौटिल्य ने अमात्यपद की अर्धयोग्यता मात्र निर्धारित की है।^४ शासनहर कोटि के दूत अपने राजा के शासन (सन्देश) को पर-राजा के पास ले जाने एवं पर-राजा के शासन (सन्देश) को स्व-राजा के पास ले आने मात्र का अधिकार रखते थे। इसके अतिरिक्त और किसी प्रकार का अधिकार इस विषय में उन्हें प्राप्त न था।

इस प्रकार योग्यता एवं अधिकार सीमा की दृष्टि से कौटिल्य ने दूतों को तीन श्रेणियों में परिगणित किया है। प्राचीन भारत के कतिपय अन्य आचार्यों ने दूतों का वर्णन तो दिया ही है, उन्होंने दूतों की योग्यताओं, अधिकारों एवं कर्तव्यों का भी उल्लेख किसी अंश तक किया है। परन्तु उनके कर्तव्यों एवं अधिकारों तथा योग्य-

१—इंगिताकार चेष्टज्ञः स्मृतिमान्देशकालवित् ।

पाङ्गुण्यमंत्रविद्वान्मीवीतभीदुतइष्यते ॥

श्लोक ८६ अ० २ शुक्रनीति ॥

२—अमात्यसम्पदेपेतो निसृष्टार्थः ॥

वार्ता २ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—पादगुणहीनः परिमितार्थः ॥

वार्ता ३ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—अर्धगुणहीनः शासनहरः ॥

वार्ता ४ अ० १६ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

(५६)

ताओं के आधार पर उनका वर्गीकरण इतना स्पष्ट नहीं किया है जितना कि कौटिल्य के द्वारा किया गया है । इस दृष्टि से कौटिल्य में यह विशेषता पायी जाती है ।

दूत के सम्बन्ध में उपर्युक्त वर्णन के आधार पर ऐसा विदित होता है कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रचनाकाल में दूत-व्यवस्था विकसित दशा में थी ।

षष्ठ अध्याय

चर व्यवस्था

चर की आवश्यकता—प्राचीन भारत के सभी राजशास्त्र प्रणेताओं ने राजा का एक मात्र कर्तव्य प्रजारंजन बतलाया है। उसकी प्रत्येक क्रिया का उद्देश्य प्रजा का आत्यन्तिक कल्याण करना ही होना चाहिए। अपने इस उद्देश्य की प्राप्ति के लिए राजा को अपनी प्रजा के दैनिक जीवन का पूरा व्योरा भी ठीक-ठीक मिलता रहना आवश्यक होगा। उसको इस विषय की सूचना हर समय मिलती रहनी चाहिए कि उसके द्वारा-संचालित शासन-व्यवस्था सम्बन्धी योजनाओं का प्रभाव उसकी प्रजा वर्ग पर किस प्रकार पड़ रहा है। उसके शासन कार्य में कोई ऐसी त्रुटि तो नहीं हो रही है जिसके कारण उसके अधीन प्रजा को क्लेश हो रहा हो, अथवा उसके राज्य में कोई ऐसे कर्म-चारी तो नहीं हैं जो अपने कर्तव्यों का विधिवत पालन न कर रहे हों और जिसके कारण प्रजा पीड़ित हो रही हो अथवा प्रजा में ही कुछ ऐसे व्यक्ति अथवा व्यक्ति समूह तो नहीं हैं जो राज्य में प्रजा के सुख और शान्ति में बाधा उत्पन्न कर रहे हों। इस प्रकार राजा को अपनी प्रजा के सुख-दुख के कारणों का विवरण भली भाँति ज्ञात होना चाहिए। ऐसे ही उद्देश्यों की प्राप्ति हेतु प्राचीन भारत में चर-व्यवस्था का संघठन किया गया था।

कौटिल्य ने भी राजाओं के निमित्त चर-व्यवस्था की स्थापना परम आवश्यक बतलायी है। उन्होंने चर-व्यवस्था की स्थापना के विषय में अर्थशास्त्र में विस्तृत वर्णन दिया है। प्राचीन भारत के राजशास्त्र के अन्य आचार्यों ने चर-व्यवस्था के संघठन एवं उसके अनुसार कार्यसंचालन का इतना स्पष्ट एवं विस्तृत वर्णन कहीं नहीं दिया है। इस दृष्टि से इस विषय में आचार्य कौटिल्य में विशेषता है। उन्होंने चरों के अनेक भेद बतलाए हैं; और यह भेद उनके कर्तव्य भेद के आधार पर माने गए हैं।

चर-भेद—कौटिल्य ने चरों के मुख्य नौ भेद माने हैं जिन्हें वह कापटिक, उदा-स्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, सत्री, तीक्ष्ण, रसद और भिक्षुकी के नाम से सम्बोधित करते हैं।^१ यहाँ पर इन नौ प्रकार के चरों के विशेष लक्षण और कर्तव्य अलग-अलग बतलाए जायेंगे।

(१) कापटिक—कौटिल्य ने कापटिक नाम के चर के विशेष लक्षणों का वर्णन इस प्रकार किया है—लोगों के गुप्त रहस्यों का पता लगानेवाला, वाचाल, विद्यार्थी का कपटी

वेष बनाए रहने वाला चर कापटिक चर कहलाता है ।^१ कापटिक चर के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए कौटिल्य उसके कर्तव्य इस प्रकार निर्धारित करते हैं—कापटिक चर मंत्री के सम्पर्क में रहने वाला चर होता है । उसका मुख्य कर्तव्य राज्य में राजा और मंत्री के विरुद्ध किए जानेवाले अकल्याणकारी कार्यों का पता लगाकर मंत्री को उन कार्यों एवं परिस्थितियों से अवगत करना चाहिए ।^२

(२) उदास्थित—कौटिल्य उस गुप्तचर को उदास्थित नाम से सम्बोधित करते हैं जो बुद्धिमान, पवित्र, आचरणवाला, सन्यास वेष धारण किए रहता है ।^३ उदास्थित नाम का चर व्यापारियों और पशुपालन धन्वाधारियों के मध्य सन्यास वेष धारण कर अपने सहचर विद्यार्थी रूप धारण किए हुए चरों के साथ वास करता है, और उनके दैनिक आचरण एवं व्यवहार सम्बन्धी क्रियाओं का समाचार राजा तक पहुँचाता रहता है ।^४ इस प्रकार उदास्थित कोटि के चरों का मुख्य कर्तव्य वार्ता से सम्बन्धित जनता के गुप्त रहस्यों का पता लगाना और उन्हें राजा तक पहुँचाना था । उदास्थित नाम के गुप्तचर के कार्यक्षेत्र को निर्धारित करते हुए कौटिल्य ने इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर यह व्यवस्था दी है कि राजा को उदास्थित और कर्षक नाम के गुप्तचरों को राष्ट्र (Countryside) में नियुक्त किया जाना चाहिए ।^५

(३) गृहपतिक—वृत्तिरहित, बुद्धिमान और शुद्ध आचरणयुक्त कृषक वेषधारी गुप्तचर गृहपतिक नाम से सम्बोधित किया गया है ।^६ गृहपतिक गुप्तचर का कार्यक्षेत्र राज्य की कृषक प्रजा के मध्य निर्धारित किया गया है । कृषक वर्ग को अपने राजा के अनुकूल बनाए रखना इस कोटि के गुप्तचरों का मुख्य कर्तव्य माना गया है ।^७ इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर गृहपतिक चर का कार्यक्षेत्र उदास्थित नाम के गुप्तचरों के

१—परमर्गजः प्रगल्भः छात्रः कापटिकः ॥ वार्ता ३ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—राजानं मां च प्रमाणं कृत्वा यस्य यदकुशलं पश्यसि तत्तदानीमेव प्रत्यादिशेति ॥
वार्ता ५ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—प्रवृज्जशत्रुपवसितः प्रज्ञाशौचयुक्त उदास्थितः ॥
वार्ता ६ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—सवार्ताकर्म प्रदिष्टायां भूमौ प्रभूत हिण्यान्तेवासी कर्म कारयेत् ॥
वार्ता ७ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे × × ॥ श्लोक २४ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—कर्षको वृत्तिहीणः प्रज्ञाशौचयुक्तो गृहपतिकव्यञ्जनः ॥
वार्ता १२ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—स कृषिकर्म प्रदिष्टायां भूमाविति समानं पूर्वेण ॥
वार्ता १३ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

साथ-साथ राष्ट्र में निर्धारित किया गया है ।^१ जिसका तात्पर्य यही है कि इन चरों को राज्य की कृषक प्रजा के सम्पर्क में रहकर उनमें राजा के प्रति अनुराग उत्पन्न करते रहना है ।

(४) वैदेहक—वृत्तिहीन, वाणिज्य करनेवाला, बुद्धिमान, शुद्ध आचरणयुक्त, व्यापारी का वेषधारण करनेवाले चर को वैदेहक नाम दिया गया है ।^२ उसका कर्तव्य व्यापारियों के व्यापार के स्थानों पर रहकर व्यापारी वर्ग को राजा के अनुकूल बनाना माना गया है ।^३ इस प्रकार व्यापारियों के आचरण एवं व्यवहार तथा उन के दैनिक जीवन से सम्बन्धित घटनाओं के विषय में राजा को सत्य-सत्य समाचार देना एवं राज्य के व्यापारी वर्ग को राजा के अनुकूल बनाए रखने का प्रयत्न करना इस कोटि के चर का मुख्य कर्तव्य माना गया है ।

(५) तापस—तापस कोटि के चर मूढ़मुड़ाए अथवा जटाधारी वेषधारण करते थे ।^४ वह वृत्ति पानेवाले चर नगर के पास बहुत से मूढ़मुड़ाए अथवा जटाधारी विद्यार्थी लेकर शाकाहार अथवा हरित अन्न-भोजन करके एक दो महीने तक जनता को अपना आडम्बर दिखाकर अपना विश्वासी बना लेते थे ।^५ गुप्त रूप से वह अपनी रुचि के अनुरूप भोजन कर सकते थे ।^६

कौटिल्य ने यह भी कहा है कि इनके बड़े सिद्ध तापस होने की प्रसिद्धि करने में वैदेहक नाम के चर इनकी सहायता करते रहें ।^७ इनका मुख्य कर्तव्य यह बतलाया गया है कि जो लोग किसी कारणवश कुपित हो गए हों तो उनका सत्कार धन और मान से कराकर उनको सन्तुष्ट कर देना चाहिए और इस प्रकार उनके कोप को शान्त

१—कर्षकोदास्थिता राष्ट्रे × × ॥ श्लोक २४ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—वाणिजको वृत्तिज्ञोः प्रज्ञाशौचयुक्तो वैदेहकव्यञ्जनः ॥

वार्ता १४ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—स वणिक्कर्म प्रदिष्टायां भूमाविति समान पूर्वेण ॥

वार्ता १५ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—मुण्डो जटिलो वा वृत्तिकामस्तापसव्यञ्जनः ॥

वार्ता १६ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—स नगराभ्यां प्रभूतमुण्डजटिलान्तेवासी शाकं यवसमुष्टिं वा मासद्विमा-
सान्तरं प्रकाशमश्नीयात् ॥ वार्ता १७ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—गूढमिष्टमाहारम् ॥

वार्ता १८ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—वैदेहकान्तेवासिनश्चैव समिद्धयोगैरर्चयेयुः ॥

वार्ता १९ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

शिष्याश्चास्यावेदेयुरसौ सिद्धः सामेधिक इति ॥

वार्ता २० अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

कस्ने का प्रयत्न करना चाहिए ।^१ परन्तु जो पुरुष बिना किसी कारण ही रुष्ट हुए हों उनको गुप्त-चुप दण्ड दिलवाना चाहिए । राजद्वेषियों का गुप्त रीति से वध करवाने की व्यवस्था उनके द्वारा की जानी चाहिए ।^२

(६) सत्री—हस्तरेखा के ज्ञाता, वशीकरण, मायावी मंत्र-तंत्र के ज्ञाता, इन्द्रजाल विद्या, आश्रमधर्म के ज्ञाता, शकुन और पक्षियों की बोली द्वारा शुभ और अशुभ के जाननेवाले चर सत्री नाम से सम्बोधित किए गए हैं ।^३ कामशास्त्र और गीत-नृत्य, आदि कला-कुशल चर भी सत्री कहलाते थे ।^४

(७) तीक्ष्ण राष्ट्र में शूरवीर, शक्तिशाली, शरीर और आत्मा की भी परवाह न करनेवाले और धन उपार्जन के निमित्त हाथी अथवा सिंह तक से युद्ध करने वाले चर तीक्ष्ण नाम से सम्बोधित किए गए हैं ।^५

(८) रसद—रसद नाम के चर बड़े क्रूर पुरुष होते थे । इस कोटि के चर अपने भाई-वन्धुओं पर भी स्नेह नहीं रखते थे और बड़े आलसी होते थे ।^६

(९) भिक्षुकी—जीविका की आकांक्षा वाली परिव्राजिका, गरीब विधवा, बात-चीत में कुशल रनिवास में सत्कार पाधी हुई ब्राह्मणी बड़े-बड़े अधिकारियों के घरों में प्रवेश करती रहें ऐसा कौटिल्य का मत है ।^७ इसी प्रकार मूड़मुड़ाए स्त्री अथवा घर में सेवा करनेवाली धोबिन, नाइन, भंगिन आदि भिक्षुकी कोटि में परिगणित की गयी हैं ।^८

चरों के दो मुख्यभेद—इन नौ प्रकार के चरों में से प्रत्येक प्रकार के चर

१—ये च कारणादभिक्रुद्धास्तानर्थमानाभ्यां शमयेत् ॥

वार्ता २६ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अकारणक्रुद्धास्तूष्णींदिग्देन राजद्विष्टकारिणश्च ॥

वार्ता २७ अ० ११ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—ये चाप्यसंबन्धिनोऽवश्यभर्तव्यास्ते लक्षणमङ्गविद्यां जम्भकविद्यां मायागतमाश्रमधर्मं निमित्तमन्तरचक्रमित्यधीयानाः सत्रिणः ॥

वार्ता १ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—संसर्गविद्या वा ॥ वार्ता २ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

५—ये जनपदे शूरास्त्यक्तात्ममानो हस्तिर्न व्यालं वा द्रव्यहेतोः प्रतियोधयेयुस्तेतीक्ष्णाः ॥

वार्ता ३ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

६—येबन्धुषु निःस्नेहाः क्रूराश्चालसाश्च ते रसदाः ॥

वार्ता ४ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

७—परिव्राजिका वृत्तिकामा दरिद्रा विधवा प्रगल्भा ब्राह्मण्यन्तः पुरे कृत सत्कारा महामात्र कुलान्यधिगच्छेत् ॥ वार्ता ५ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

८—एतया मुण्डा वृषल्यो व्याख्याताः ॥ वार्ता ६ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

दो वर्गों में विभक्त किए गए हैं। इन दो प्रकार के चरों को कौटिल्य ने अभ्यान्तर और बाह्यचर के नाम से सम्बोधित किया है।

(अ) अभ्यान्तरचर—जो चर मंत्री आदि अधिकारीगण अथवा अन्य लोगों के घरों में सेवक के रूप में रहते थे और गुप्त रीति से उनके दैनिक जीवन सम्बन्धी घटनाओं की सूचना राजा तक पहुँचाते रहते थे अभ्यान्तर चर कहलाते थे। अभ्यान्तर चरों में रसोई बनानेवाले मांसपाचक, स्नान करानेवाले, हाथ-पैर धोनेवाले, विस्तर बिछाने वाले नाई, वस्त्र पहनानेवाले, जलभरनेवाले आदि काम करनेवाले व्यक्ति सम्मिलित थे। कुबड़े, बौने, मूर्ख, गूँगे, बहरे, पागल, अन्धे आदि के बहने तथा नट, नर्तक, गायक, वादक, कथा-कहानी कहनेवाले अथवा खेल तमाशा करनेवाले बनकर यह पुरुष एवं नारी-चर राज्य के कर्मचारियों के आचरण एवं व्यवहार का पता रखने के लिए नियुक्त किए जाने चाहिए। कौटिल्य ने इस प्रकार के चरों को अभ्यान्तर चर के नाम से सम्बोधित किया है।^१

(व) बाह्यचर—जब चर छत्र, चँवर, पंखा, पादुका, आसन, मान, वाहन आदि को धारण कर राजकीय सेवा कार्य ग्रहण कर अन्य राजकीय कर्मचारियों के भेद का पता लगाते रहते थे बाह्य चर कहलाते थे।^२

चर-संघठन—चरों का संघठन किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय में अर्थशास्त्र में विशेष वर्णन नहीं है। केवल कतिपय ऐसे संकेत अवश्य पाए जाते हैं जिनके आधार पर चर-संघठन का कुछ अनुमान किया जा सकता है। इन संकेतों के आधार पर ऐसा विदित होता है कि उपर्युक्त नौ प्रकार के चरों में से प्रत्येक प्रकार के चरों का एक अलग अपना संघठन होता था। इस प्रकार के संघठन को कौटिल्य ने संस्था की संज्ञा दी है।^३ इन संस्थाओं के अपने अपने अधिकारी गण होते थे। चर अपने-अपने कर्तव्यानुसार, समाचार को अपनी चर-संस्था के अधिकारी के पास पहुँचाते थे। वह अधिकारी इस प्रकार प्राप्त समाचार को राजा तक पहुँचाता था। एक चर संस्था के चर एवं अधिकारीगण दूसरी चर-संस्था के चरों द्वारा लाए गए और उस संस्था के अधिकारी द्वारा भेजे गए समाचार को जान न सके इस विषय का समुचित प्रबन्ध किया जाता था।^४

१—सूदारालिकस्नापकसंवाहकास्तरककल्पकप्रसाधकोदकपरिचारका रसदाः कुब्जवा मनकिरातमूकवधिरजडान्धच्छुद्मानो नटनर्तकगायनवादकवाजीवनकुशीलवाः स्त्रियश्चाभ्यान्तरं चारं विद्युः ॥ वार्ता ११ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—तेषां बाह्यं चारं छत्रशृङ्गाख्यजनपादुकासनयानवाहनोपग्राहिणः तीक्ष्णा विद्युः ॥ वार्ता ६ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तंभिक्षुवपः संस्थास्वर्षयेयुः ॥ वार्ता १२ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

४—न चान्द्रोन्यं संस्थास्ते वा विद्युः ॥ वार्ता १४ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

सांकेतिक लिपि का प्रयोग—गुप्त बातों का रहस्य न खुलने पाए इसलिंए चर विभाग में सांकेतिक लिपि का भी प्रयोग किया जाता था । चर विभाग के अन्तर्गत जो समाचार एक चर दूसरे चर अथवा चर-संस्था के अधिकारियों के पास लिख कर भेजे जाते थे उसके लिए वह एक विशेष प्रकार की लिपि का आश्रय लेते थे । इस लिपि को, चर विभाग के अतिरिक्त अन्य लोग समझ नहीं सकते थे । इस प्रकार की लिपि का प्रयोग अर्थशास्त्र के रचना काल में चर विभाग द्वारा किया जाता था इस सिद्धान्त की पुष्टि कौटिल्य के इन शब्दों द्वारा होती है—संस्था के अन्तेवासी (अन्तेवासी रूप में चर) कर्मचारी आनी सांकेतिक लिपि में लिखकर चर अथवा संचार नाम के चरों के पास समाचार पहुँचा दिया करें ।^१

चरों को दण्डविधान—कौटिल्य का मत है कि राजा को केवल एक चर द्वारा कही गयी बात पर ही विश्वास नहीं कर लेना चाहिए । किसी विषय में जब कम से कम तीन चरों से एक ही समाचार की पुष्टि हो जाए तब उस समाचार पर राजा को विश्वास करना चाहिए ।^२ यदि चर बार-बार असत्य समाचार लाता है तो इस प्रकार के चर को गुप्त रीति से दण्डित करना चाहिए अथवा उसको पदच्युत कर देना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है ।^३

इस प्रकार कौटिल्य ने चर-व्यवस्था का वर्णन अर्थशास्त्र में किया है और यह बतलाया है कि चर व्यवस्था की उत्तमता पर राज्य के शासन का उत्तम होना भी बहुत कुछ निर्भर है ।

१—संस्थानामन्तेवासिनः संज्ञालिपिभिरचारसंचारं कुर्युः ॥

वार्ता १३ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—त्रयाणामेकवाक्ये संप्रत्ययः ॥

वार्ता १७ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

३—तेषामभीक्ष्ण विनिपाते तूष्णींदण्डः प्रतिषेधोवा ॥

वार्ता १८ अ० १२ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

सप्तम अध्याय

न्याय-व्यवस्था

न्याय-कार्य के दो मुख्य क्षेत्र—प्राचीन भारतीय परम्परा के अनुसार राज्य का अस्तित्व प्राणी मात्र को उनके स्वधर्म पालन हेतु समुचित व्यवस्था करने पर आश्रित माना गया है। इस विचार धारा के अनुसार राज्य का सर्वोपरि कर्तव्य प्राणियों को उनके उचित अधिकारों के भोगने एवं उनके कर्तव्यों के पालन किए जाने के लिए अधिक से अधिक सुविधा प्रदान करना है। इस उद्देश्य की प्राप्ति के निमित्त राज्य में न्याय-व्यवस्था के संघठन करने की भी आवश्यकता होती है। इस व्यवस्था के द्वारा उन लोगों की खोज की जाती है जो स्वधर्म-पालन-कार्य में विघ्न बाधाएँ उपस्थित करते हैं और दूसरों के अधिकार-क्षेत्र पर आक्रमण करके मनुष्य-मनुष्य के मध्य कलह उत्पन्न करते हैं। इस व्यवस्था का संघठन करके, इस प्रकार उत्पन्न, कलह के मूल कारणों का पता लगाया जाता है और उनके निराकरण हेतु दोषियों को उनके दोष के अनुसार दण्ड-विधान किया जाता है। आचार्य कौटिल्य भी इसी परम्परा के पीपक हैं।

कौटिल्य ने न्याय कार्य को मुख्य दो क्षेत्रों में विभाजित किया है। इस विभाजन के अनुसार मनुष्य-जीवन का वह अंश जिसमें नागरिकों का पारस्परिक सम्पर्क होता है न्याय-कार्य के प्रथम क्षेत्र के अन्तर्गत आता है। नागरिकों के पारस्परिक सम्पर्क से उनके मध्य होने वाली कलह के मूल कारणों की खोज कर उनकी विवेचना करना और इस विवेचना के आधार पर दोषी को उसके दोष के अनुसार दण्ड विधान करना तथा निर्दोषी को उसके अधिकार दिलाने की व्यवस्था करना इस क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है। न्याय कार्य के इस क्षेत्र को प्राचीन भारत के अन्य आचार्यों की भाँति कौटिल्य ने भी व्यवहार की संज्ञा दी है। मनुष्य जीवन का दूसरा अंश वह है जिसमें उसका सम्पर्क राज्य के राजकर्मचारियों तथा राज्य के उपयोगी व्यवसायियों एवं कतिपय विशेष प्रकार के दुष्ट लोगों से होता है। मनुष्य जीव के इस क्षेत्र में इन राजकर्मचारियों एवं व्यवसायियों तथा दुष्टजनों के द्वारा मनुष्य के शोषण एवं पीड़न किए जाने के पर्याप्त अवसर प्राप्त होते रहते हैं। इसलिए जनता को इस प्रकार के शोषण एवं पीड़न से बचाने के लिए न्याय-व्यवस्था की स्थापना की आवश्यकता समझी गयी है। कौटिल्य ने न्याय-व्यवस्था के इस क्षेत्र को कण्टक-शोधन नाम से सम्बोधित किया है। यहाँ पर न्याय-व्यवस्था के इन दोनों क्षेत्रों का अलग-अलग वर्णन दिया जायगा।

व्यवहार की स्थापना—आधुनिक युग में व्यवहार शब्द का कोई राजनीतिक विशेष महत्त्व नहीं है। परन्तु प्राचीन भारत में इस शब्द का प्रयोग राजशास्त्र के

आचार्यों ने राजनीतिक विशेष अर्थ में किया है। जनता में मनुष्य-मनुष्य के मध्य पारस्परिक अधिकार-हरण सम्बन्धी जिन विवादों का जन्म होता है उनके निर्णयार्थ जो व्यवस्था की जाती है उसको व्यवहार के नाम से सम्बोधित किया गया है। इस परम्परा के अनुसार व्यवहार शब्द की व्याख्या करते हुए कात्यायन ने लिखा है—वि नानार्थेऽव सन्देहे हरणं हार उच्यते। नाना सन्देह हरेणात् व्यवहार इति स्मृतः। इस प्रकार व्यवहार शब्द की प्राप्ति वि + अव + हार से होती है। वि का अर्थ है विविध। अव से सन्देह और हार से हरण का बोध होता है। इस प्रकार व्यवहार से तात्पर्य उस क्रिया से है जिसके द्वारा नाना प्रकार के सन्देह दूर किए जा सकें। आचार्य कौटिल्य भी इसी विचारधारा में अटूट आस्था रखते थे। इसी दृष्टि से कौटिल्य ने व्यवहार की स्थापना पर विशेष महत्त्व दिया है।

व्यवहार के मार्ग—मनु और शुक्र ने व्यवहार के मार्गों की सूचियां दी हैं। परन्तु कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में इस प्रकार की सूची का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। उन्होंने व्यवहार के विषयों को सूची-बद्ध न करके अपितु उनका अलग वर्णन दिया है और तत्सम्बन्धी विवादों के रोक-थाम के लिये एवं दोषी को दण्ड देने तथा निर्दोषी को उसका अधिकार दिलाने के निमित्त दण्ड निर्धारित किये हैं। इस वर्णन से कौटिल्य के मतानुसार व्यवहार के मार्गों अथवा विषयों का भी बोध हो जाता है।

कौटिल्य ने व्यवहार के मार्गों का जो अलग-अलग वर्णन दिया है उसके अध्ययन करने से ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने व्यवहार के मार्ग लगभग वही माने हैं जिनका कि उल्लेख मानवधर्मशास्त्र में है। कौटिल्य ने इतना अवश्य किया है कि उन्होंने मनु द्वारा वर्णित व्यवहार के मार्गों में कहीं कहीं विशेषता लाने का सफल प्रयत्न किया है। कौटिल्य ने मानवधर्मशास्त्र में वर्णित व्यवहार के अटूटारह मार्गों का तो वर्णन किया ही है इसके साथ ही उन्होंने इसमें दास-कर्म मार्ग की वृद्धि की है। दाय-भाग में अंश विभाग और पुत्र विभाग का वर्णन कौटिल्य की विशेषता प्रकट करता है। इसके अतिरिक्त व्यवहार के अन्य मार्गों में भी कौटिल्य की बुद्धि का चमत्कार प्रकट होता है। अर्थशास्त्र के इस प्रसंग के अध्ययन करने के उपरान्त विदित होता है कि कौटिल्य ने व्यवहार के यह विषय अथवा मार्ग माने हैं—स्त्री-पुरुष के धर्म की व्यवस्था, परस्त्री-हरण एवं परस्त्री का पर पुरुष से सम्बन्ध, दायभाग, अंशविभाग, पुत्रविभाग, वास्तु-विवाद, ऋण लेकर न देना अथवा बिना दिये मांगना, निक्षेप, बिना स्वामी हुए किसी वस्तु का विक्रय, साझे का व्यवहार, दान, वेतन का न देना, प्रतिज्ञा भंग करना, दास-कार्य, द्रव्य-विक्रय सम्बन्धी विवाद, पशुस्वामी और पशुपाल का विवाद, सीमा-विवाद, डाका, चोरी, मारपीट, कठोर वचन का प्रयोग, ब्रज सम्बन्धी विवाद और धूत आदि। इस प्रकार व्यवहार के मार्गों की दृष्टि से कौटिल्य और मनु में समानता है। इतना अवश्य है। कि कौटिल्य ने व्यवहार के इन मार्गों की विशेष विवेचना की है।

न्यायालय—विवादों के सुनने और उनपर निर्णय देने के लिए न्यायालयों की स्थापना की जाती है। कौटिल्य ने भी अपने अर्थशास्त्र में इस कार्य के सम्पादन हेतु

(६५)

न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिए ऐसा आदेश दिया है। यह न्यायालय छोटे-बड़े अनेक प्रकार के बतलाये गये हैं। इन न्यायालयों में कुछ महत्त्वपूर्ण न्यायालयों की स्थापना दस ग्रामों के मध्य स्थित संग्रहण, चार सौ ग्रामों के मध्य स्थित द्रोणमुख, आठ सौ ग्रामों के मध्य स्थित स्थानीय नाम के नगरों में और जनपद की सीमा सन्धियों पर की जानी चाहिए। इन न्यायालयों में तीन धर्मस्थ (Judges) और तीन अमात्य विवादों के अवलोकन करने एवं उनपर निर्णय देने के लिए नियुक्त किये जाने चाहिए।^१ इस प्रकार राज्य के बड़े और छोटे विभिन्न नगरों में धर्मस्थ और अमात्य-युक्त न्यायालयों की स्थापना हेतु कौटिल्य ने व्यवस्था दी है।

इन न्यायालयों के अतिरिक्त ग्रामों में न्याय-कार्य-सम्पादन ग्राम वृद्धों एवं सामन्तों के द्वारा होना चाहिये—ऐसा कौटिल्य का आदेश है।^२ इस प्रकार ग्रामों में स्थानीय महत्व (local importance) के विवादों का अवलोकन एवं उन पर निर्णय देने के लिये स्थानीय न्यायालयों की स्थापना होनी चाहिए जिनमें ग्राम-वृद्ध एवं ग्राम-सामन्तों को न्यायाधीश का स्थान ग्रहण करने का अधिकार मिलना चाहिये। यदि ग्रामवृद्ध और सामन्त किसी विवाद-ग्रस्त विषय के निर्णय देने में मत-भेद रखते हों तो ऐसी स्थिति में उस स्थान की जनता की अनुमति लेकर वहाँ के धार्मिक पुरुष उस विवाद-ग्रस्त विषय पर निर्णय दें—ऐसा कौटिल्य का आदेश है।^३ इस प्रकार ग्रामों में ग्राम-वृद्धों में किसी विवाद-ग्रस्त विषय पर निर्णय देने में मत-भेद होने पर निर्णय के लिए धार्मिक पुरुषों का आश्रय लिया जाना उचित समझा गया है। ग्राम-सीमा सम्बन्धी विवादों पर निर्णय दोनों ग्रामों के सामन्त (मुखिया), अथवा पांच ग्रामों के मुख्य अधिकारी (पंचग्रामी), या दस ग्राम के मुख्य अधिकारी (दशग्रामी) मिलकर कर दें—ऐसी व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।^४

इस प्रकार विवादों के अवलोकन करने एवं उन पर निर्णय देने के निमित्त नाना प्रकार के छोटे-बड़े न्यायालयों की स्थापना की जानी चाहिये—ऐसा कौटिल्य ने आदेश दिया है।

मध्यस्थ द्वारा निर्णय—कौटिल्य के अर्थशास्त्र के रचनाकाल में न्याय-क्षेत्र में मध्यस्थ नियत करने एवं उसके द्वारा विवादग्रस्त विषयों पर निर्णय प्राप्त करने के सिद्धान्त की स्थापना हो चुकी थी। इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य यह व्यवस्था

१—धर्मस्थास्त्रयोऽमात्या जनपदसन्धिसंग्रहणद्रोणमुखस्थानीयेषुग्रावहारिकानर्थि-
न्कुर्युः ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—क्षेत्रविवादं सामान्तग्रामवृद्धाः कुर्युः ॥
वार्ता १६ अ० ६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

३—तेषां द्वौधोभावे यतो बहवः शुचयोऽनुमता वा तातो नियच्छेयुः ॥
वार्ता १७ अ० ६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—सीमाविवादं ग्रामयोरुभयोः सामन्ताः पञ्चग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थावरैः
कृत्रिमैर्वा कुर्यात् ॥ वार्ता ११ अ० ६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

देते हैं—क्षेत्र-विवाद का निर्णय ग्राम के सामन्त और ग्राम वृद्ध मिलकर कर दें । यदि उनमें निर्णय में मतभेद हो तो बहुत से धार्मिक (शुचयोः) पुरुष उसमें निर्णय दे दें । अथवा (वादी और प्रतिवादी) मध्यस्थ को नियत कर उससे निर्णय करा लें ।^१ कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से यह सिद्ध हो जाता है कि अर्थशास्त्र के रचना-काल में मध्यस्थ नियत करने और उनके द्वारा विवाद-ग्रस्त विषयों पर निर्णय प्राप्त किए जाने का प्रचलन था । मध्यस्थ द्वारा दिया गया निर्णय वादी और प्रतिवादी दोनों के लिए मान्य होता था । मध्यस्थ द्वारा दिया गया निर्णय अन्तिम निर्णय समझा जाता था ।

न्यायाधीशों का विशेष आचरण एवं व्यवहार—न्यायाधीशों को किस प्रकार का आचरण एवं व्यवहार करना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अपने विचार प्रकट किए हैं जो इस प्रकार हैं—न्यायाधीशों को न्याय कार्य क्षेत्र में छल का त्याग करना चाहिए । उनको समता गुण को अपनाना चाहिए अर्थात् न्याय के समक्ष प्रत्येक व्यक्ति समान है ऐसा गुण उनमें होना चाहिए । न्यायाधीशों को लोक-प्रिय एवं सब के विश्वास-पात्र होना चाहिए ।^२ वादी, प्रतिवादी एवं साक्षियों आदि के प्रति उनका व्यवहार शिष्ट होना चाहिए । कौटिल्य उस न्यायाधीश को दण्ड विधान करते हैं जो न्यायालय में बसतव्य देते समय वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी आदि को फटकारता, धमकाता, न्यायालय से बाहर निकाल देता है अथवा उनको परेशान करता है ।^३ असावधानी से कार्य करने, किसी व्यक्ति में विशेष रुचि लेने, अथवा वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी आदि में किसी को बहकाने के लिए भी न्यायाधीशों को दण्ड विधान किया गया है । यदि वादी अथवा प्रतिवादी को न्यायाधीश गाली दे दे तो उस न्यायाधीश को दो गुना दण्ड मिलना चाहिए ।^४ जो न्यायाधीश पूछने योग्य बात को पूछता नहीं है, नहीं पूछने वाली बात को पूछता है, किसी बात को पूछकर अधूरी ही छोड़ देता है, साक्षी को साक्ष्य देते समय सिखाता है, किसी विशेष बात को उसको स्मरण कराता है अथवा अधूरी बात को स्वयं पूरी कर देता है ऐसी स्थिति में उस न्यायाधीश को मध्यम साहस दण्ड मिलना चाहिए ।^५

१—मध्यं वा गृहीयुः ॥

वार्ता १८ अ० ६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—एवं कार्याणि धर्मस्थाः कुर्युरच्छलदर्शिनः ।

समाः सर्वेषु भावेषु विश्वास्या लोकसंप्रियाः ॥

श्लोक ३१ अ० २० अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—धर्मस्थश्चेद्विदमानं पुरुषं तर्जयति भर्त्सयत्यपसारयत्यभिग्रसते वा पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात्

॥ वार्ता ३५ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—वाक् पारुष्ये द्विगुणम् ॥ वार्ता ३६ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—पृच्छयं न पृच्छत्यपृच्छयं पृच्छति पृच्छा वा विसृजति शिच्छति समारपति पूर्वं ददाति वेति मध्यममरमै साहस दण्डं कुर्यात् ॥

वार्ता ३७ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

(६७)

वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी आदि को व्यर्थ कष्ट (Harassment) देने का कौटिल्य ने विरोध किया है। इस विषय में वह इस प्रकार आदेश देते हैं—जो न्यायाधीश देने योग्य आज्ञा नहीं देता और नहीं देने योग्य आज्ञा देता है, किसी विवाद-ग्रस्त विषय पर बिना प्रमाण के निर्णय दे देता है, किसी को छल द्वारा बहका देता है, काल व्यतीत करके थके हुए वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी को तंग करता है, ठीक बोलते हुए वादी, प्रतिवादी अथवा साक्षी को गड़-बड़ा देता है, साक्षियों को परामर्श (मति) दे देता है। जिसका निर्णय हो चुका है उसको पुनः निर्णय हेतु बुलाता है ऐसे न्यायाधीश को उत्तम साहस दण्ड मिलना चाहिए।^१

उपर्युक्त अशिष्ट न्यायाधीश को दण्ड देकर उसे उसके पद से च्युत कर देना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है।^२

लेखक—न्यायालयों में आवश्यकतानुसार लेखक भी रखे जाते थे। इन लेखकों का मुख्य कर्तव्य वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी आदि के वक्तव्यों को ज्यों का त्यों लेखबद्ध करना और न्यायालय के समस्त लेख, पत्र, एवं वक्तव्यों आदि (Records) को सुरक्षित रखना था। विवादों को सुनते समय न्यायालय में न्यायाधीशों के समक्ष वादी, प्रतिवादी तथा साक्षी आदि जो वक्तव्य देते यह लेखक उनको ज्यों का त्यों लिखबद्ध करता जाता था। यदि लेखक उनके वक्तव्यों के लेखबद्ध करने में लेशमात्र भी हेर-फेर करता हुआ पकड़ा जाता तो इस दोष के लिए उसको समुचित दण्ड दिया जाता था। इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—यदि लेखक लिखनेवाली बात को लेखबद्ध नहीं करता है, न कहीं हुई बात को लिख लेता है, भली बात को बुरी अथवा बुरी बात को भली एवं किसी विषय को विकल उतान्न करने योग्य लिखता है तो इस प्रकार के लेखक को पूर्व साहस दण्ड मिलना चाहिए।^३ अथवा उसको उसके दोष के अनुरूप दण्ड दिया जाना चाहिए।^४

समय का प्रतिबन्ध—यदि किसी विवादग्रस्त घटना को हुए अधिक समय व्यतीत हो गया है तो इस प्रकार के अभियोग को न्यायाधीशों को निर्णयार्थ स्वीकार

१—देयं देशं न पृच्छत्यदेयं देशं पृच्छति कार्मदेशेनातिबाहयतिछलेनाति हरति काल-हरणेन श्रान्तमपवाहयति मार्गापन्नं वाक्यमुक्कमयति मति साहाय्यं साक्षिभयो ददाति तारि तानुशिष्टं कार्यं पुनरपि गृह्णाति उत्तममस्मै साहस दण्डं कुर्यात् ॥
वार्ता ३८ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—पुनरपराधे द्विगुणं स्थानाद्व्यपरोहणं च ॥

वार्ता ३६ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—लेखकरचेदुक्तं न लिखत्यनुक्तं लिखति दुरुक्तमुपलिखति सूक्तमुल्लिखत्यर्थोत्पत्ति विकल्पयतीति पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात् ॥

वार्ता ४० अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—यथापराधं वा

॥ वार्ता ४१ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

करना चाहिए अथवा नहीं, इस विषय में अन्य आचार्यों का मत देते हुए कौटिल्य ने अपना भी मत दिया है इस विषय में उन्होंने अर्थशास्त्र में इस प्रकार विचार प्रकट किए हैं—यदि विवादग्रस्त घटना को हुए बहुत दिन व्यतीत हो चुके हों तो उसका अभियोग चलना नहीं चाहिए ऐसा अन्य आचार्य कहते हैं ।^१ परन्तु कौटिल्य का मत है कि अपकारी को कभी छोड़ना नहीं चाहिए । चाहे जितने दिन की पुरानी घटना क्यों न हो प्रमाणित हो जाने पर दोषी को दण्ड मिलना ही चाहिए ।^२

इस प्रकार कौटिल्य ने न्यायाधीशों के समक्ष विवादग्रस्त विषयों के निर्णयार्थ प्रस्तुत किए जाने में अतिकाल (Time barred) के सिद्धान्त को मान्यता नहीं दी है ।

कलह में प्रथम आकर प्रार्थना करने का महत्त्व—कलह होने पर न्यायालय में न्यायार्थ प्रथम प्रार्थना करनेवाले अथवा उसके पश्चात् प्रार्थना करने वाले को सच्चा समझना चाहिए इस विषय में भी अर्थशास्त्र में विचार प्रकट किए गए हैं । इस विषय में अन्य आचार्यों का मत है कि कलह होने पर जो प्रथम न्यायालय की शरण लेता है उसको सच्चा समझना चाहिए क्योंकि वह दुख को सहन करने में विवश होकर ही न्यायालय की शरण में भागकर आता है ।^३ परन्तु कौटिल्य इस मत का समर्थन नहीं करते ।^४ उनका मत है कि पहले अथवा पीछे आने मात्र का कोई महत्त्व नहीं होता । जो व्यक्ति साक्ष्य द्वारा सच्चा प्रमाणित हो जाए उसीको सच्चा समझना चाहिए ।^५

इस प्रकार कौटिल्य ने न्यायालय की शरण व्यक्ति द्वारा प्रथम ली गयी अथवा पश्चात् इस विषय पर कोई महत्त्व नहीं दिया है । उन्होंने प्रमाण को श्रेष्ठ मानकर उसके अनुसार निर्णय देना उचित माना है ।

प्रमाण—किसी भी विवाद-ग्रस्त विषय पर निर्णय देने के लिए पक्ष और विपक्ष दोनों ओर के प्रमाणों पर भली भाँति विचार कर लेना आवश्यक होता है । पक्ष और विपक्ष दोनों ओर के प्रमाणों को सुनने और उन पर विधिवत् विचार कर लेने के उपरान्त ही न्यायाधीश इस निर्णय पर पहुँच सकता है कि कौन पक्ष सत्य और कौन असत्य को ग्रहण किए हुए है । प्राचीन भारत के कतिपय राजशास्त्र विचारकों ने प्रमाणों को दिव्य और मानुष प्रमाण के अन्तर्गत परिगणित किया है । इन विचा-

१—पर्युषितः कलहेऽनुप्रवेशो वा नाभियाज्य इत्याचार्याः ॥

वार्ता २८ अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—नास्त्यपकारिणो मोक्ष इति कौटिल्यः ॥ वार्ता २६ अ० १६ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—कलहे पूर्वागतो जयत्यक्षममाणो हि प्रधावतीत्याचार्याः ॥

वार्ता ३० अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—नेति कौटिल्यः

॥ वार्ता ३१ अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—पूर्वपश्चाद्वाभिगतस्य साक्षिणः प्रमाणम् ॥

वार्ता ३२ अ० १९ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

रकों में मनु और शुक्र मुख्य हैं। दिव्य प्रमाण से उनका तात्पर्य शपथ से है और मानुष प्रमाण को वह तीन कोटि में परिगणित करते हैं जिनको उन्होंने लिखित प्रमाण (Documentary evidences), साक्ष्य प्रमाण (Witness evidences) और भुक्ति प्रमाण (Possession evidences) के नाम से सम्बोधित किया है।

विवाद ग्रस्त विषय के निर्णय हेतु कौटिल्य ने भी प्रमाण को ही एकमात्र आधार माना है। उन्होंने दिव्य प्रमाणों का उल्लेख नहीं किया है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य शपथ को प्रमाण कोटि में रखना उचित नहीं समझते थे और शपथ में उनकी विशेष आस्था न थी। सम्भव है कौटिल्य के समय में लोग मिथ्या शपथ भी ले लिया करते होंगे और जिससे वह स्वार्थ सिद्ध करने में कभी कभी सफल भी हो जाते होंगे। इसीलिए उन्होंने इस कुचलन के रोक-थाम के लिए शपथ को विशेष महत्त्व नहीं दिया है। उन्होंने प्रमाणों को मुख्य तीन कोटि में परिगणित किया है और जिन को उन्होंने भी लिखित प्रमाण (Documentary evidences), साक्ष्य प्रमाण (Witness evidences) और भुक्ति प्रमाण (Possession evidences) के नाम से सम्बोधित किया है। यहाँ पर इन तीनों प्रमाणों का वर्णन अर्थशास्त्र के आधार पर दिया जायगा—

(अ) लिखित प्रमाण—विवाद-ग्रस्त विषयों के निर्णय के निमित्त लिखित प्रमाण का विशेष महत्त्व होता है। सम्भवतः प्रत्येक युग में लिखित कोटि के प्रमाण में लोगों की आस्था अन्य प्रमाणों की अपेक्षा अधिक रही है। किसी विवाद-ग्रस्त विषय में यदि एक भी छल रहित लिखित प्रमाण (Genuine Documentary evidence) जिस पक्ष में प्राप्त हो जाता है उस पक्ष के विरुद्ध चाहे जितने अन्य कोटि के प्रमाण (भोग और साक्षी) उपलब्ध होने पर भी निर्णय लिखित प्रमाण के अनुकूल ही होता है।

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में स्पष्ट लिखा है कि लिखित प्रमाण विवाद-ग्रस्त विषय के निर्णय में विशेष स्थान रखते हैं। उन्होंने इस कोटि के प्रमाणों का विशेष वर्णन किया है। कौटिल्य ने कतिपय लिखित प्रमाणों को अमान्य बतलाया है जिनमें से कुछ ऐसे लिखित प्रमाणों का उल्लेख इस प्रकार दिया है—गृप्त रीति से घर में रात, वन, छल तथा एकान्त में किए गए व्यवहार सम्बन्धी लेखों को प्रमाणित न माना जाए।^१ घर से न निकलनेवाली स्त्रियों तथा संज्ञाहीन (अचेत) नहीं हुए रोगियों से जो घर के भीतर छुपे-छुपे दायभाग, धरोहर, निधि और विवाह सम्बन्धी लेख साधारण कागज पर भी लिखाए गए हों तो भी ऐसे लेखों को अमान्य नहीं समझना चाहिए।^२

१—विरोहितान्तरगारान्तरगणोपध्युपह्वरकृतांश्च व्यवहारान्प्रतिषेधयेयुः ॥

वार्ता २ अ० १ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—दाप्रनिक्षेपोपनिधिविवाहयुक्ताः स्त्रीणामनिष्कासिनीनां व्याधितानां चामृद्ध-
संज्ञानामन्तरगारकृताः सिद्धयेयुः ॥ वार्ता ७ अ० १ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

कौटिल्य द्वारा दी गयी उपर्युक्त-व्यवस्थाओं के आधार पर ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य के समय में विवाद-ग्रस्त विषयों के निर्णय में लिखित प्रमाणों पर जनता की विशेष आस्था थी। इसीलिए लोग इस प्रकार के प्रमाण की प्राप्ति हेतु उचित और अनुचित का विचार न कर के लिखित प्रमाण न्यायाधीश के समक्ष प्रस्तुत करने लगे थे।

(इ) साक्षी—विवाद-ग्रस्त विषय के निर्णय में अर्थशास्त्र में दूसरी कोटि का प्रमाण साक्षी प्रमाण माना गया है। किस प्रकार के व्यक्तियों को साक्षी बनाना उचित होगा इस विषय का जो वर्णन अर्थशास्त्र में दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि साक्षी नियत करने में कुछ सिद्धान्तों का अनुसरण किया जाता था। इन सिद्धान्तों में सर्व प्रथम सिद्धान्त शिष्ट आचरण का सिद्धान्त मुख्य था। इस सिद्धान्त के अनुसार पवित्र आचरण वाले पुरुष ही साक्षी बनाने चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए कौटिल्य ने साक्षियों के लिए “शुचयोः” शब्द का प्रयोग किया है।^१ जिसका तात्पर्य पवित्र आचरण रखने वाले व्यक्तियों से है।

इस विषय में दूसरा सिद्धान्त घटना-स्थल के समीप्य का था। इसका तात्पर्य यह था कि विवाद सम्बन्धी घटना-स्थल के समीप का ही व्यक्ति साक्षी बनाया जाना चाहिए।^२ जो व्यक्ति घटनास्थल से दूर का वासी है उसको साक्षी बनाया जाना वर्जित था। घटना-स्थल से दूर का वासी घटना के वास्तविक स्वरूप को जानने में असमर्थ रहेगा। इसलिए ऐसे व्यक्ति को साक्षी बनाना उचित नहीं समझा गया। इसके अतिरिक्त घटना-स्थल से दूर का निवासी वहाँ के स्थानीय धर्मों से विशेष परिचित न होगा। ऐसी दशा में वह साक्ष्य कार्य को विधिवत न कर सकेगा। इसलिए घटना-स्थल के समीपी ही साक्षी बनाया जाना न्याय संगत होगा।

साक्षी की नियुक्ति के विषय में एक विशेष नियम यह भी था कि जो व्यक्ति साक्षी बनाया जाए वह पूर्व से ही निर्दिष्ट किया होना चाहिए।^३ ऐसा नहीं कि पूर्व से बिना निर्दिष्ट किए गए ही किसी व्यक्ति को साक्ष्य कार्य के लिए खड़ा कर दिया गया हो। अर्थशास्त्र के इस वर्णन से यह स्पष्ट विदित होता है कि साक्षी को साक्ष्य देने के लिये पहले से निर्दिष्ट किया जाता था और वह वादी अथवा प्रतिवादी द्वारा लक्षित

१—प्राथमिकाः शुचयोः × × × ॥ वार्ता ३२ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—देशकालाविदूरस्थान्साक्षिणः प्रतिपादयेत् ॥

श्लोक ६६ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

३—प्राथमिकाः शुचयोऽनुमता × × × ॥

वार्ता ३२ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

(७१)

कर देने पर न्यायालय द्वारा साक्ष्य देने के निमित्त बुलाया जाता था । साक्षी की नियुक्ति सम्बन्धी इस नियम का समर्थन मनु और शुक्र ने भी किया है ।^१

साक्षियों की अयोग्यताएँ—कौटिल्य ने साक्ष्य कार्य के लिए कुछ व्यक्तियों को अयोग्य बतलाया है । उन्होंने उन पुरुषों को साक्ष्य कार्य के लिए अयोग्य बतलाया है जिनका किसी प्रकार का अर्थ-सम्बन्ध उस व्यक्ति से हो जिसके लिए वह साक्ष्य कार्य ग्रहण करेगा । इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने कुछ उदाहरण भी दिए हैं । वह धनिक (Creditor) और धारणिक (Debtor) दोनों को एक दूसरे का साक्षी बनाए जाने का निषेध करते हैं ।^२ जो व्यक्ति किसी व्यक्ति से विशेष सम्बन्ध रखता है जैसे किसी व्यक्ति का साला उसके लिए साक्ष्य कार्य के लिए अयोग्य बतलाया गया है । जिस व्यक्ति का विशेष हित (interest) किसी व्यक्ति में हो उसको भी साक्ष्य कार्य से वहिष्कृत करने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है । इस दृष्टि से किसी व्यक्ति का साक्षी-दार अथवा क्रीत दास नहीं होना चाहिए^३ । किसी व्यक्ति का शत्रु भी साक्षी नहीं बनाया जा सकता था ।^४ अंगहीन व्यक्ति अथवा राज्य की ओर से जिन व्यक्तियों को दण्डित किया जा चुका है उन व्यक्तियों को भी साक्ष्य कार्य से दूर रखने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है ।^५ उपर्युक्त सिद्धान्तों के आधार पर जिन व्यक्तियों को साक्ष्य कार्य के लिए अयोग्य बतलाया गया है उनको किसी कारण से भी साक्षी नहीं बनाना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है ।^६

इनके अतिरिक्त कुछ ऐसे व्यक्तियों का भी उल्लेख किया गया है जिनको केवल उनके वर्ग (Community) में ही साक्ष्य बनाया जाना चाहिए अन्यत्र कदापि नहीं । इस कोटि के व्यक्तियों की सूची कौटिल्य ने इस प्रकार दी है—राजा, श्रोत्रिय, ग्रामभृतक (नाई, धोबी, कुम्हार, तेली आदि), कुण्डी, घायल, पतित, चाण्डाल, निन्द-

१—अर्थ्यवताः साक्ष्यमर्हन्ति न ये केचिदनापदि ॥

श्लोक ६२ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

वः साक्षान्नैवनिर्दिष्टेनहूतो नैवदेशितः ।

ब्रूयान्मिथ्येतितथ्यं वा दण्ड्यः सोपिनराधमः ॥

श्लोक ७११ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—प्रतिसिद्धाः × × × धनिकधारणिक × × × ॥

वार्ता ३५ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

३—प्रतिसिद्धाः स्थालसहायावद्ध × × × ॥ वार्ता ३५ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—प्रतिषिद्धा × × × वैरिनि ॥ वार्ता ३५ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—प्रतिषिद्धाः × × × × न्यङ्गधृतदण्डाः ॥

वार्ता ३५ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

६—पूर्वे चाव्यवहार्याः ॥

वार्ता ३६ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

नीय कार्य करनेवाला, अन्धा, बहरा, गूंगा, अहंकारी, स्त्री और राजकर्मचारी ।^१ कुछ विशेष परिस्थितियों में इन नियमों का अपवाद भी वैध माना गया है । कठोर व्यवहार, चोरी और व्यभिचार के विवादों में बैरी, साला और साक्षीदार के अतिरिक्त अन्य साक्षी माने जा सकते थे ।^२ इस प्रकार किसी व्यक्ति का साला, उसका साक्षीदार अथवा उसका शत्रु किसी दशा में भी साक्षी नहीं बनाया जा सकता था । स्वामी अपने सेवकों के, ऋत्विक् और आचार्य अपने शिष्यों के और माता-पिता अपने पुत्रों के साक्षी बनाए जा सकते थे ।^३ फौजदारी के विवादों में इनके अतिरिक्त अन्य लोग भी साक्षी बनाए जा सकते थे ।^४ साधारण नियम के अनुसार स्त्री को साक्षी बनाना वर्जित था । परन्तु एकान्त के गुप्त व्यवहारों में स्त्री को भी साक्षी बनाने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है ।^५ राजा और तपस्वी किसी दशा में भी साक्षी नहीं बनाए जाने चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है ।^६

साक्षियों की आवश्यक संख्या—विवादग्रस्त विषयों के निर्णयार्थ यदि न्यायालय साक्षियों की आवश्यकता समझता है तो कितने साक्षियों की साक्ष्य पर्याप्त होगी इस विषय में भी कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं । उनका मत है कि विवादग्रस्त विषय के निर्णय हेतु विश्वस्त चरित्र, और पूर्व से निर्दिष्ट (Summoned) कम-से-कम तीन साक्षी होने चाहिए ।^७ यदि दोनों पक्ष (वादी-प्रतिवादी) अपनी स्वीकृति दे दें तो दो साक्षी भी पर्याप्त माने गए हैं ।^८ ऋण सम्बन्धी अभियोगों में एक साक्षी पर्याप्त नहीं माना गया है ।^९ एकान्त के गुप्त व्यवहारों में अकेली स्त्री

१—राजश्रोत्रिप्रग्रामभृतककुष्ठिब्रह्मिनः पतितचण्डाल कुत्सितकर्मणोऽन्धबधिर-
मूकाहंवादिनः स्त्रीराजपुरुषाश्चान्यत्र स्ववर्गोभ्यः ॥

वार्ता ३७ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—पारुष्यस्तेष्वसंग्रहणेषु तु वैरिस्थालसहायवर्जाः ॥

वार्ता ३८ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

३—स्वामिनो मृत्यानाभृत्विगाचार्याः शिष्याणां मातापितरौ पुत्राणां चान्निग्रहेण

साक्ष्यं कुर्युः ॥

वार्ता ४० अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—तेषामितरे वा ॥

वार्ता ४१ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—रहस्य व्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्यात् × × ॥

वार्ता ३६ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

६—राजतापसवर्जम् ॥ वार्ता ३६ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

७—प्रातःप्रिकाः शुचयोऽनुमता वा अथवा अर्थाः ॥

वार्ता ३२ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

८—पञ्चानुमतौ वा द्वौ ॥

वार्ता ३३ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

९—ऋणं प्रति न त्वेवैकः ॥

वार्ता ३४ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

अथवा उन घटनाओं को देखने या सुननेवाले अकेले पुरुष की भी साक्ष्य पर्याप्त समझी गयी है ।^१

इस प्रकार कुछ विशेष परिस्थितियों को छोड़कर अन्यत्र कम से कम तीन साक्षी होना कौटिल्य के मतानुसार दैध माना गया है ।

साक्षियों के लिए निर्धारित शपथ—साक्षी को न्यायालय में साक्ष्य देने के पूर्व भली-भांति इस विषय के समझाने का प्रयत्न किया जाता था कि जो साक्ष्य उनके द्वारा दी जा रही है वह सत्य एवं छल रहित है । यह वाक्य वर्ण के अनुसार निर्धारित होने चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है । साक्षी को ब्राह्मण, जल भरा कुम्भ और अग्नि के समक्ष से साक्ष्य लेना चाहिए ।^२ साक्ष्य देने के पूर्व ब्राह्मण साक्षी से सत्य-सत्य साक्ष्य देने के लिए कहना चाहिए ।^३ क्षत्रिय वर्ण के साक्षी से कहना चाहिए—यदि तुम मिथ्या साक्ष्य दोगे तो तुमको शत्रु के सम्मुख हाथ में कपाल लेकर भिक्षा माँगनी पड़ेगी । इसी प्रकार वैश्य वर्ण के साक्षी से कहना चाहिए कि मिथ्या साक्ष्य देने से वह यज्ञ और धर्मशाला आदि के निर्माण कराने के पुण्य का भागी न होगा ।^४ शूद्र वर्ण के साक्षी से कहना चाहिए कि उसके जन्मजन्मान्तर का पुण्य राजा को चला जाए गा यदि वह मिथ्या साक्ष्य देगा ।^५ इस प्रकार साक्षियों से कहना चाहिए कि मिथ्या साक्ष्य देने से राजा का समस्त पाप तुमको लगेगा^६ और मिथ्या भाषण के कारण दण्ड भी मिलेगा ।^७ साक्षी के द्वारा साक्ष्य दे जाने के उपरान्त साक्ष्य की छान-बीन भी की जाएगी ।^८

इस प्रकार साक्षियों को साक्ष्य देने के पूर्व यथा-योग्य भली-भांति समझाने का प्रयत्न किया जाता था कि वह मिथ्या साक्ष्य न दें ।

मिथ्या साक्ष्य के लिए दण्ड—कौटिल्य मिथ्या साक्ष्य देनेवाले साक्षी को

१—रहस्य व्यवहारेष्वेका स्त्री पुरुष उपश्रोता उपद्रष्टा वा साक्षी स्यात् ॥

वार्ता ३६ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—ब्राह्मणोदकुम्भाग्निसकाशे साक्षिणः परिगृहीयात् ॥

वार्ता ४४ अ० ११ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—तत्र ब्राह्मणं ब्रूयात्सत्यं ब्रूहीति ॥ वार्ता ४२ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—राजन्यं वैश्यं वा मा तवेष्टापूर्तफलं कपाल हस्तः शत्रुबलं भिक्षार्थी गच्छेरिति ॥

वार्ता ४६ अ० ११ अधि० ३ अर्थ० ॥

५—शूद्रं जन्ममरणान्तरे यद्रः पुण्यफलं तद्राजानं गच्छेत् ॥

वार्ता ४७ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

६—राज्ञश्च किञ्चिदपि युष्मान् ॥

वार्ता ४८ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

७—अन्यथावादे दण्डश्चानुबन्धः ॥

वार्ता ४९ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

८—पश्चादपि ज्ञायेत यथादृष्टश्रुतम् ॥ वार्ता ५० अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

समुचित दण्ड देने के पक्ष में हैं। इस विषय में उन्होंने शुक्र, मनु और बृहस्पति के मतानुयायियों के भी मत दिए हैं। इन मतों को देते हुए कौटिल्य कहते हैं—साक्षी अपनी मूर्खता से देश, काल एवं कार्य का यदि ठीक-ठीक उपयोग न कर सकें तो शुक्र के मतानुयायियों के अनुसार प्रथम, मध्यम अथवा उत्तम यथायोग्य दण्ड मिलना चाहिए।^१ जो व्यक्ति मिथ्या साक्ष्य देकर झूठा विवाद खड़ा करा कर धन का नाश कराता है उसको इस धन का दस गुना अर्थ-दण्ड होना चाहिए ऐसा मनु के मतानुयायियों का कहना है।^२ बृहस्पति छल से युक्त मिथ्या साक्ष्य देने के दोष के लिये साक्षी का बुरी तरह बध करना उचित समझते हैं।^३ कौटिल्य स्वयं अपना मत देते हुए कहते हैं कि साक्षी को सत्य ही साक्ष्य देना चाहिए।^४ यदि साक्षी सत्य की स्थापना नहीं करता है तो ऐसे साक्षी को चौबीस पण दण्ड होना चाहिए।^५ यदि साक्षी मौन रहता है और न्यायालय में मूकवत् खड़ा रहता है तो उस साक्षी पर आधा (बारह पण) दण्ड होना चाहिए।^६

(उ) भोग—लिखित प्रमाण और साक्षी प्रमाण के अतिरिक्त तीसरा प्रमाण भोग का प्रमाण भी मान्य माना गया है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्य विचारकों जैसे मनु और शुक्र आदि ने भी भोग के प्रमाण को मान्यता दी है। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में कतिपय ऐसी व्यवस्थाएँ उपलब्ध हैं जिनके आधार पर यह स्पष्ट सिद्ध हो जाता है कि आचार्य कौटिल्य भी भोग के प्रमाण में मनु और शुक्र की भांति ही आस्था रखते थे। इस विषय में कौटिल्य ने जो व्यवस्थाएँ अर्थशास्त्र में दी हैं उनमें से कुछ यहाँ पर दे देना उचित होगा। इसी प्रसंग में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में यह व्यवस्था दी है जो व्यक्ति अपनी सम्पत्ति को दस वर्ष तक दूसरे व्यक्ति द्वारा भोगते हुए उपेक्षा की दृष्टि से देखता रहता है तो उस सम्पत्ति से पूर्व स्वामी का अधिकार हट जाता है।^७ परन्तु यदि उस सम्पत्ति का स्वामी बालक, वृद्ध, रोगी व्यसनी, विदेशी अथवा देश त्यागी हो अथवा राज्य विप्लव के समय दूसरे के भोग में आ गयी हो उसपर दस वर्ष तक

१—साक्षिबालिश्येष्वेव पृथगनुपयोगे देशकालकार्याणां पूर्वमध्यमोत्तमा दण्डा इत्यौशनसाः ॥ वार्ता ५६ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—कृतसाक्षिणो यमर्थमभूतं वा नाशयेयुस्तदशगुणं दण्डं ददुरिति मानवाः ॥ वार्ता ६० अ० ११ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—बालि श्याट्टा विसंवादयतां चित्रो घात इतिबार्हस्पत्याः ॥ वार्ता ६१ अ० ११ अधि० ३ अर्थ० ॥

४—ध्रुवं हि साक्षिभिः श्रोतव्यम् ॥ वार्ता ६३ अ० ११ अधि० ३ अर्थ० ॥

५—अश्वएवतां चतुर्विंशतिपणो दण्डः ॥ वार्ता ६४ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

६—ततोऽर्धमब्रुवाणाम् ॥ वार्ता ६५ अ० ११ अधि० ३ अर्थ० ॥

७—एस्त्वं द्रव्यमन्यैर्भुञ्जमानं दश वर्षाण्युपेक्षेत ह्रियेतास्य ॥ वार्ता ३३ अ० १६ अधि० ३ अर्थ० ॥

भोगने के अधिकार का नियम मान्य नहीं समझा जायगा ।^१ किसी मकान अथवा भूमि को बीस वर्ष तक भोगते देखकर उसका स्वामी उसकी उपेक्षा करता रहता है ऐसी दशा में उस मकान अथवा भूमि के स्वामी का अधिकार नष्ट हुआ समझना चाहिये ।^२ परन्तु यदि राजा अनुपस्थित हो तो इस दशा में बन्धु-बान्धव, वेदपाठी अथवा पाषण्डी के द्वारा इस अवधि तक भोगे जाने पर भी मकान अथवा भूमि से उसके स्वामी का अधिकार नष्ट नहीं होता ।^३ उपनिधि (बन्द धरोहर), आधि (गिरवी) निधि (कोष), निक्षेप (धरोहर), स्त्री, सीमा, राजा और वेदपाठी ब्राह्मण की भूमि अथवा सम्पत्ति पर किसी का अधिकार भोग मात्र से नहीं होता ।^४

उपर्युक्त व्यवस्थाओं से ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने भोग के अधिकार को कतिपय प्रतिबन्धों के साथ मान्यता दी है ।

विवाद के पाद—कौटिल्य विवाद के चार पाद मानते हैं जिनको उन्होंने धर्म, व्यवहार, चरित्र, और राजशासन के नाम से सम्बोधित किया है । इन चारों पादों की व्याख्या करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि धर्म सत्य में, व्यवहार साक्षियों में चरित्र लोगों के संग्रहीत आचरण में वास करता है और राजा की आज्ञा को शासन कहते हैं । इन चारों के आपेक्षिक महत्त्व का उल्लेख करते हुए कौटिल्य राजशासन को सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण मानते हैं । विवाद-ग्रस्त विषय के निर्णय देने में इन चारों में उत्तरोत्तर महत्त्व शाली माना गया है अर्थात् धर्म से व्यवहार, व्यवहार से चरित्र और चरित्र से राजशासन अधिक महत्त्व पूर्ण होता है ।^५ कौटिल्य का मत है कि जो राजा धर्म, व्यवहार, चरित्र और राजशासन के अनुसार जो कि चौथा है न्याय की स्थापना करता है वह चारों समुद्र से परिवेष्टित समस्त पृथ्वी के शासन

१—अन्यत्र बालवृद्धव्याधितव्यसन्निप्रेषितदेशव्यागराज्यविभ्रमेभ्यः ॥

वार्ता ३४ अ० १६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—विंशतिवर्षोपेक्षितमनवसितं वास्तु नानुयुज्यते ॥

वार्ता ३५ अ० १६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—ज्ञातयः श्रोत्रियाः पाषण्डा वा राज्ञामसंनिधौ परवास्तुषु विवसन्तो न

भोगेन हरेयुः ॥

वार्ता ३६ अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—उपनिधिमाधि निधि निक्षेपं स्त्रियं सीमानं राजश्रोत्रियद्रव्याणि च ॥

वार्ता ३७ अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—धर्मश्च व्यवहारश्च चरित्रं राजशासनम् ।

विवादादर्थश्चतुष्पादः पश्चिमः पूर्वबाधकः ॥

श्लोक ५१ अ० १ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

तत्र सत्ये स्थितो धर्मो व्यवहारस्तु साक्षिषु ।

चरित्रं संग्रहे पुंसां राज्ञामाज्ञा तु शासनम् ॥

श्लोक ५२ अ० १ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

करने में समर्थ होता है।^१ जहां कहीं चरित्र (History) और धर्मशास्त्र (Sacred law) अथवा व्यवहार (evidence) और धर्मशास्त्र में मतभेद हो तो धर्मशास्त्र के अनुसार निर्णय दिया जाना चाहिये।^२ धर्मशास्त्र और न्याय (धर्म और न्याय) में मत भेद होने पर न्याय के अनुसार निर्णय होना चाहिये।^३ वादी और प्रतिवादी दोनों का अपना अपना कथन (स्वयंवाद) बहुधा दोषयुक्त पाया गया है। प्रश्न, जरह (अनुयोग) सच्चाई (आर्जव) प्रमाण, हेतु और शपथ विवाद के निणय में विशेष सहायक सिद्ध होते हैं।^४

निर्णय हेतु गुप्तचरों का प्रयोग—विवादग्रस्त विषयों के लिये विवाद के वास्तविक कारण को जानने एवं विवाद से सम्बन्धित दोषी एवं निर्दोषी को जानने के लिए राज्य की ओर से चर भी नियुक्त किये जाते थे और आवश्यकतानुसार इन के द्वारा दी गयी सूचना पर भी विचार कर न्यायाधीश को निर्णय देना चाहिए—कौटिल्य ऐसी व्यवस्था देते हैं। कौटिल्य ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है प्रमाण (evidence) और गुप्तचरों द्वारा दी गई सूचना को कारण मानकर न्यायाधीश को विवादग्रस्त विषय में निर्णय देना चाहिए।^५

प्रतिभू रखने की प्रणाली—अर्थशास्त्र में इस विषय का उल्लेख है कि अर्थशास्त्र के रचनाकाल में प्रतिभू मांगने की प्रणाली प्रचलित थी। ऋण लेते समय महाजन ऋण लेनेवाले व्यक्ति से बहुधा प्रतिभू मांगते थे और तब वह उस प्रतिभू के दायित्व पर ऋण देते थे। यदि ऋणिया ऋण का धन महाजन को भुगतान करने में असमर्थता प्रकट करता तो ऐसी स्थिति में उसके प्रतिभू को उस ऋण का भुगतान करना वैध समझा जाता था। प्रतिभू सम्बन्धी कतिपय व्यवस्थाएं कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दी हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख यहाँ पर किया जायगा—बालक को प्रतिभू बनाना व्यर्थ माना गया है।^६ यदि ऋणिया मृत्यु को प्राप्त हो जाय तो उसका भुगतान उसके पुत्रों को करना होगा। यदि पुत्र न हो तो उसकी सम्पत्ति के लेनेवाले, कुटुम्बी,

१—अनुशासद्धि धर्मेण व्यवहारेण संस्थया ।

न्यायेन च चतुर्थेन चतुरन्तां महीं जयेत ॥ श्लोक ५१ अ० १ अधि० ३ अर्थ० ॥

२—संस्थया धर्मशास्त्रेण शास्त्रं वा व्यावहारिकम् ।

यस्मिन्नर्थे विस्थिते धर्मेणार्थं विनिर्णयेत् ॥ श्लोक ५६ अ० १ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—शास्त्रं विप्रतिपद्येत धर्मन्यायेन केनचित् ।

न्यायस्तत्र प्रमाणं × × ॥ श्लोक ५७ अ० १ अधि० ३ अर्थ० ॥

४—दृष्टदोषः स्वयंवादः स्वपक्ष परपक्षयोः ।

अनुयोमाज्वं हेतुः शपथश्चार्थसाधकः ॥ श्लोक ५८ अ० १ अधि० १ अर्थ० ॥

५—पूर्वोत्तरार्थं साक्षिवक्तव्यकारणे ।

चारहस्ताच्च निष्पाते प्रदेष्टव्यः पराजयः ॥ श्लोक ५९ अ० १ अधि० ३ अर्थ० ॥

६—असारं बालप्रातिभाष्यं ॥ वार्ता २१ अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

साक्षीदार अथवा प्रतिभू को उस ऋण का भुगतान करना होगा ।^१ इन व्यवस्थाओं के आधार पर यह प्रमाणित होता है कि कौटिल्य भी प्रतिभू रखने की प्रणाली के समर्थक थे ।

न्याय-क्षेत्र में स्थानीय धर्मों का महत्त्व—कौटिल्य इस पक्ष में नहीं है कि सम्पूर्ण राज्य में प्रत्येक मनुष्य के लिये एक ही विधि का उपयोग किया जाना चाहिए । उनके विचार से स्थान, जाति, वर्ग, ग्राम आदि के भेद के अनुसार लोगों के आचार-विचार एवं रहन-सहन आदि में पर्याप्त अन्तर हो जाता है । इसलिये इस अन्तर को ध्यान में रखकर न्याय-क्षेत्र में कार्य करना चाहिये । कौटिल्य ने इसीलिये दायभाग के प्रसंग में स्पष्ट व्यवस्था दी है कि देशधर्म, जातिधर्म, संघधर्म और ग्राम की रीति के अनुसार ही दायभाग की व्यवस्था करनी चाहिये ।^२

इस प्रकार विवाद-ग्रस्त विषयों में निर्णय देने के समय स्थानीय धर्मों का विशेष महत्त्व माना गया है ।

प्राप्तव्यवहार - प्रत्येक युग में इस ओर ध्यान रखा गया है कि कितनी आयु प्राप्त कर लेने के उपरान्त मनुष्य सामान्य रूप में व्यवहार योग्य समझा जाना चाहिए । इसका कारण यह माना गया है कि उस आयु के उपरान्त जो कार्य उसके द्वारा किया जायगा उसके परिणाम का वैध भोक्ता वही माना जाएगा । आधुनिक युग में आयु का प्रतिबन्ध कम से कम इक्कीस वर्ष की आयु होना अनिवार्य माना गया है । इससे कम आयु वाले व्यक्ति द्वारा किया गया लेन-देन आदि कार्य (transaction) अवैध माना गया है । परन्तु कौटिल्य ने आयु की इस सीमा को बहुत घटा दिया है ।

सम्भवतः उनके मतानुसार पुरुष की अपेक्षा नारी जाति में समझ पहले आती है इसीलिए उन्होंने नारी जाति के लिए मनुष्य की अपेक्षा कम आयु में ही प्राप्त-व्यवहार की श्रेणी में स्थान देना उचित समझा है । उनके मतानुसार बारह वर्ष की स्त्री और सोलह वर्ष का पुरुष प्राप्तव्यवहार (Major) माना गया है ।^३ बारह वर्ष की आयु से अधिक स्त्री और सोलह वर्ष से अधिक वाला पुरुष अपराध करने पर दण्ड के भागी समझे जाएंगे ।^४

१—प्रेतस्य पुत्राः कुसीदं दधुः । दायदा वा रिक्थहराः सहग्राहिणः प्रतिभुवो वा ॥
वार्ता १६, २० अ० ११ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—देशस्य जात्या संघस्य धर्मो ग्रामस्य वापि यः ।
उचितस्तस्य तेमैव दायधर्मं प्रकल्पयेत् ॥वार्ता ४५ अ० ७ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

३—द्वादशवर्षा स्त्री प्राप्तव्यवहारा भवति । षोडशवर्षः पुमान् ॥
वार्ता १, २ अ० ३ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—अत ऊर्ध्वमशुश्रूषायां द्वादशपणः स्त्रिया दण्डः पुंसो द्विगुणः ॥
वार्ता ३ अ० ३ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

इस प्रकार कौटिल्य ने बारह वर्ष अथवा उससे अधिक आयु की स्त्री और सोलह वर्ष अथवा उससे अधिक आयुवाले पुरुष को प्राप्त व्यवहार (Major) माना है।

कण्टक शोधन

कण्टक शोधन का क्षेत्र—कण्टक शोधन से आचार्य कौटिल्य का जो तात्पर्य है उसकी ओर इस अध्याय के प्रारम्भ में संकेत कर दिया गया है। अर्थशास्त्र में कण्टक-शोधन सम्बन्धी जो वर्णन दिया गया है उससे ज्ञात होता है कि कण्टकशोधन का कार्यक्षेत्र बड़ा विस्तृत था। इस विस्तृत क्षेत्र को तीन उपक्षेत्रों में सुविधा पूर्वक विभक्त किया जा सकता है। इन तीनों उपक्षेत्रों में प्रथम वह उपक्षेत्र है जिसमें राज्य के कतिपय दैनिक व्यवहार में आने वाले उपयोगी व्यवसायियों जैसे धोबी, जुलाहे, रंगरेज, सुनार, वैद्य, नट-नर्तक आदि के द्वारा होनेवाले प्रजाशोषण एवं प्रच्छन्न धन-हरण से प्रजा की रक्षा के उपायों का आश्रय लिया जाता है। इस विषय में दूसरा वह क्षेत्र बतलाया गया है जिसमें राज्य के कतिपय दुष्ट जनों द्वारा जो प्रजा-पीड़न कार्य किये जाने के प्रयत्न किए जाते हैं उनकी सर्वथा विफल कर प्रजा की रक्षा की व्यवस्था करना; और तीसरा वह क्षेत्र है जिसमें प्रजा-पीड़क राजकर्मचारियों से प्रजा की रक्षा सम्बन्धी व्यवस्था का उल्लेख किया गया है। यहाँ पर इन तीनों क्षेत्रों का संक्षिप्त वर्णन जैसा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उपलब्ध है दिया जाएगा।

राज्य के व्यवसायियों द्वारा शोषण से प्रजा की रक्षा—राज्य के व्यवसायियों द्वारा प्रजा का शोषण एवं पीड़न न हो सके इस कार्य के सम्पादन हेतु कौटिल्य इन व्यवसायियों को राज्य के नियंत्रण में रखना उचित समझते हैं। व्यवसायियों को राज्य के नियंत्रण में रखने के लिये कुछ विशेष नियमों के निर्माण की आवश्यकता पड़ती है। इस सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने कतिपय ऐसे नियमों का उल्लेख किया है जिनके अनुसार इन व्यवसायियों को आचरण करना अनिवार्य बतलाया गया है। जो व्यवसायी इन नियमों का उल्लंघन करता हुआ पाया जाए उसको समुचित दण्ड मिलना चाहिए कौटिल्य ने ऐसी व्यवस्था दी है। वह इस विषय को भली-भाँति समझते थे कि इन व्यवसायियों के व्यवसाय सम्बन्धी कौन से वह स्थल हैं जिनमें वह प्रजा को प्रच्छन्न रूप से धोखा देकर उनका शोषण कर सकते थे। कौटिल्य ने ऐसे नियमों का निर्माण कर जिससे इन स्थलों पर प्रजा संचेत हो जाए और इस प्रकार उसकी रक्षा हो सके प्रजा की इन व्यवसायियों के दाँव-पेचों से बचाने की व्यवस्था की है। उदाहरण के लिए उन्होंने इस प्रकार के नियम निर्धारित किये जाने की व्यवस्था की है जिन से यह स्पष्ट हो सके कि विभिन्न प्रकार की रई से स्थूल और सूक्ष्म सूत के अलग-अलग निर्माण में कितनी छीज जाती है। इसी प्रकार विभिन्न प्रकार के सूत से विभिन्न प्रकार के वस्त्रों के निर्माण किये जाने में छीज की दर क्या होगी।^१ कताई, बुनाई,

१—तन्तुदाया दशैकादशिकं सूत्रं बध्नेयुः ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

उर्णं सूनायाः पञ्चपत्तिको विहननच्छेदे रोमच्छेदश्च ॥

वार्ता १७ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

धनाई आदि की मजदूरी शिल्पी के कार्य करने की गति एवं कार्य की मात्रा तथा उस की उत्तमता के अनुसार कितनी होनी चाहिये ।^१ इस प्रकार इन्हें अधिक मजदूरी नहीं दी जा सकती थी । दूसरी ओर जो व्यक्ति इनकी मजदूरी में कमी करता अथवा न देता तो वह दण्ड का भागी माना गया है । इसी प्रकार धोबी की धुलाई, जनता के वस्त्रों को जान-बूझ कर क्षति पहुँचाने एवं उन्हें किराए पर देने अथवा उनका उपभोग करने, उनके बदलने अथवा विलम्ब से कपड़ों को धोकर देने आदि सम्बन्धी नियम निर्धारित थे ।^२ इसी प्रकार रंगरेज, वैद्य, नट नर्तक, सुनार आदि व्यवसायियों के आचरण को नियंत्रित करने के लिए नियम निर्धारित कर दिए गए हैं । यह नियम सर्व मान्य थे और इनको भंग करने पर मनुष्य दण्ड का भागी समझा गया है ।

बाजारों में भाव नियमानुसार निश्चित किये जाते थे ।^३ नाप-तौल के साधनों में धटती बढ़ती करने की रोक-थाम की व्यवस्था का आयोजन किया गया है ।^४ अच्छी वस्तु में कम मूल्य की वस्तु अथवा वैसी ही कम मूल्य की वस्तु को मिश्रण कर उस का बेचना दण्डनीय था ।^५ इस प्रकार राज्य की ओर से व्यवसायियों द्वारा किये जाने वाले शोषण एवं पीड़न से प्रजा की रक्षा के निमित्त उपायों का विधान किया गया है ।

१—सूत्रमूल्यं वानवेतनं लौमकौशेयानामध्यर्धगुणम् ॥

वार्ता ११ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—रजकाः काष्ठफलकश्लक्ष्णशिलासु वस्त्राणि नेनिज्युः ॥

वार्ता १८ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

अन्यत्र नेनिजन्तो वस्त्रोपघातं पट्पणं च दण्डं दद्युः ॥

वार्ता १९ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

परवस्त्र विक्रयवक्रयाधानेषु च द्वादशपणो दण्डः ॥

वार्ता २२ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

परिवर्तने मूल्यद्विगुणो वस्त्रदानं च ॥

वार्ता २२ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

पंचरात्रिकं तनुरागम् × × × ततः परं वेतनं हानिं प्राप्नुयुः ॥

वार्ता २४ से २७ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—प्रक्षेपं पण्यनिष्पत्तिं शुल्कं वृद्धिमवक्रयम् ।

व्ययानं न्यायं च संख्यापं स्थापयदं मिर्ववित् ॥

श्लोक ३६ अ० २ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—तुलामान भाण्डानि चावेक्षेत पौतवापचारात् ॥

वार्ता २ अ० २ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—सारभाण्डारमित्यसारभाण्डं तज्ज्ञातमित्य तज्ज्ञातं × × ×

चतुष्पञ्चाशत्पण्यो दण्डः ॥

वार्ता १६ अ० २ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

विशेष न्यायालय की व्यवस्था—राज्य के जो लोग इस प्रकार प्रजा शोषण एवं प्रजा पीड़न कार्य करते हुए पाए जाएँ उन को समुचित दण्ड दिया जाना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है। इस कार्य के सम्पादन हेतु कौटिल्य ने एक विशेष प्रकार के न्यायालय की स्थापना की व्यवस्था की है। इस विशेष न्यायालय में कौटिल्य के मतानुसार तीन विशेष राजकर्मचारियों को न्याय कार्य सम्पादन करना चाहिए। यह तीन विशेष राज कर्मचारी तीन प्रदेष्टा अथवा राज्य के तीन अमात्य होने चाहिए।^१ कौटिल्य ने इस क्षेत्र के लिए विधियों का संग्रह कर आदेश दिया है कि इन विधियों के अनुसार ही इन प्रजा शोषकों एवं प्रजा पीड़कों को दण्डित दिया जाना चाहिए।

दुष्ट जनों से प्रजा की रक्षा—प्रत्येक राज्य में कुछ न-कुछ ऐसे व्यक्ति अवश्य होते हैं जो अनायास ही प्रजा को त्रासित एवं पीड़ित करते रहते हैं और वह इस प्रकार स्वभाव से ही दुष्ट बन जाते हैं। इन दुष्ट जनों के कारण राज्य में शान्ति और सुरक्षा भंग होती रहती है और लोग निर्भय होकर सुखसे अपना जीवन व्यतीत नहीं कर पाते। इस प्रकार के लोगों में चोर, डाकू, व्यभिचारी, बंचक, घातक आदि कोटि के पुरुष विशेष रूप से परिगणित किये जाते हैं। यह अपने दाँव-पेच में फँस कर प्रजा को निरन्तर क्लेश देते रहते हैं। इस कोटि के दुष्ट-जनों से प्रजा की रक्षा के निमित्त कतिपय उपायों का आश्रय लिया जाना चाहिये ऐसा कौटिल्य का मत है। इन उपायों में उन्होंने एक प्रमुख उपाय यह बतलाया है कि राज्य में कुछ ऐसे विधियों का निर्माण कर उनको स्थायी रूप देने के लिए उनकी संहिता बना देनी चाहिए। यह विधि इतनी प्रचुर मात्रा में होने चाहिए जिससे इस प्रकार के दुष्टों की समस्त क्रियाओं एवं कुचक्रों के लिए उन्हें समुचित दण्ड विधान किया जा सके और इस प्रकार जो व्यक्ति जितनी मात्रा में दुष्टता का व्यवहार करता है उसको उतनी ही मात्रा में दण्ड भी भोगना अनिवार्य हो सके। इस प्रकार कौटिल्य ने इस क्षेत्र के जीवन को नियम बद्ध करने का प्रयत्न किया है।

इस विषय में दूसरा उपाय यह उचित समझा गया था कि राज्य की ओर से गुप्तचरों को नियुक्त किया जाना चाहिए यह गुप्तचर वेप बदले हुए राज्य में स्थान-स्थान पर बिखरे हुए होने चाहिए। जो व्यक्ति संदिग्ध आचरण वाले समझे जाते हों उनमें बुल-मिल कर इस प्रकार रहते रहें कि किसी व्यक्ति को उन पर गुप्तचर होने का संदेह न हो सके। यह गुप्तचर इन लोगों के दैनिक आचरण की सूचना राजा तक पहुँचाते रहें। इन गुप्तचरों में कुछ सिद्ध, तापस आदि का आडम्बर बनाकर इन दुष्ट जनों में अपने विशेष चमत्कारों का प्रदर्शन कर उनको अपनी सिद्धियों पर विश्वास

(८१)

कराते रहें और फिर वह लोग इन पर विश्वास करने लगे ।^१ इस विश्वास के बल पर यह गुप्तचर इन दुष्ट-जनों की दुष्टता को प्रकट कर राज कर्मचारियों से मिलकर उन्हें पकड़वा दें ।^२ इस प्रकार इन दुष्टों को दण्ड दिलाने में गुप्तचर निरन्तर प्रयत्नशील रहें—ऐसा कौटिल्य का मत है ।

इस विषय में कौटिल्य ने तीसरा उपाय यह बतलाया है कि दुष्टों के कुछ विशेष लक्षण होते हैं और इन लक्षणों के आधार पर दुष्टों की पहचान कर उनको समुचित दण्ड दिलाने की व्यवस्था होनी चाहिए । उन्होंने कुछ ऐसे विशेष लक्षणों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर यह जाना जा सकता है कि अमुक पुरुष का वध गला घोटकर किया गया है, अमुक का फाँसी पर लटका कर, अमुक का सूली पर चढ़ा कर, अमुक का जल में डुबा कर, अमुक का विष द्वारा और अमुक का धतूरे के योग से इत्यादि ।^३ चोरी कर वालों के द्वारा हुई है,^४ पड़ोसी के द्वारा की गयी है अथवा नौकर-चाकरों द्वारा की गयी है इत्यादि का पता इन लक्षणों के द्वारा सुगमता से लगाया जा सकता है ।^५ उन्होंने कुछ ऐसे लक्षणों का भी उल्लेख किया है जिनके आधार पर गुप्त अपराध करनेवाले पुरुषों की खोज की जा सकती थी ।^६ इन शंका युक्त पुरुषों की एक लम्बी सूची देकर कौटिल्य ने यह बतलाया है कि अमुक प्रकार के संदिग्ध आचरण वाले पुरुषों की छान-बीन कर गुप्तरीति से अपराध करने वाले अपराधी की खोज

१—सत्रोप्रयोगादूर्ध्वं सिद्धव्यञ्जना माणवा माणवविद्याभिः प्रलोभयेयुः

प्रस्वापनान्तर्धानद्वारापोहमंत्रेण प्रतिरोधकान्संवननमंत्रेण पारतत्पिकान् ॥

वार्ता १ अ० ५ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

इहैव विद्या प्रभावो दृश्यताम् ॥ वार्ता ३ अ० ५ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—पुराणचोरव्यञ्जना वा चोराननुप्रविष्टास्तथैव कर्म कारयेयुर्ग्राहयेयुश्च ॥

वार्ता १४ अ० ५ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—तैलाभ्यक्तमाशुमृतक परीक्षेत ॥ वार्ता १ अ० ७ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

निष्कीर्णमूत्रपुरीषं वातपूर्णकोष्ठत्वक्कं शूनपादपाणिमुन्मीलितानां सव्यञ्जनवण्टं पीडननिरुद्धोच्छ्वाससहत्वं विद्यात् ॥

वार्ता २ अध्याय ७ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

तमेव संकुचितबाहुसन्धिमुद्बन्धहत्वं विद्यात् ॥

वार्ता ३ अ० ७ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

देखिए वार्ता ३ से ११ तक अ० ७ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—मुषितवेश्मनः प्रवेशनिष्कसनमद्वारेण X X X अभ्यन्तरकृतं विद्यात् ॥

वार्ता २५ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—विषयये वाक्कृतं उभयत उभयकृतम् ॥ वार्ता २६ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

६—घोरं पारदारिकं वा विद्यात् ॥ वार्ता २८ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

करनी चाहिए।^१ इन लक्षणों के आधार पर दुष्टों की खोजकर उनको दण्डित करके इस प्रकार के भय एवं क्लेश से प्रजा की रक्षा होनी चाहिए।

राजकर्मचारियों द्वारा किए जाने वाले उत्पीड़न से प्रजा की रक्षा—राज्य में प्रजा-पालन एवं प्रजारंजन-कार्य की योजना विधिवत कार्यान्वित करने के लिए अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति की जाती है। इन कर्मचारियों का यह परम कर्तव्य होता है कि वह प्रजा का आत्यन्तिक कल्याण सम्पादन सम्बन्धी कार्य करें और अपने कर्तव्य का विधिवत पालन करें। परन्तु स्वार्थ-वश इनमें से कुछ कर्मचारी अपने कर्तव्य से च्युत हो जाते हैं और प्रजा को क्लेशित एवं पीड़ित करने लगते हैं और राजकीय द्रव्यों को हड़पने लगते हैं। इस प्रकार के कर्मचारियों से राज्य का बहुत बड़ा अहित एवं अकल्याण होने लगता है। इसलिए राजा का यह कर्तव्य हो जाता है कि वह ऐसे कर्मचारियों को खोज करके उनको समुचित दण्ड देकर राज्य के शासन कार्य को शुद्ध बनाएँ। परन्तु ऐसे कर्मचारियों का पता लगाना और साथ ही यह पता लगाना कि अमुक कर्मचारी ने किस प्रकार से और कितनी मात्रा में प्रजा-पीड़न अथवा राज्य के द्रव्य हरण सम्बन्धी कार्य किया है बड़ा कठिन कार्य होता है। इसलिए ऐसे दुष्ट कर्मचारियों की खोज करने के लिए और उनके द्वारा किए गए अपराध के जानने के लिए कौटिल्य राज्य के कर्मचारियों के पास गुप्तचरों की नियुक्ति करना उचित समझते हैं। यह गुप्तचर राज्य के समस्त छोटे और बड़े कर्मचारियों के समीप बिखरे हुए रहें और इन कर्मचारियों में इस प्रकार दुल-मिलकर रहने लगें कि इनमें उक्त कर्मचारियों के प्रति आत्मीयता का भाव उत्पन्न हो जाए। यह गुप्तचर इन कर्मचारियों को उत्कोच लेने, कामासक्त होने, राज्य के द्रव्य को हरण करने एवं अन्य प्रजा-पीड़न सम्बन्धी कार्यों के लिए उत्साहित करें और फिर अवसर आने पर उन्हें उक्त दोषयुक्त काम में संलग्न (Red-banded) पकड़ा दें और किसी को इस बात का लेशमात्र भी ज्ञान न होने पाये कि इन गुप्तचरों ने उनको पकड़ा दिया है। इस प्रकार इन दुष्ट राज-कर्मचारियों को इनके दोष के अनुसार दण्ड दिलाकर राज्य के कर्मचारियों के आचरण की निरन्तर शुद्धि होती रहनी चाहिए जिससे राज्य का कर्मचारी अपने कर्तव्यों का पालन करते हुए प्रजा-रंजन कार्य करते रहें। इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—समाहर्ता नामक राजकर्मचारी को 'राष्ट्र' में सिद्ध, तापस, सन्यासी, निरन्तर भ्रमणशील, चारण, कुहुक, प्रच्छन्दक, ज्योतिषी, शकुन-मुहूर्त बतानेवाले, चिकित्सक, पागल, गूंगे, बहरे, मूर्ख, अन्धे, व्यापारी, कारीगर, शिल्पी, नट, भांडू, कलाल, हलवाई, पक्का मांस बेचनेवाले, तथा रसोयिये आदि के वेष में गुप्तचरों को नियुक्त कर देना

१—सिद्धप्रयोगादूर्ध्वं शंकारूपकमाभिग्रहः ॥ वार्ता १ अ० ६ अधि० ४ अर्थ० ॥

हीणदायकुटुम्बमल्पनिर्वेशं × × × × शंकाभिग्रहः ॥

वार्ता २ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

चाहिए ।^१ वह गुप्तचर ग्राम के अध्यक्षों एवं ग्राम के मनुष्यों की पवित्रता एवं अपवित्रता का पता रखें !^२ जो गुप्तचर छलोपजीवी कृत्यों में दक्ष हैं उनकी छलोपजीवी कर्मचारी के समान नियत कर देना चाहिए ।^३ जब ऐसा व्यक्ति न्यायाधीश जान पड़े तो उससे सत्री नाम के दूत को मित्रता कर उसको धनराशि देकर अपराधी को क्षमा करने के लिये इस प्रकार कहना चाहिए—यह अभियुक्त मेरा बन्धु है ।^४ इसके इस अपराध को क्षमा कीजिये इसके बदले में यह धनराशि स्वीकार कीजिये ।^५ यदि न्यायाधीश धन लेकर उस अपराधी को मुक्त कर देता है तो उस न्यायाधीश को उत्कोच ग्रहण करनेवाला समझकर उसको उसके पद से च्युत कर देना चाहिये ।^६ यही नियम प्रदेष्टा के विषय में भी समझ लेना चाहिये ।^७ इस प्रकार अन्य गुप्तचरों को भी दुष्ट कर्मचारियों के आचरण की परीक्षा करते रहना चाहिये और उनको अपराध करते हुए पकड़वाते रहना चाहिये । राज्य में जो व्यक्ति कूटरूपक (Forged coins) बनाने का कार्य करते हैं उनका पता सत्री नाम के गुप्तचरों के द्वारा लगवाना चाहिये ।^८ उनका पता लग जाने पर उनको कूटरूपक बनानेवाला घोषित कर राज्य के बाहर निकाल देना चाहिये ।^९

इस प्रकार कौटिल्य ने दुष्ट राजकर्मचारियों एवं राज्य के दुष्ट आचरणधारी नागरिकों से प्रजा की रक्षा की व्यवस्था की है और जिसको उन्होंने कण्टकशोधन नाम से सम्बोधित किया है ।

दण्ड के सिद्धान्त—अपराधियों को दण्ड किन सिद्धान्तों के अनुसार मिलने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में विशेष वर्णन नहीं दिया है । परन्तु

१—समाहर्ता जनपदे सिद्धतापस × × × प्रणि दध्यात् ॥

वार्ता ३ अ० ४ अधि० ४ अर्थ० ॥

२—ते ग्रामाणामध्यक्षाणां च शौचाशौचं विद्युः ॥

वार्ता ४ अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—यं चात्र गृहजीविनं विशङ्केत तं सत्रि सवर्णेनापसंपयेत् ॥

वार्ता ५ अ० ४ अधि० ४ अर्थ० ॥

४—असौ मे बन्धुरभियुक्तः ॥

वार्ता ७ अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—तस्यायमनर्थः प्रतिक्रिप्रतामय चार्थः प्रतियुद्धतामिति ॥

वार्ता ८ अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

६—सचेत्तथा कुर्यादुपदाग्राहक इति प्रवास्येत ॥

वार्ता ९ अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

७—तेन प्रदेष्टारो व्याख्याताः ॥

वार्ता १० अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

८—कूट रूकारकं मन्येत तं सत्री शिष्यत्वेन न संभवहारेण चानुप्रविश्य प्रज्ञापयेत् ॥

वार्ता २८ अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

९—प्रज्ञातः कूटरूपकारक इति प्रवास्येत ॥ वार्ता २९ अ० ४ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

अपराधियों के लिए जो विभिन्न प्रकार के दण्ड उन्होंने निर्धारित किए हैं उनके ध्यान पूर्वक अध्ययन करने से ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने कतिपय सिद्धान्तों के आधार पर ही यह दण्ड निर्धारित किए हैं। सम्भवतः यह सिद्धान्त निम्नलिखित रहे होंगे—

(क) अपराध के अनुसार दण्ड देने का सिद्धान्त—अपराधियों को किन सिद्धान्तों के आधार पर दण्ड निर्धारित किया जाना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने सर्वप्रथम सिद्धान्त यह बतलाया है कि अपराधी को उसके अपराध के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिए, अर्थात् जिस व्यक्ति ने जिस मात्रा में अपराध किया है उस व्यक्ति को उसी मात्रा में दण्ड मिलना चाहिए। इसलिये जबतक अपराधी का अपराध प्रमाणित न हो जाए उसको दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।^१ इस प्रकार के दण्ड निर्धारित करने में कौटिल्य ने एक रूपता के लाने का प्रयत्न किया है।

(ख) अपराधी की सामर्थ्य के अनुसार दण्ड—दण्ड विधान का दूसरा सिद्धान्त यह था कि अपराधी को उसकी सामर्थ्य के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त की पुष्टि उन उद्धरणों से होती है जिनमें कौटिल्य ने शारीरिक निर्बलता अथवा सुकुमारता के कारण समर्थ व्यक्ति की अपेक्षा निर्बल एवं सुकुमार व्यक्ति को एक ही अपराध के लिए न्यून दण्ड निर्धारित किया है। इसी सिद्धान्त के अनुसार कौटिल्य ने एक ही अपराध के लिये पुरुष की अपेक्षा स्त्री को आधा दण्ड देना उचित समझा है। उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि स्त्री को पुरुष की अपेक्षा आधा दण्ड मिलना चाहिये।^२ इसी सिद्धान्त के आधार पर उन्होंने दूसरे स्थल पर यह व्यवस्था दी है एक मास से न्यून काल की प्रसूता या गर्भिणी स्त्री को शारीरिक दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए।^३ कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दण्ड निर्धारित करते हुए एक प्रसंग में यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि अपराधी की आय के अनुसार अर्थ दण्ड दिया जाना चाहिये।^४ इस प्रकार इन व्यवस्थाओं के द्वारा यह प्रमाणित हो जाता है कि कौटिल्य इस सिद्धान्त में आस्था रखते थे कि अपराधी को उसकी सामर्थ्य के अनुसार ही दण्ड दिया जाना चाहिए। इस सिद्धान्त के अपनाने का सबसे अच्छा परिणाम यह होता है कि प्रत्येक अपराधी को वास्तव में उचित दण्ड मिल जाता है।

(ग) वर्ण के अनुसार दण्ड—अपराधियों के लिये दण्ड निर्धारित करने में तीसरा सिद्धान्त यह था कि दण्ड विधान करने में अपराधी के वर्ण का भी ध्यान रखना उचित होगा। एक ही अपराध के लिये ब्राह्मण वर्ण के अपराधी और अन्य वर्णों के अपराधियों के लिये भिन्न प्रकार के दण्ड दिये जाने चाहिए इस सिद्धान्त का प्रतिपादन

१—आप्तदोषं कर्मकारयेत् ॥

वार्ता २१ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—स्त्रिणास्त्वर्धकर्म वाक्यानुयोगी वा ॥ वार्ता २३ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—न त्वेव स्त्रियं गर्भिणीं सूतिकां वा मासावरप्रजाताम् ॥

वार्ता २२ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—यावज्जीविकावस्थं दद्यात् ॥

वार्ता १६ अ० १८ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

कौटिल्य ने किया है। जिस अपराध के लिये अन्य वर्णों के अपराधियों के लिये मृत्यु दण्ड निर्धारित किया गया है ब्राह्मण वर्ण के अपराधी को उस दण्ड से मुक्त कर उसके स्थान में अन्य प्रकार के दण्ड देना उचित समझा गया है। इस विषय में कौटिल्य ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि ब्राह्मण को यातना सम्बन्धी दण्ड नहीं दिए जाने चाहिये।^१ अपराधी ब्राह्मण के लिये उसके द्वारा किये गये अपराध को लक्षित करने वाले चिन्ह से अंकित कर देश से बाहर निकाल देना मात्र ही पर्याप्त समझा गया है।^२ यदि नीचे वाले वर्ण के किसी व्यक्ति ने ऊँचे वर्ण के व्यक्ति के प्रति किसी प्रकार का अपराध किया है तो उसको दो गुना^३ यदि इसके विपरीत—ऊँचे वर्ण के व्यक्ति ने नीचे वाले वर्ण के प्रति—हुआ है तो एक ही अपराध के लिये निर्धारित दण्ड का आधा दण्ड दिया जाना चाहिये—ऐसा कौटिल्य का मत है।^४

ऐसा देखा जाता है कि समाज में भिन्न-भिन्न स्तर के लोग रहते हैं। कुछ लोग ऐसे होते हैं जिनके लिए अल्प दण्ड ही पर्याप्त होता है और वह उसको अपने लिए बड़े से बड़ा दण्ड समझ लेते हैं। ऐसे व्यक्ति के लिये अल्प दण्ड का वही प्रभाव पड़ता है जो कि महान दण्ड का होना चाहिए। सम्भवतः इसी सिद्धान्त के आधार पर समाज में नैतिक स्तर के आधार पर बने हुए विभिन्न वर्णों के लिये कौटिल्य ने उनके नैतिक स्तर के अनुसार ही अपराध के लिए अल्प एवं महान दण्डों का विधान किया है।

(घ) विशेष परिस्थिति के अनुसार दण्ड—कभी-कभी ऐसा देखा गया है कि मनुष्य स्वयं अपराध करना नहीं चाहता परन्तु परिस्थिति वश वह अपराध करने के लिये विवश हो जाता है। इस दशा में मनुष्य के द्वारा किए गये अपराध के लिए पूर्ण मात्रा में दण्ड नहीं मिलना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है क्योंकि मनुष्य को परिस्थिति अपराध करने के लिये विवश कर देती है। इस विषय में कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं जिनसे इस सिद्धान्त की स्थापना होती है। कौटिल्य उस व्यक्ति को निर्धारित दण्ड का आधा दण्ड देना उचित समझते हैं जो व्यक्ति प्रमाद, मद, मोह आदि के प्रभाव में आकर किसी दूसरे व्यक्ति के लिए घृणित शब्दों का प्रयोग करता है।^५ यही नियम अन्य प्रकार के अपराधों में भी लागू करना उचित बतलाया

१—सर्वपराधेष्वपीडनीयो ब्राह्मणः ॥ वार्ता ३२ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—ब्राह्मणं पापकर्माणमुद्धरात्कृतव्रणम् ।

कुर्यान्निर्विषयं राजा वासयेदाकरेषु वा ॥

श्लोक ३८ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—विशिष्टेषु द्विगुणः

॥ वार्ता ७ अ० १८ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

४—हीनेष्वर्धदण्डः

॥ वार्ता ८ अ० १८ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—प्रमादमदमोहादिभिरर्ध दण्डाः

॥ वार्ता १० अ० १८ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

गया है।^१ इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर कौटिल्य इस प्रकार की व्यवस्था देते हैं जिसमें बाल, वृद्ध, रोगी, मत्त, उन्मत्त, भूखे, प्यासे, थके, अधिक भोजन किये हुए, रोगी एवं दुर्बल अपराधी को कठोर काय-दण्ड देने का निषेध किया गया है।^२

(ङ) भय का आतंक स्थापित करने का सिद्धान्त—कौटिल्य ने इस ओर विशेष ध्यान दिया है कि जिस कार्य के करने से कठोर दण्ड भोगना पड़ेगा जब मनुष्य को ऐसा ज्ञात हो जाता है तो वह इस प्रकार के कार्य करने में भय खाता है और उसको पुनः करने का साहस नहीं करता। इस प्रकार मनुष्य भय के आतंक से प्रभावित होकर पाप से वचता रहता है। इसीलिए उन्होंने इस प्रकार के कुछ दण्डों का भी विधान किया है जो आधुनिक युग में अमानुषिक एवं असभ्यता पूर्ण समझे जाएँगे। इस प्रकार के दण्डों को सुनकर मनुष्य का हृदय काँपने लगता है और वह अपराध करने का साहस नहीं करता। कौटिल्य का मत है कि इस प्रकार के दण्ड अपराधी को ऐसे स्थान पर दिए जाने चाहिए जहाँ से इस प्रकार का समाचार जनता में शीघ्र पहुँच जाए। लोग स्वयं अपनी आँखों से अपराधी को दण्ड की वेदना में तड़पता हुआ देख सकें। इस कौटि के दण्डों में कुछ इस प्रकार के दण्ड बतलाए गए हैं जैसे त्वचा एवं शरीर पर जलती हुई अग्नि रखवा कर मरवा देना।^३ जिह्वा का छेदन करवा देना।^४ हाथ-पैर बांधकर आँधे लटकाना,^५ नखों में सुई चुभोना^६ आदि।

(च) लज्जित होने का सिद्धान्त—कौटिल्य ने दण्ड के क्षेत्र में यह सिद्धान्त भी स्थापित किया है कि जनता में लज्जित होने के भय से लज्जाशील मनुष्य पाप कर्म से वचने का प्रयत्न करते हुए देखे जाते हैं। इस दृष्टि से इस वर्ग के मनुष्यों को कौटिल्य ने कुछ विशेष प्रकार के दण्डों का विधान किया है जिससे इस वर्ग के लोगों को लज्जित किया जा सके और जिसके फल-स्वरूप वह मनुष्य जनता की दृष्टि में पतित हो जाए। विद्वान् ब्राह्मण वर्ण के अपराधियों को इसी प्रकार के दण्ड देने का विधान किया गया है। कौटिल्य ने इस सिद्धान्त की पुष्टि में इस प्रकार की व्यवस्था दी है—विभिन्न अपराधों के लिए ब्राह्मण अपराधी के ललाट पर निर्धारित अपराधों को प्रकट करने वाले चिह्न अंकित करा देने चाहिये जिससे अपराधी ब्राह्मण की आय एवं प्रतिष्ठा का

१—प्रमादमयोहादिमिरर्ध दण्डाः ॥ वार्ता ६ अ० १६ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

२—बालं वृद्धं प्राथितं मत्तमुन्मत्तं क्षुत्पिपासाध्वक्लान्तमस्याशितमात्मका शितं दुर्बलं वा न कर्मकारयेत् ॥ वार्ता १७ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—मातृपितृपुत्रभ्रात्राचार्यतपस्विघातकं वा त्वचिह्नः प्रादीपिकं घातयेत् ॥ वार्ता १६ अ० ११ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—तेषामाक्रोशे जिह्वाच्छेदः ॥ वार्ता २० अ० ११ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—द्वावुपरिनिबन्धौ ॥ वार्ता २७ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

६—सूची हस्तः ॥ वार्ता २८ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

नाश हो जाए ।^१ चोरी के अपराध में कुत्ते का चिन्ह,^२ मनुष्य वध में कबन्ध^३, गृह-पत्नी-गमन में भग^४ और सुरापान में सुरागृह की ध्वजा का चिन्ह^५ (दाग) अपराधी ब्राह्मण के ललाटे पर लगवा देने चाहिये । अपराधी ब्राह्मणों को लज्जित करने के लिये इस प्रकार के दण्ड विधान किये गये हैं जिससे वह लज्जा के भय के कारण इस प्रकार के अपराधों से अपने को दूर रखते रहें ।

(छ) सुधार का सिद्धान्त—आधुनिक युग में ऐसा अनुभव किया गया है कि दण्ड देने का मुख्य उद्देश्य अपराधी का सुधार करना है । इसलिए अपराधियों को इस प्रकार के दण्ड देने की व्यवस्था की जाती है जिससे अपराधी के आचरण में सुधार हो जाय और वह भविष्य में ऐसे कुत्सित कार्य पुनः न करे जिससे उसको राज्य की ओर से दण्ड दिया जाए । कौटिल्य ने भी दण्ड के इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है । बन्दी-गृह में जो अपराधी रखे जायँ उनके आचरण में सुधार करने के लिए अनेक साधनों के अपनाए जाने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है । इनमें एक साधन यह भी बतलाया गया है कि बन्दी-गृहों (Jails) में रहनेवाले अपराधियों के आचरण का निरीक्षण समय-समय पर किया जाता चाहिये और इन निरीक्षणों के आधार पर उन अपराधियों को मुक्त कर देना चाहिए जिनका आचरण शुद्ध प्रमाणित हो गया है ।^६ इसके अतिरिक्त अनेक प्रकार के प्रायश्चित्तों का उद्देश्य भी यही था कि प्रायश्चित्त के द्वारा अपराधी अपने अपराध के कुपरिणामों का बोध कर सके, और फिर तप द्वारा पापों से मुक्त होकर वह पुनः शुद्धाचारी बन जाए । कौटिल्य ने भी प्रायश्चित्त की प्रणाली को मान्यता दी है । इस प्रकार यह स्पष्ट है कि कौटिल्य ने दण्ड को सुधार का साधन माना है ।

इसलिए यह कहना उचित ही होगा कि कौटिल्य ने दण्ड विधान करने में अनेक सिद्धान्तों की ओर संकेत किया है ।

दण्ड के प्रकार—अपराधी को उसके अपराध के अनुसार विविध प्रकार के दण्ड निर्धारित किए गये हैं । विविध प्रकार के इन दण्डों को मुख्य तीन श्रेणियों में विभक्त

१—तस्याभिशस्तांको ललाटे स्याद्भवहारपतनाय ॥

वार्ता ३३ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—स्तेयेश्वा ॥

वार्ता ३४ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—मनुष्यवधे कबन्धः ॥

वार्ता ३५ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—गृहत्वे भगं

॥ वार्ता ३६ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—सुरापाने मद्यध्वजः

॥ वार्ता ३७ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

६—पुण्यशीलाः समयानुबद्धा वा दोषनिष्कृत्य दयुः ॥

वार्ता ५८ अ० ३६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

दिवसे पञ्चरात्रे वा बन्धनस्थान् विशेषयेत् ॥

श्लोक ५९ अ० ३६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

किया जा सकता है। इन तीन श्रेणियों को कौटिल्य ने अर्थदण्ड, कायदण्ड और बन्धनागार दण्ड के नाम से सम्बोधित किया है।^१

(क) अर्थदण्ड—कतिपय अपराधों के लिए, कौटिल्य ने अर्थदण्ड दिया जाना उचित समझा है। उन्होंने कतिपय अपराधों के लिए अर्थदण्ड तो नियत किए ही हैं परन्तु सिद्धान्त रूप में उन्होंने कहीं भी इस बात का उल्लेख नहीं किया है कि अमुक प्रकार के दण्ड अर्थदण्ड के अन्तर्गत आने चाहिए। उन्होंने स्थान-स्थान पर अर्थदण्डों का उल्लेख किया है जो पण के आठवें अंश से लेकर सहस्रो पण तक बतलाए गये हैं। इस विषय में केवल इतना कहा जा सकता है कि कौटिल्य ने अपराधों के लिए अर्थदण्ड देने का भी पोषण किया है और यह अर्थदण्ड, अपराध की गुरुता एवं द्युता के अनुसार बड़े और छोटे दोनों प्रकार के होने चाहिए। परन्तु कुछ ऐसा भास अवश्य होता है कि दीवानी के अभियोगों एवं न्यून महत्त्व के फौजदारी के अभियोगों (criminal cases) में इस प्रकार के दण्ड का विशेष उपयोग होना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत जान पड़ता है।

(ख) काय-दण्ड—अपराधी को शारीरिक दण्ड देना काय दण्ड कहलाता है। उन्होंने अपराधी के अपराध के अनुसार कायदण्ड निर्धारित किए हैं। कायदण्ड के अनेक रूप बतलाए गये हैं इनमें दैत मारना, कोड़े मारना, रस्सी से मारना, उलटे लटकाना, हाथियों से कुचलवाना, कुत्तों से कटवाकर प्राण लेना, हाथ पैर आदि अंगों को कटवाना, शरीर के मरमस्थानों का छेदन करवाना, नखों में सुयियां चुभोना, क्लेश पूर्वक शरीर के अंगों को कटवाना, शरीर एवं शीश पर जलते हुये अंगार रखकर प्राण लेना, जल में डुबाना, शुद्ध बध करना, शरीर की खाल निकलवाना आदि मुख्य बतलाए गये हैं। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के चौथे अधिकरण के आठवें अध्याय में काय-दण्ड का विशेष वर्णन किया है।^२ इसके अवलोकन करने से काय-दण्ड के विभिन्न रूपों एवं प्रकारों का संक्षेप में बोध हो जाता है। कौटिल्य ने राज्य के धन के अाहरण करने वाले अथवा राज्य के विरुद्ध षडयंत्र रचनेवाले अपराधियों के लिये विशेष प्रकार के क्रूरता पूर्ण काय-दण्डों का विधान किया है और अल्प अपराधों के लिये भी अपराधी को प्राण-दण्ड देना निर्धारित किया है। दस पण मात्र मूल्य वाले राज्य के किसी पदार्थ के अपहरण करनेवाले अपराधी के लिये कौटिल्य ने प्राण दण्ड निर्धारित

१—कर्मणा कायदण्डेन हिरण्यानुग्रहेण वा ॥

× × × बन्धनस्य विधीयते ॥ श्लोक ५६, ६० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—व्यवहारिकम् कर्मचतुष्टयम् । षड्दण्डाः सप्तकशा द्वावुपरिनिबन्धानुदरुनातिता च । पर पापकर्मणां नवघेनलता द्वदशकं द्वावुरौ अष्टौविंशतिर्नक्त मातृकता द्वाविंशत्तया द्वौ वृश्चिककर्मभातबुल्लभ्यने चले सूचीदस्तत यद्यागृहीतस्यैकपर्व-यहनमङ्गुल्याः स्नेहपीतस्य प्रतापनमेकमह शिशिररात्री बलवज्राग्रशय्या चोद्येष्टा-दशकं कर्म ॥ वाक्ता २६ से २८ तक अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

किया है ।^१ इसी प्रकार राजकोष में अच्छे सिक्कों के स्थान में कूटरूपक (जाली सिक्के) रख दे उसके लिए भी बंध दण्ड की व्यवस्था की गयी है ।^२ राजा के राज्य के पाने की अभिलाषा करनेवाले, राजा के निवास में प्रवेश करनेवाले, राजा के विरुद्ध, वन के निवासियों एवं शत्रु को उत्साहित करनेवाले, अथवा राजा के दुर्ग, राष्ट्र और सेना में असन्तोष उत्पन्न करनेवाले व्यक्ति को शिर से पैर तक अग्नि के द्वारा जला देना चाहिए—इस प्रकार की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है ।^३

(ग) बन्धनगृह-दण्ड—कौटिल्य ने बन्धन-गृह (Jail) को बन्धनागार और उसके मुख्य अधिकारी को बन्धनागाराध्यक्ष (Superintendent of Jail) नाम से सम्बोधित किया है ।^४ सन्निधातृ नाम के पदाधिकारी के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने उसका एक यह भी कर्तव्य बतलाया है कि उसको अपराधियों के निमित्त राज्य में बन्धनागार का निर्माण करवाना चाहिये ।^५ इस बन्धनागार में स्त्री और पुरुष अपराधियों के रहने के लिए पृथक-पृथक स्थान होने चाहिए । बन्धनागार भली भाँति रक्षित अनेक कोठरियों से युक्त होना चाहिए ।^६

अपराध के नियंत्रण हेतु मनु ने भी तीन उपाय बतलाये हैं जिन में एक उपाय अपराधियों को बन्धन-गृह में रखना भी बतलाया है ।^७ मनु ने भी अपराधियों के लिए बन्धन-गृहों के निर्माण एवं राजा द्वारा उनका निरीक्षण किया जाना राजा का एक कर्तव्य निर्धारित किया है ।^८ शुक ने भी अभियुक्तों (arrested ones) और निरुद्धों (convicts) को बन्धन-गृह में रखने का आदेश दिया है ।^९

१—खनिसारकर्मन्तेभ्यः सारं रत्नं वापहरतः शुद्धवधः

वार्ता २ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

आदशपणमूल्यादिति वधः ॥ वार्ता १० अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—कोशे प्रक्षिपतो वधः ॥ वार्ता ६२ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—राज्यकामुकमन्तः पुर प्रधर्षकमटव्यमित्रोत्साहकं दुर्गराष्ट्रदण्डकोपकं वा शिरोहस्त-
प्रादीपिकं घातयेत् ॥ वार्ता १७ अ० ११ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—बन्धनागारात्सर्वस्वं वधश्च । बन्धनागाराध्यक्षस्य × × × दण्डः ॥

वार्ता ४८, ४९ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—सन्निधाता कोशगृहं पण्यगृहं × × × बन्धनागारं च कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० ५ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—स्त्रीपुरुषस्थानमपसारतः सुगुप्तकक्षं बन्धनागारं कारयेत् ॥

वार्ता ५ अ० ५ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—निरोधनेन बन्धेन विविधेन वधने च ॥ श्लोक ३१० अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

८—बन्धनानि च सर्वाणि राजमार्गे निवेशयेत् ॥

दुःखिता यत्रदृश्येरन्विकृताः पापकारिणः ॥ श्लोक २८८ अ० ६ मानवधर्मशास्त्र ॥

९—अभियुक्तनिरुद्धैर्वा ॥ श्लोक २६८ अ० १ शुकनीति ॥

अपराधियों के निमित्त अन्य प्रकार के दण्डों के अतिरिक्त कौटिल्य ने बन्धनगृह दण्ड भी स्त्री, पुरुष एवं बाल अपराधियों के लिये निर्धारित किये हैं। उन्होंने स्त्री पुरुष, एवं बाल अपराधियों के लिए बन्धन-गृह में उनकी सामर्थ्य के अनुसार पृथक्-पृथक् जो कार्यनिर्धारित किए हैं उससे इस सिद्धान्त की पुष्टि हो जाती है कि बन्धन-गृह में स्त्री, पुरुष एवं बाल अपराधी भी रखे जाते थे। परन्तु इन अपराधियों के विषय में अर्थशास्त्र में जो वर्णन उपलब्ध है उसके आधार पर यह स्पष्ट ज्ञात नहीं होता कि इन तीन प्रकार के अपराधियों के निमित्त तीन प्रकार के पृथक्-पृथक् बन्धन-गृह भी होते थे। आधुनिक काल के समान बाल अपराधियों के लिए विशेष प्रकार के बन्धन-गृहों (Juvenile Jails) का निर्माण उस काल में होता था इस पक्ष में कोई पुष्ट प्रमाण प्राप्त नहीं है। अपितु इसके विरुद्ध प्रमाण मिलता है। कौटिल्य ने कतिपय ऐसी व्यवस्थाएं दी हैं जो इस सिद्धान्त की पुष्टि करती हैं कि एक ही बन्धन-गृह में यह तीनों कोटि के अपराधी रखे जाते थे। उन्होंने उस पुरुष बन्दी (male prisoner) को मृत्यु दण्ड का विधान किया है जो बन्धनगृह में किसी बन्दी स्त्री (Female prisoner) के सतीत्व को नष्ट करता है।^१ कौटिल्य द्वारा दी गयी इस व्यवस्था से यह स्पष्ट सिद्ध होता है कि स्त्री और पुरुष दोनों प्रकार के बन्दी (prisoners) एक ही बन्धन-गृह में रखे जाते होंगे। परन्तु यह मानना पड़ेगा कि बन्धनगृह में पुरुष और स्त्री दोनों प्रकार के बन्धियों के लिए पृथक्-पृथक् स्थान निर्धारित थे जिससे उनका परस्पर सम्पर्क न हो सके।

बन्धनगृह में अनुशासन—बन्धनगृह में रहनेवाले बन्धियों में अनुशासन के ऊँचे स्तर की आशा की जाती थी। अभी ऊपर यह वर्णन किया जा चुका है कि उस बन्दी के लिए कौटिल्य ने प्राण-दण्ड निर्धारित किया है जो बन्धनगृह में किसी बन्दी के सतीत्व को भ्रष्ट करने का प्रयत्न करता था। बन्धन-गृह के कर्मचारियों एवं सेवकों के पथ प्रदर्शन हेतु, कतिपय नियम निर्धारित किए गए थे। यह नियम बन्धियों के भोजन-छादन एवं उनके दैनिक जीवन से सम्बन्धित होते थे। इन नियमों के भंग करनेवाले व्यक्ति को बठोर दण्ड दिया जाता था। कौटिल्य बन्धनगृह के उस कर्मचारी अथवा सेवक को चौबीस पण दण्ड देना निर्धारित करते हैं जो इन नियमों को भंग कर किसी बन्दी के प्रति विशेष कृपा करता हुआ पाया जाए।^२ कौटिल्य ने उस बन्दी को मृत्यु-दण्ड निर्धारित किया है जो बन्धनगृह से भाग जाने का प्रयत्न करता हो। एवं उस कर्मचारी की समस्त सम्पत्ति के राज्य द्वारा अपहरण किए जाने की व्यवस्था दी है जो किसी बन्दी के भाग जाने में सहायता देता हुआ पाया जाता।^३

१—संस्कृतस्य वा तत्रैव धातः

॥ वार्ता १७ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—बन्धनागाराध्वक्षस्य संरुद्धकमनाख्याय चारयतश्चतुर्विंशतिपणो दण्डः ॥

वार्ता ४६ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—बन्धनागारात्सर्वस्वं वधश्च

॥ वार्ता ४८ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

बन्धियों की सामान्य सुविधाएँ—इसमें सन्देह नहीं कि बन्धनगृह का जीवन कठोर अनुशासन से नियंत्रित रहता था। परन्तु बन्धियों की दैनिक साधारण आवश्यकताओं की सन्तुष्टि हेतु प्रयत्न किया जाता था। बन्धन-गृह के कर्मचारी एवं सेवकों को बन्धियों के सुख की ओर विशेष प्रकार से सचेष्ट रहना पड़ता था। कौटिल्य ने बन्धन-गृह के उस कर्मचारी के लिए छियानवे पण का दण्ड निर्धारित किया है जो बन्दी के भोजन आदि के पहुँचाने में विघ्न डालता है।^१ उन्होंने इतना ही दण्ड उस कर्मचारी अथवा सेवक के लिए भी निर्धारित किया है जो बन्धियों के वास-स्थान में बन्धनगाराध्यक्ष की आज्ञा बिना उलट फेर कर देता है।^२ जो कर्मचारी अथवा सेवक बन्धियों को क्लेश देता है अथवा उत्कोच देने के लिए विवश करता है उसको मध्यम साहस दण्ड विधान किया गया है।^३ यदि कोई कर्मचारी बन्दी को मारता-पीटता तो ऐसे कर्मचारी को एक हजार पण दण्ड देने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।^४ इस प्रकार बन्धियों की दैनिक आवश्यकताओं को दृष्टि में रखकर उनकी सुविधा का विशेष ध्यान रखा जाता था।

बन्धियों से कार्य—कौटिल्य बन्धियों को आलस्य पूर्ण जीवन व्यतीत करना उचित नहीं समझते। इसीलिए उन्होंने बन्धन-गृह में बन्धियों से उचित कार्य कराए जाने चाहिए—इस प्रकार की व्यवस्था दी है। वह राष्ट्र की सम्पत्ति की वृद्धि सम्बन्धी कार्य बन्धियों से कराना चाहते हैं। उन्होंने इस सिद्धान्त की पुष्टि स्त्री बन्धियों के लिए कार्य निर्धारित करके की है। उन्होंने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि बन्धन-गृह में स्त्रियों से ऊन, वल्कल, कपास, विशेष प्रकार की रुई, शण और क्षौम आदि की कटाई का कार्य लेना चाहिए।^५ शुक्र ने भी इस सिद्धान्त का प्रतिपादन किया है। उनका मत है कि अभियुक्त और निरुद्ध दोनों प्रकार के बन्धियों को मार्गों के निर्माण एवं उनके जीर्णोद्धार कार्य में लगाना चाहिए।^६

कौटिल्य ने कतिपय ऐसे बन्धियों का भी उल्लेख किया है जिनसे अस्वस्थ होने, वृद्ध होने, अल्प आयु होने के कारण अथवा ऐसे ही अन्य शारीरिक असमर्थता के कारण शारीरिक कार्य नहीं लेना चाहिए। उनके मतानुसार बाल, वृद्ध, व्याधित, भूखे,

१—× × अन्नपानं वा रुन्धतः पण्यवतिर्दण्डः ॥

वार्ता ५१ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—स्थानान्प्रद्वं गमयतो × × × ॥ वार्ता ५१ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

३—परिक्लेशयत उत्कोटयतो वा मध्यमः साहसदण्डः ॥

वार्ता ५२ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

४—घ्नतः साहस्रः

॥ वार्ता ५३ अ० ६ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

५—उर्णावल्ककपासतूलशणक्षौमाणि च × × दण्डप्रतिकारिणो × × कर्तयेत् ॥

वार्ता २ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—मार्गान्मुधाशकं रैर्वाघटितान्प्रतिवत्सरम् ।

अभियुक्तनिरुद्धैर्वा कुर्यात् ग्राम्यजमैर्नृपः ॥ श्लोक २६७-६८ अ० १ शुक्रनीति ॥

प्यासे और जिनको अजीर्ण हो गया है ऐसे बन्धियों से बन्धन-गृह में शरीरिक कार्य नहीं लेना चाहिए ।^१

बन्धन-गृह से बन्धियों की मुक्ति—अपराधी अपने अपराध के अनुसार निर्दिष्ट काल के लिये बन्धन-गृह दण्ड भोगने के निमित्त बन्धन-गृह में भेजे जाते थे । निर्दिष्ट काल के समाप्त हो जाने पर वह बन्धन-गृह दण्ड से मुक्त कर दिए जाते थे । इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने कुछ ऐसे अवसर भी बतलाए हैं जब बन्धन-गृह के समस्त बन्धियों को मुक्त कर दिया जाना चाहिए । यह अवसर किसी नवीन देश को विजय करने, युवराज के अभिषेक के समय और राजा के पुत्र उत्पन्न होने के समय बन्धियों को मुक्त कर देने के अवसर माने गए हैं ।^२ इसके अतिरिक्त कतिपय विशेष प्रकार के बन्धियों के मुक्त कर देने के भी अवसर बतलाए गये हैं । राजा की वर्षगाँठ, शुभनक्षत्र, और पूर्णमासी आदि पर्व पर बन्धन-गृह से बाल, वृद्ध, रोगी और अनाथ बन्धियों को मुक्त कर देना चाहिए ।^३ पुण्य आचरणधारी बन्धियों से पुण्य आचरण धारण करते रहेंगे ऐसी प्रतिज्ञा ले लेने पर बन्धन-गृह से मुक्त कर दिया जाना चाहिए ।^४ मौर्य सम्राट अशोक ने भी अपने शिलालेखों में इस परम्परा का उल्लेख किया है कि राजा की वर्षगाँठ के अवसर पर राज्य के बन्धन-गृह के बन्धियों को मुक्त कर दिया जाता था ।

कौटिल्य बन्धन-गृह के बन्धियों को आचरण की शुद्धि के आधार पर उनको बन्धन-गृह से मुक्त कर देने का आदेश देते हैं । इस विषय में वह यह व्यवस्था देते हैं कि प्रति दिन अथवा प्रति पाचवें दिन बन्धन-गृह में बन्धियों का निरीक्षण होना चाहिए और इस निरीक्षण के आधार पर आचरण की शुद्धता देखकर कुछ बन्धियों को मुक्त कर देना चाहिए । कुछ काम करा कर, काय-दण्ड देकर अथवा अर्थदण्ड-धन का भुगतान हो जाने पर अपराधी दोषानुसार मुक्त किए जाने चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है ।^५

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने अपराधियों के निमित्त अपराधों के अनुसार अनेक प्रकार के दण्डों का विधान किया है और जिनको उन्होंने अर्थदण्ड, कायदण्ड, और बन्धन-गृह दण्ड—इन तीन श्रेणियों में परिगणित किया है ।

१—मन्दापराधं बालं वृद्धं व्याधितं मत्तमुन्मत्तं क्षुत्पिपासाध्वलान्तमत्याशितमात्मका

शितं दुर्बलं वा न कर्मकारयेत् ॥ वार्ता १७ अ० ८ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—अपूर्वदेशाधिगमे युवराजाभिषेचने ।

पुत्रजन्मनि वा मोक्षो बन्धनस्य विधीयते ॥ श्लोक ६० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—बन्धनागारे च बालवृद्धव्याधितानाथानां च जातनक्षत्र पौर्णमासीपुदिसर्गः ॥

वार्ता २७ अ० ३६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—पुण्यशीलाः समयानुबद्धा वा दोषनिष्क्रयं दद्युः ॥

वार्ता २८ अ० ३६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—दिवसे पञ्चरात्रे वा बन्धनस्थान् विशोधयेत् ।

कर्मणा कायदण्डेन हिरण्यानुग्रहेण वा ॥ श्लोक २६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

अष्टम अध्याय

राज्य की आर्थिक नीति तथा राज्य नियंत्रित उद्योगों का संघठन

राज्य की आर्थिक नीति के मूल सिद्धान्त—आचार्य कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की आर्थिक नीति क्या थी इस विषय पर उन्होंने समुचित प्रकाश डाला है। अर्थशास्त्र के द्वितीय अधिकरण में इसी विषय का विशेष प्रकार से उल्लेख किया गया है। कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की आर्थिक नीति मुख्य तीन सिद्धान्तों पर आधारित थी। इन तीन सिद्धान्तों में प्रथम सिद्धान्त यह था कि राज्य में ऐसे उद्योग हों जिन पर राज्य का अस्तित्व निर्भर हो, उनका संघठन एवं संचालन राज्य को स्वयं करना चाहिए। इन उद्योग में समस्त पूंजी (Capital), श्रम (Labour) और प्रबन्ध (Management) राज्य का ही होना चाहिए। इस प्रकार कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राज्य की आर्थिक नीति का प्रथम मूल सिद्धान्त राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों (Key industries) पर राज्य का प्रत्यक्ष स्वामित्व का अधिकार (Right of State ownership) स्थापित करना है। इस श्रेणी के उद्योगों के क्षेत्र (Sector) में राज्य के नागरिकों को निजी सम्पत्ति (Private Property) के अधिकार का निषेध किया गया है। राज्य के अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उद्योगों (Key Industries) पर राज्य का स्वामित्व (State ownership) स्थापित करने का मुख्य उद्देश्य सशक्त राज्य का निर्माण करना था।

आचार्य कौटिल्य की आर्थिक नीति का दूसरा मूल सिद्धान्त यह था कि राज्य में महत्त्वपूर्ण उद्योगों के क्षेत्र (Sector of the key industries of the State) को बहिष्कृत करने के उपरान्त उद्योगों का जो क्षेत्र अवशेष रह जाता है उस क्षेत्र में राज्य के नागरिकों को निजी सम्पत्ति (Private property) के रखने के अधिकार को मान्यता दी गयी है। इस क्षेत्र में जनता अपनी पूंजी (Capital) अपने श्रम (Labour) एवं प्रबन्ध (Management) द्वारा उद्योगों का संघठन एवं संचालन कर सकती थी और इन उद्योगों में जो पूंजी एवं उपकरण का उपयोग किया गया है उस पर उसके संस्थापक का ही एक मात्र अधिकार होना चाहिए।

आचार्य कौटिल्य के राज्य की आर्थिक नीति का तीसरा मूल सिद्धान्त मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न किया जा सके इस प्रकार की व्यवस्था का राज्य में स्थापित किया जाना बतलाया गया है। इस सिद्धान्त को क्रियात्मक रूप देने के लिए कौटिल्य ने राज्य-नियन्त्रण (State Control) के सिद्धान्त के अपनाए जाने का प्रातिपादन किया है। इस दृष्टि से वह राज्य में उत्पादन (Production), उसके वितरण

(Distribution) एवं उसके उपभोग (Consumption) पर राज्य द्वारा नियंत्रण (State control) के स्थापित किये जाने के प्रबल पोषक हैं। इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य की आर्थिक नीति के उपर्युक्त तीन सिद्धान्तों को अपनाने का प्रतिपादन किया है।

राज्य के स्वामित्व वाले (State owned) उद्योग—इस विषय का उल्लेख पीछे किया जा चुका है कि राज्य अपने अधीन उन व्यवसायों एवं उद्योगों को संचालित एवं संचालित करता था जिन पर राज्य का अस्तित्व निर्भर था और जिन की सहायता से निर्बल राज्य भी सशक्त राज्य बन जाता है। इन महत्वपूर्ण उद्योगों (Key Industries) का उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। इनमें से कुछ व्यवसायों एवं उद्योगों का संक्षिप्त वर्णन कौटिल्य द्वारा दिए गए वर्णन के आधार पर यहाँ किया जायगा।

आकर उद्योग—कौटिल्य के मतानुसार राज्य के अस्तित्व को स्थिर रखने एवं उसके विधिवत संचालन हेतु धान की आवश्यकता सर्वोपरि मानी गयी है। इसीलिए धान-संचय पर महत्व देते हुए वह कहते हैं कि धर्म और काम का मूल अर्थ होता है।^१ राज्य के कोश के सम्पन्न रहने पर ही सेना रखी जा सकती है तथा कोश और सेना के द्वारा ही सम्पन्न एवं समृद्धि भूमि का लाभ सम्भव है। ऐसे महत्वपूर्ण कोश को सम्पन्नता राज्य की आकरों पर ही निर्भर है।^२ इसी लिए कौटिल्य आकर उद्योग (Industry of mines) को राज्य के अत्यन्त महत्वपूर्ण उद्योगों (Key industries) के अन्तर्गत परिगणित करते हैं और उसे राज्य के ही स्वामित्व (State ownership) में रखना उचित समझते हैं। इस विषय में उन्होंने स्पष्ट कहा है कि आकर और आकर से उत्पन्न होने वाले समस्त पदार्थों के व्यापार पर राज्य का स्वामित्व होना चाहिए।^३

आकर उद्योग का क्षेत्र—आकर उद्योग का क्षेत्र राज्य के अन्तर्गत स्थित आकरों से एवं अन्य राज्यों में प्राप्त होने वाली आकरों से प्राप्त होने वाले पदार्थों का संग्रह करना, संग्रहीत किये गये इन पदार्थों का संस्कार कर उनको मनुष्य के उपयोग योग्य बनाना एवं उनके क्रय-विक्रय की उचित व्यवस्था करना तथा अपने राज्य में नवीन आकरों की खोज करना बतलाया गया है।

कौटिल्य ने कतिपय आकरों के स्थानों के लक्षण भी बतलाए हैं जिससे इन लक्षणों

१—अर्थ एवं प्रधान इति कौटिल्यः ॥ वार्ता १० अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥
अर्थ मूलौह धर्मकामाविति ॥ वार्ता ११ अ० ७ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—आकर प्रभवः कोशः कोशाद्गण्डः प्रजायते ।

पृथिवी कोषदण्डाभ्यां प्राप्यते कोषभूषणा ॥ श्लोक ४१ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

३—खनिभ्यो द्वादशविधं धातुं पण्यं च संहरन् ।

एवं सर्वेषु पण्येषु स्थापयेन्मुखसंग्रहम् ॥ श्लोक ४८ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

के आधार पर तत्सम्बन्धी आकरों की खोज सुविधा पूर्वक की जा सके। इसके अतिरिक्त उन्होंने विभिन्न आकरों से प्राप्त होनेवाले पदार्थों के विशेष लक्षण, उनके गुण एवं मूल्य का भी उल्लेख किया है। उन्होंने सोने (सुवर्ण), चांदी (रूप्य) शिलाजीत (शिलजतु) तांबा (ताम्रधातुः), शीशा (सीसधातुः), टिन (त्रिपुधातुः), लोहा (तीक्ष्णधातुः), वैकृतक (धातु विशेष) तथा मणियों (मणिधातु) की आकरों को राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व में रखने का प्रतिपादन किया है। कौटिल्य का मत है कि इन समस्त खानों के उद्योग का संघटन एवं संचालन राज्य को स्वयं करना चाहिये और इसलिए राज्य को कतिपय राजकर्मचारियों, शिल्पियों तथा अन्य श्रमजीवी लोगों की नियुक्ति राज्य की ओर से होनी चाहिये और उनके परिवार के भरण-पोषण के लिए उनके उचित वेतन का प्रबन्ध राज्य को ही करना चाहिये। इनमें से कुछ का वर्णन यहाँ दिया जाएगा।

आकर उद्योग में राजकर्मचारी एवं शिल्पीगण आदि—आकर उद्योग के विधिवत संघटन एवं संचालन हेतु राज्य में एक विशेष पदाधिकारी के नियुक्त किये जाने की व्यवस्था दी गयी है। इस विशेष पदाधिकारी को कौटिल्य ने आकराध्यक्ष (Superintendent of mines) के नाम से सम्बोधित किया है। आकर उद्योग का समस्त दायित्व इसी पदाधिकारी पर निर्भर था। कौटिल्य ने आकराध्यक्ष की विशेष योग्यताओं (special qualifications) का भी उल्लेख किया है। उनके मतानुसार आकराध्यक्ष ऐसा व्यक्ति होना चाहिये जिस को धातुशास्त्र का पूर्ण ज्ञान हो। उसको रसपाक और मणियों के पहचानने का भी पूर्ण ज्ञान होना चाहिए।^१ आकराध्यक्ष के अधीन उसके सहायक राजकर्मचारियों की नियुक्ति का विधान किया गया है। इन सहायक राजकर्मचारियों को भी आकराध्यक्ष की भांति ही धातुशास्त्र का पूर्ण ज्ञाता, रसपाक, और मणियों आदि के पहचानने का ज्ञाता होना चाहिए।^२ इन सहायक राजकर्मचारियों के अतिरिक्त अनेक शिल्पियों एवं अन्य सेवकों की नियुक्ति की व्यवस्था कौटिल्य द्वारा दी गयी है। यह शिल्पी एवं सेवक भी अपने अपने विषय के पूर्ण ज्ञानी होने चाहिए।^३ आकराध्यक्ष एवं उसके सहकारी अन्य राजकर्मचारियों को लोहे आदि के कीट, मूष (धातु तपाने का पात्र) और अङ्गार, भस्म आदि से पुरानी या नवीन आकर की पहचान एवं भूमि, पत्थर, रस और धातुओं के भी चमकीलेपन और उग्र गन्ध आदि की सहायता से नवीन अथवा पुरातन आकरों की खोज करने की सामर्थ्य रखनी चाहिए।^४

१—आकराध्यक्षः शुत्वधातुशास्त्ररसपाकमणिरागज्ञः ॥

वार्ता १ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—तज्ज्ञसखः

॥ वार्ता १ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—तज्ज्ञातकर्मकरः

॥ वार्ता १ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—किट्टमृपाङ्गारभस्मलिङ्गं वाकरं भूतपूर्वमभूतपूर्वं वा भूमिप्रस्तररसधातुमय-
ध्वङ्गं गौरवमुग्रगन्धरसं परिच्छेत् ॥ वार्ता १ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

आकराध्यक्ष के अतिरिक्त विभिन्न प्रकार की खानों के पृथक्-पृथक् अध्यक्षों की नियुक्ति की व्यवस्था भी कौटिल्य द्वारा दी गयी है। इन अध्यक्षों में लोहाध्यक्ष, खन्य-ध्यक्ष, लवणाध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष और सुवर्णाध्यक्ष मुख्य अध्यक्ष बतलाए गए हैं। इन अध्यक्षों का मुख्य कार्य-क्षेत्र राज्य के विभिन्न आकरों से प्राप्त पदार्थों का संस्कार कर उनको लोगों के उपयोग के निमित्त सामग्री का निर्माण कराना और उनके क्रय-विक्रय आदि की व्यवस्था करना था। इस विषय पर कौटिल्य ने प्रकाश नहीं डाला है। इसलिए इस विषय की विवेचना नहीं की जा सकती। परन्तु प्रसंग से ऐसा ज्ञात होता है कि आकराध्यक्ष राज्य की समस्त आकरों का अध्यक्ष होता था। इन आकरों की खोज करने, उनमें से पदार्थों के प्राप्त करने एवं खानों से निकाले हुए इन पदार्थों के संग्रह करने तथा उनको उचित स्थान पर पहुँचाने आदि की व्यवस्था करने का समस्त भार उसी पर आश्रित था। लोहाध्यक्ष, सुवर्णाध्यक्ष आदि अध्यक्षों का कार्य आकराध्यक्ष द्वारा आकरों से प्राप्त पदार्थों को प्राप्त कर सरकार एवं जनता के उपयोग में लायी जाने-वाली सामग्री का विधिवत निर्माण करना एवं उसके क्रय-विक्रय की व्यवस्था करना था। इन अध्यक्षों के अधीन अपने अपने विषय के कुशल शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी होते थे। जिनकी नियुक्ति एवं उनके वेतन आदि की व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी।

लोहाकर उद्योग—लोहाकर उद्योग में अनेक धातुओं के उद्योग सम्मिलित थे। इसमें ताँबा, शीशा, टीन, वैकृन्तक, आरकूट (पीतल), वृत्त, कांसा ताल तथा अनेक प्रकार के लोहे आदि धातुओं को आकरों से प्राप्त करना और उनका संस्कार कर सरकार एवं जनता के उपयोग की सामग्री का निर्माण करना और इस प्रकार निर्माण हुई सामग्री के क्रय-विक्रय की व्यवस्था की जानी चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है। लोहाकर उद्योग को विधिवत संचालित करने के लिए राज्य की ओर से एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था कौटिल्य द्वारा दी गयी है। इस विशेष पदाधिकारी को कौटिल्य लोहाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते हैं। उन्होंने लोहाध्यक्ष के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए यह व्यवस्था दी है—लोहाध्यक्ष को ताँबा (ताम्र), शीशा (सीस), टीन (त्रिपु), सम्भवतः ईसपाती लोहा (वैकृन्तक), दड़ लोह (आरकूट), गोललोहा (वृत्त), कांसी (कंस), ताल तथा अन्य प्रकार के लोहे की सामग्री का अपनी देख-रेख में निर्माण करना चाहिए,^१ और लोहाकरों से उत्पन्न पदार्थों से निर्माण की गयी सामग्री के क्रय-विक्रय आदि की व्यवस्था करनी चाहिए।^२ इस प्रकार लोहाकर उद्योग भी राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व (State ownership) में हो संचालित एवं संचालित होता था।

१—लोहाध्यक्षस्ताम्रसीसत्रिपुवैकृन्तकारकूटवृत्तकंसताललोहकर्मन्तान्कारयेत् ॥

वार्ता २५ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—लोहभाण्डव्यवहारं च

॥ वार्ता २६ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

लोहाकर उद्योग के अन्तर्गत ही लक्षण (Mint) कार्य भी सम्पादित होता था। लक्षण (Mint) में समस्त कार्य राज्य की ओर से नियुक्त एक राजकीय पदाधिकारी की देख-रेख में सम्पादित होना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है। इस राजकीय पदाधिकारी को उन्होंने लक्षणाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। उन्होंने लक्षणाध्यक्ष के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए यह व्यवस्था दी है—लक्षणाध्यक्ष (Superintendent of Mint) को चार माशा तांबा तथा एक माशा त्रपु-शीशा या अंजन (काला लोहा) और शेष ग्यारह माशा चाँदी मिलाकर सोलह माशे का एक पण बनवाना चाहिए। इस प्रकार अर्धपण, चौथाई पण, और पण के आठवें भाग के सिक्कों का निर्माण कराना चाहिए।^१ उसको व्यवहार के लिए ताँबे के सिक्के भी बनवाने चाहिए जो पण के चौथायी मूल्य का हो। उसको काकणी (सिक्का विशेष), अर्ध-माषक काकणी और माषक काकणी का भी निर्माण करना चाहिए।^२ लक्षणाध्यक्ष का इन पणों के चलने अथवा उनको कोष में डलवा देने की व्यवस्था करनी चाहिए। लक्षणाध्यक्ष की देख-रेख में निर्माण किए गए सिक्कों की जाँच के लिए एक विशेष राजकर्मचारी होता था जिसको कौटिल्य ने रूपदर्शक नाम से सम्बोधित किया है। इस राजकर्मचारी का मुख्य कर्तव्य यह बतलाया गया है कि उसको राज्य में प्रचलित समस्त सिक्कों की जाँच करते रहना चाहिए। लक्षण से निकले हुए सिक्कों की भी जाँच उसको करनी चाहिए, और उसको यह निर्णय करना चाहिए कि कौन से सिक्के ऐसे हैं जो कि राजकोष में डाले जाएँ और कौन से सिक्के व्यवहार में लाए जाएँ।^३

खान का उद्योग—कौटिल्य ने खान शब्द का प्रयोग विशेष प्रकार की आकर के आर्थ में किया है। खान से उनका तात्पर्य उन आकरों से है जिनका क्षेत्र समुद्र से सम्बन्ध रखता है। इस प्रकार समुद्र की खानों से जो पदार्थ प्राप्त करने चाहिए उन के उद्योगों को भी कौटिल्य ने राज्य के प्रत्यक्ष स्वामित्व के अन्तर्गत स्थान दिया है। इन उद्योगों के विधिवत संघठन एवं संचालन हेतु वह एक राजकीय पदाधिकारी की नियुक्ति को व्यवस्था देते हैं जिसको उन्होंने खन्यध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। राज्य के इस विशेष अधिकारी के कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए उन्होंने यह बतलाया है कि खन्यध्यक्ष को शंख, हीरा (वज्र), मणि, मोती, मूंगा (प्रवाल), तथा यवक्षार आदि पदार्थों से सम्बन्ध रखनेवाले कार्यों का प्रबन्ध करना

१—लक्षणाध्यक्षश्चतुर्भागतान्नं रूप्यरूपं तीक्ष्णत्रपुसीसाञ्जनानामन्वतमं माषवीज-युक्तं कारयेत् पणमर्धपणं पादमष्टभागमिति ॥

वार्ता २७ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—पादाजीवं तात्ररूपं माषरुमर्धमाषक काकणीमर्धकाकणीमिति ॥

वार्ता २८ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—रूपदर्शकः पणपात्रां व्यवहारिकीं कोशप्रवेश्यां च स्थापयेत् ॥

वार्ता २९ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

चाहिए ।^१ उसको समुद्र से प्राप्त किए जाने वाले इन समस्त पदार्थों को संग्रहीत कर उनके क्रय-विक्रय आदि की व्यवस्था करनी चाहिए ।^२

लवण उद्योग—लवण (Salt) का प्रयोग लगभग प्रत्येक व्यक्ति किसी न किसी रूप में अवश्य करता है । इसलिए लवण उद्योग राज्य के लिए बड़े महत्व का समझा गया था । इस उद्योग के संघटन एवं संचालन हेतु भी कौटिल्य एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था देते हैं । इस विशेष पदाधिकारी को वह लवणाध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते हैं । लवणाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य यह था कि उसको राज्य के उपयोग के लिये लवण का निर्माण कराना उसका संग्रह करना एवं उसके क्रय-विक्रय की व्यवस्था करना था ।^३ राज्य द्वारा निर्धारित नियमों के अनुसार उसके उपयुक्त वितरण एवं उपभोग की व्यवस्था करना इसी अधिकारी का कर्तव्य बतलाया गया है । लवण का क्रय-विक्रय राज्य की ओर से निर्धारित की गयी दूकानों पर ही हो सकता था । जो इन दूकानों के अतिरिक्त स्थानों पर लवण का क्रय-विक्रय करता हुआ पाया जाता वह दण्ड का भागी होता था ।^४ इन सरकारी दूकानों को राज्य के नियंत्रण में रखा जाना चाहिये । इस विषय में कतिपय नियमों का उल्लेख भी किया गया है जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—घटिया अथवा मिलावटी नमक बेचने पर उत्तम साहस दण्ड मिलना चाहिये ।^५ जो व्यक्ति बिना राज्य की आज्ञा प्राप्त किए हुए नमक का व्यापार करता हो उसको भी उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है ।^६ वानप्रस्थ मुनि नमक कर से मुक्त थे ।^७ इसी प्रकार वेदपाठी, तपस्वी, राज्य की वेगार देनेवाले पुरुष, अपने उपयोग में आने मात्र लवण को बिना नमक कर दिये हुए व्यवहार में ले आ सकते थे ।^८ कुछ नमक दूसरे राज्यों से भी आता था । इस नमक पर राज्य में प्राप्त नमक की अपेक्षा अधिक कर लिया जाता था ।^९

सुवर्ण और चाँदी का उद्योग—सोने और चाँदी के संस्कार एवं उनसे उपयोग योग्य सामग्री के निर्माण तथा उसके क्रय-विक्रय की व्यवस्था करने के लिए कौटिल्य ने

१—खन्यध्वजः शङ्खवज्रमणिमुक्ताप्रवालक्षारकमन्तिन्कारयेत् ॥

वार्ता ३४ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—पणनव्यवहारं च

॥ श्लोक ३५ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—लवणाध्यक्षः पाकमुक्तं लवणभागं प्रक्रयं च यथाकालं संगृह्णीयात् ॥

वार्ता ३६ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—अन्यत्र क्रेता पट्युतमत्ययं च

॥ वार्ता ४१ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—विलवणमुत्तमं दण्डं दद्यात्

॥ वार्ता ४२ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—अनिसृष्टोपजीवी च

॥ वार्ता ४३ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—अन्यत्र वानप्रस्थेभ्यः

॥ वार्ता ४४ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

८—श्रोत्रिणास्तपस्विनो विष्टयश्च अन्नलवणं हरेयुः ॥

वार्ता ४५ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

९—अर्वाण्यो लवणक्षारवर्गः शुष्कं दद्यात् ॥ वार्ता ४६ अ० १२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

सुवर्णाध्यक्ष नाम के एक राजकीय पदाधिकारी की नियुक्ति का विधान किया है। इस कार्य के लिए सुवर्णाध्यक्ष को एक शाला के निर्माण किए जाने की व्यवस्था की गई है। इस शाला को कोटिल्य अक्षशाला के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस शाला के निर्माण के विषय में कोटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—सुवर्णाध्यक्ष को एक ऐसी अक्षशाला का निर्माण करवाना चाहिए जिसमें एक द्वार और चारों ओर चार कमरे हों। इन चारों कमरों में एक दूसरे में जाने आने का मार्ग होना चाहिए। इस अक्षशाला में सोने और चाँदी के कार्य का पृथक-पृथक स्थान होना चाहिए।^१

कोटिल्य ने अक्षशाला में काम करने एवं आने-जाने वाले लोगों के व्यवहार की ओर भी संक्षेप में अपना मत प्रकट किया है। बिना आज्ञा प्राप्त किये हुए किसी व्यक्ति को अक्षशाला में प्रवेश के अधिकार का कोटिल्य ने निषेध किया है।^२ बिना आज्ञा प्राप्त किए हुए अक्षशाला में प्रवेश करनेवाले व्यक्ति को शिरोच्छेदन का दण्ड दिया जाना चाहिए ऐसी कोटिल्य ने व्यवस्था दी है।^३ यदि कोई व्यक्ति सोना अथवा चाँदी अपने साथ लेकर अक्षशाला में प्रवेश करता है तो उसका वह सोना और चाँदी ले लिया जाना चाहिये।^४ अक्षशाला में काम करनेवाले जैसे सुवर्ण निकालने वाले, तपाकर गोली बनाने वाले, छोटे-बड़े पात्र निर्माता, तपाने वाले शिल्पी, धौकनी लगाने वाले, अन्य कार्य करने वाले, झाड़ू लगाने वाले, धोने वाले आदि को अपने वस्त्र, हाथ और गुह्य स्थानों की तलाशी देकर अक्षशाला में प्रवेश करना चाहिए और अक्षशाला से बाहर आने के समय भी उनकी इसी प्रकार तलाशी ली जानी चाहिए।^५ इन समस्त कारीगरों के औजार आदि साधन या अपूर्ण किए गये कार्यों की सामग्री अक्षशाला में ही रहनी चाहिए। उनको कारीगरों के घर पर पूर्ण करने के लिए नहीं देना चाहिए।^६ जो माल तैयार हो गया है अथवा अपूर्ण है दोनों को तौलकर रजिस्टर में अंकित करवा कर उसको अक्षशाला में ही रखवा देना चाहिए।^७ तैयार हुए माल की

१—सुवर्णाध्यक्षः सुवर्णरजतहर्मान्तनामसंबन्धावेशनं चतुः शालामेकद्वारामक्षशालां कारयेत् ॥ वार्ता १ अ० १३ अधि० १ अर्थशास्त्र ॥

२—अक्षशालामनायुक्तो नोपगच्छेत् ॥ वार्ता ३४ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—अभिगच्छन्तुच्छेद्यः ॥ वार्ता ३४ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—आयुक्तो वा सारूप्यं सुवर्णस्तेनैव जीयेत ॥

वार्ता ३६ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—विचितवस्त्रहस्तगुह्याः काञ्चनपुपतत्त्वष्टतनोपकारवो ध्याप्रकरकपांसुधावकाः प्रविशेयुः निष्कसेयुश्च ॥ वार्ता ३७ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—सर्वं चैषामुपकरणमनिष्टिताश्च प्रयोगास्तत्रैवावतिष्ठेन् ॥

वार्ता ३८ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—पृथीतं सुवर्णं धृतं च प्रयोगकरणमध्ये दद्यात् ॥

वार्ता ३९ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

नित्य प्रातः ओर सायं परीक्षा लेकर उसपर सुवर्णाध्यक्ष और शिली दोनों की मुहर लगवाकर उसको अक्षशाला में (मुरक्षित स्थान पर) रखवा देना चाहिए ।^१

अक्षशाला में मुख्य तीन काम होते थे जिनको कौटिल्य ने क्षेपण, गुण और क्षुद्रक नाम से सम्बोधित किया है ।^२ आभूषणों में मणि, नग आदि का जड़ना क्षेपण,^३ सुवर्ण सूत्रों के गूथने को गुण,^४ और ठोस अथवा पोली वस्तुओं (घुँघरू आदि) के निर्माण कार्य को कौटिल्य क्षुद्रक कोटि में परिगणित करते हैं ।^५ इसके अतिरिक्त विभिन्न वस्तुओं पर सोने और चाँदी के पत्र मढ़ने का कार्य और सोने-चाँदी का पानी चढ़ाने का भी कार्य किया जाता था ।^६

सोने, चाँदी आदि पदार्थों के शोधन कार्य भी अक्षशाला में किए जाते थे । इस विषय में कई प्रकार की शोधन क्रियाओं का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया गया है । सोने में चाँदी, ताँबा आदि का पुट देकर उसके रंग में परिवर्तन करने की क्रिया का भी उल्लेख है । इससे विदित होता है कि यह क्रियाएँ भी अक्षशाला में की जाती थीं ।

अक्षशाला में एक मुख्य शिल्पी होता था जिसकी देख-रेख में अन्य शिल्पीगण सोने-चाँदी आदि धातुओं के आभूषण तथा अन्य उपयोगी वस्तुओं को तैयार करते थे । इस मुख्य शिल्पी को कौटिल्य ने सौवर्णिक नाम से सम्बोधित किया है । कौटिल्य ने यह स्पष्ट व्यवस्था दी है कि सौवर्णिक नाम के मुख्य शिल्पी की देख-रेख में सोने-चाँदी के आभूषण एवं अन्य सामग्री को अपने अधीन काम करनेवाले शिल्पियों से बनवाना चाहिए ।^७ इन शिल्पियों से किस प्रकार कार्य लिया जाना चाहिए और इनसे सोने चाँदी आदि की चोरी किस प्रकार बचानी चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अनेक नियम दिए हैं ।

इस प्रकार निर्माण किए गए सोने चाँदी का माल राजकीय दूकानों में क्रय-विक्रय हेतु भेजा जाता था । जिस स्थान पर यह माल बिकता था उसको कौटिल्य ने विशिखा

१—सायं प्रातश्च लक्षितं कर्तुं कारयितुमुद्राभ्यां निदध्यात् ॥

वार्ता ४० अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—क्षेपणो गुणः क्षुद्रकमिति कमणि ॥ वार्ता ४१ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—क्षेपणः काचादणादीनि ॥ वार्ता ४२ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—गुणः सूत्रवानादीनी ॥ वार्ता ४३ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—घनं सुषिरं पृषतादि युक्तं क्षुद्रकमिति ॥

वार्ता ४४ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—ध्वष्टकर्मणः × × × ॥ वार्ता ४६ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—चतुर्भासुवर्णं वा बालुकाहिगुलकस्य रसेन चूर्णेन वा वासयेत् ॥

वार्ता ५१ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

८—सौवर्णिकः पौरजानपदानां रूपसुवर्णभावेशभिः कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

(High road) नाम से सम्बोधित किया है। यहां पर दूकानों में सोने-चांदी एवं आभूषण आदि के विक्रय कार्य किस प्रकार के व्यक्तियों को सौंपा जाना चाहिए इस विषय में कौटिल्य यह व्यवस्था देते हैं कि जिन लोगों को सोने-चांदी तथा आभूषण आदि के विक्रय कार्य को सौंपा जाए वह बड़े शिली, कुलीन और विश्वासपात्र व्यक्ति होने चाहिए।^१

इन शिली गणों को काम करने एवं माल के तैयार करने के लिए कतिपय नियमों का पालन करना पड़ता था। इनमें से कुछ नियम इस प्रकार बतलाए गए हैं। इन शिल्पियों को निर्धारित समय पर माल बनाकर सौवर्णिक को देना चाहिए। यदि समय और कार्य निर्दिष्ट न किया जाएगा तो शिली कार्य बिगाड़ देते हैं।^२ यदि शिली आभूषण बिगाड़ दे तो उसको दण्ड दिया जाना चाहिए। कौटिल्य के मतानुसार यदि आभूषण में साधारण दोष है तो शिली का वेतन काट लेना चाहिए यदि उसके द्वारा बनाए गए आभूषण में विशेष दोष पाया जाए तो ऐसे शिली का वेतन तो काट ही लिया जाए इसके अतिरिक्त उस पर आभूषण के मूल्य का दो गुना दण्ड भी होना चाहिए।^३ निर्दिष्ट समय पर आभूषण बनाकर न देने पर शिली के वेतन का चौथायी वेतन काट लेना चाहिए। अधिक विलम्ब से माल बनाकर देने पर शिली के वेतन का दो गुना उसपर दण्ड होना चाहिए।^४ इसी प्रकार सोने चांदी के माल में मिलावट करने और उसको कम तौल में वापस करने आदि पर शिली को दण्ड देने की व्यवस्था की गयी है। सोने-चांदी तथा इनसे बने हुए आभूषणों के तौलने-नापने के लिए तराजू बांट आदि भी विशेष प्रकार के होने चाहिए। यह तराजू एवं बांट आदि स्वयं शिल्पियों द्वारा बनाए गए नहीं होने चाहिए अपितु पौतवाध्वक्ष नाम के एक राजकीय अधिकारी की देख-रेख में बने हुए होने चाहिये।^५ अन्य प्रकार के तराजू अथवा बांटों का प्रयोग करनेवाले शिली पर बारह पण दण्ड देने की व्यवस्था दी गयी है।^६ इसके अतिरिक्त शिल्पियों द्वारा सुवर्ण-चांदी आदि के अपहरण किए

१—विशिखामध्ये सौवर्णिकं शिल्पवन्तमभिजातं प्रात्ययिकं च स्थापयेत् ॥

वार्ता २ अ० १३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—निर्दिष्टकालकार्यं च कर्म कुर्युः अनिर्दिष्टकालं कार्यापदेशम् ॥

वार्ता २ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—कार्यस्यान्यथाकरणे वेतननाशः तद्विगुणश्च दण्डः ॥

वार्ता ३ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—कालातिपातेन पादहीनं वेतनं तद्विगुणश्च दण्डः ॥

वार्ता ४ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—तुला प्रतिमानभाण्डं पौतवहस्तात्कीर्णयुः ॥

वार्ता १६ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—अन्यथा द्वादशपणो दण्डः

॥ वार्ता १७ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

ज्ञान के अनेक प्रकार एवं उनसे बचने के अनेक साधन बतलाए गये हैं। नवीन आभूषणों के अतिरिक्त पुराने आभूषण एवं अन्य सामग्री भी जीर्णोद्धार हेतु इन्हीं राजकीय शालाओं में बनाने हेतु आती थी। इनमें भी शिल्पी गणों से सुवर्ण चाँदी आदि के अपहरण एवं उनसे बचने के उपाय बतलाए गए हैं।^१

इस प्रकार सोना, चाँदी आदि धातुओं से सम्बन्धित उद्योग राज्य के स्वामित्व (State Ownership) एवं राज्य-नियन्त्रण (State Control) में संघटित एवं संचालित किए जाने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है।

कृषि-उद्योग

कृषि उद्योग—भारत प्राचीन काल से ही कृषि प्रधान देश रहा है। इसी उद्योग पर भारतवासियों का जीवन निर्भर रहा है। कौटिल्य ने इसीलिए कृषि-उद्योग को राज्य के स्वामित्व (State Ownership) एवं राज्य-नियन्त्रण (State Control) के अन्तर्गत रखना उचित समझा है। धान्य, पुष्प, फल, शाक, कन्दमूल, वालिक्य क्षौम, कपास आदि की उपज कृषि उद्योग के अन्तर्गत मानी गयी हैं।^२

राज्य में कृषि-कार्य के विधिवत संपादन हेतु राज्य की ओर से एक पदाधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिए और उसी अधिकारी की देख-रेख में कृषि-कार्य का संचालन होना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है। इस अधिकारी को कौटिल्य ने सीताध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य ने सीताध्यक्ष के पद के लिए कुछ विशेष योग्यताएँ निर्धारित की हैं जिनका उल्लेख उन्होंने इस प्रकार किया है—सीताध्यक्ष को कृषिशास्त्र (कृषितंत्र) और गुल्म तथा वृक्षों के आयुशास्त्र (गुल्मवृक्षायुर्वेदज्ञः) का ज्ञाता होना चाहिए।^३ सीताध्यक्ष के सहायक राजकर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था भी की गयी है। इन सहायक कर्मचारियों को भी सीताध्यक्ष की भाँति ही कृषिशास्त्र एवं गुल्मवृक्षों के आयुशास्त्र के ज्ञाता होना चाहिए।^४ इन सहायक कर्मचारियों को सीताध्यक्ष की सहायता कृषि कार्य में निरन्तर करते रहना चाहिए। इन सहायक कर्मचारियों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारी भी होने चाहिए जिनके द्वारा कृषि कार्य सफलता पूर्वक सम्पादित किया जा सके। इन कर्मचारियों के नाम भी दिए गए हैं। इनमें कुछ हल जोतनेवाले और खेतों में बुवाई करनेवाले लोग हैं। किन लोगों को यह कार्य सौंपा जाना चाहिए इस विषय में कौटिल्य का मत है कि हल

१—कृतभाण्डपरीक्षायां पुराणभाण्डप्रति संस्कारे वा चत्वारो हरणोपायाः ॥

वार्ता ४६ अ० १४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—सर्वधान्यपुष्पफलशाककन्दमूलवालिक्यक्षौमकपासबीजानि यथाकालंगृही-
यात् ॥ वार्ता १ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—सीताध्यक्षः कृषितंत्रगुल्मवृक्षायुर्वेदज्ञः × × × ॥

वार्ता १ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—तज्जसरदो वा

॥ वार्ता १ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

जोतने का कार्य सेवकों (दास), श्रमजीवियों (कर्मकर) और अभियुक्तों (दण्ड-प्रतिकर्तृभिः) के द्वारा कराना चाहिए ।^१ इनके अतिरिक्त कृषि कार्य से सम्बन्धित जो अन्य कार्य होते हैं उनके सम्पादन हेतु भी कुछ विशेषज्ञों से सहायता लेने की भी व्यवस्था दी गयी है । इन विशेषज्ञों में लोहार, बढ्ढी, कुएँ खोदनेवाले, रस्सी बनाने वाले और साँप पकड़नेवाले मुख्य बतलाए गए हैं ।^२ सीताध्यक्ष को ऐसी व्यवस्था करते रहना चाहिए जिससे कृषि कार्य के हेतु हल, बैल तथा अन्य आवश्यक उपकरणों का अभाव न होने पाए और इनकी आवश्यकता पड़ने पर वह तुरन्त प्राप्त होते रहें ।^३

राज्य की समस्त कृषि-भूमि पर कृषि-कार्य कराना सीताध्यक्ष का कर्तव्य था । यदि श्रम अथवा अन्य उपकरण के अभाव में कृषि-भूमि का कुछ अंश ऐसा बच रहे जिसमें सीताध्यक्ष राजकीय श्रम एवं उपकरणों द्वारा कृषि-कार्य न करा सके तो इस प्रकार की कृषि भूमि उन लोगों को कृषि कार्य के निमित्त दी जाए जो उसमें कृषि-कार्य करने में समर्थ हों ऐसा कौटिल्य का मत है । इस प्रकार से कृषिभूमि जो लोगों को कृषि कार्य के निमित्त दी जाए तो उसमें से राज्य को उसका अंश अवश्य मिलना चाहिए । इस दृष्टि से इस भूमि को बटाई पर देना चाहिए इस प्रकार का आदेश कौटिल्य ने दिया है ।^४ इसी के साथ में वह यह भी कहते हैं कि यदि कृषि भूमि का कुछ अंश कृषि कार्य हेतु केवल श्रम के अभाव में श्रमजीवी लोगों को (बैल तथा अन्य उपकरण राज्य द्वारा देने पर) दी जाए तो उन लोगों को कृषि की उपज में से चौथा अथवा पाँचवाँ भाग देना चाहिए अथवा जितना भाग निर्धारित कर दिया गया हो उतना उनको देना चाहिए ।^५ परन्तु यदि किसी विशेष कारण से इन श्रम जीवियों द्वारा किए जानेवाले कृषि कार्य में विघ्न-बाधा आ पड़े तो तदनुसार व्यवस्था करनी उचित होगी ।^६

कृषि-काये में नियुक्त सेवकों का वेतन—कौटिल्य के मतानुसार कृषि-उद्योग में लगे हुए सेवकों एवं अन्य वेतन भोगी व्यक्तियों के वेतन उनके द्वारा किये

१—बहुहलपरिकृष्टायां स्वभूमौ दासकर्मकरदण्डप्रतिकर्तृभिर्वापयेत् ॥

वार्ता २ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—कारुभिरच कर्मारकुट्टाकमेदकररज्जुवर्तक सर्पग्रहादिभिरच ॥

वार्ता ४ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—कर्षण्यंत्रोपकरणबलीवद्वैश्चैषामसङ्गं कारयेत् ॥

वार्ता ३ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—वापातिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः ॥ वार्ता २० अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—स्ववीर्योपजीविनो वा चतुर्थपञ्चभागिका यथेष्टमनवसितभागं दद्युः × × ॥

वार्ता २० अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—अन्यत्र कृष्ट्यं भयः

॥ वार्ता २१ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

जानेवाले कार्य की मात्रा के आधार पर निर्धारित किये जाने चाहिये अर्थात् जो व्यक्ति जितना परिश्रम करता है उसका वेतन भी उसी परिश्रम की मात्रा के अनुसार नियत किया जाना चाहिए। इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है— कृषि की रक्षा करनेवाले सेवक, ग्वाले, दास, तथा कर्मकर (श्रम जीवी पुत्रों) को उनके परिश्रम के अनुसार भोजन की व्यवस्था करनी चाहिए।^१ इस भोजन के अतिरिक्त इनमें से प्रत्येक को सवा पण मासिक वेतन भी मिलना चाहिए।^२ अन्य कारीगरों को भी उनके परिश्रम के अनुसार ही भोजन और वेतन की व्यवस्था होनी चाहिए।^३ इस प्रसंग में कौटिल्य ने सीताध्यक्ष एवं उसके सहायक राजकर्तारियों के वेतन का उल्लेख नहीं किया है।

मुख्य अन्न और उनके बोने का समय एवं भूमि आदि का विचार—अन्न की उत्पत्ति वर्षा के अधीन बतलाई गयी है इसीलिये कौटिल्य ने आदेश दिया है कि वर्षा की अधिकता अथवा न्यूनता को देखकर सीताध्यक्ष को अन्न बुवाने चाहिए।^४ इसी प्रसंग में उन्होंने विभिन्न प्रकार के अन्नों का भी उल्लेख किया है और यह भी बतलाया है कि किस समय किस अन्न को बोना उचित होगा। उनके मतानुसार शालि, व्रीहि, कोदों, तिल, प्रियंगू, दारक और वराक (लोभिया) आदि अन्न वर्षा ऋतु के प्रारम्भ में बोने चाहिए।^५ मूंग, उरद, शोम्ब (छीमी) आदि वर्षा ऋतु के मध्य में बोना उचित होगा।^६ कुसुम्भ, मसूर, कुलथी, जौ, गेहूँ, मटर, अलसी और सरसों वर्षा ऋतु के समाप्त हो जाने पर बोने चाहिये।^७ इस प्रकार ऋतुकाल में ही जिस काल में जिस अन्न के बोने का समय हो उसी अन्न को बोना चाहिए।^८

इस प्रकार जोत आदि के परिश्रम और वर्षा के अनुरूप ही खेतों में हैमन्त, ग्रीष्म और वर्षा ऋतु के अन्न सीताध्यक्ष को बुवाने चाहिये।^९ कौटिल्य ने शालि

१—षण्डवाटगोपालकदासकर्मकरेभ्यो यथापुरुषपरिवापं भक्षतं कुप्यति ॥

वार्ता ३८ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

२—सपादपणिकं मासं दद्यात् ॥

वार्ता ३६ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

३—कर्मनिरूपं कारुभ्यो भक्तवेतनम् ॥

वार्ता ४० अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

४—ततः प्रभूतोदकमलोदकं वा सस्यं वापयेत् ॥

वार्ता १२ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

५—शालिग्रहि कोद्रवति त्रिप्रिङ्गू दारकवराकाः पूर्ववापाः ॥

वार्ता १६ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

६—सुद्गमापशैम्बरा मध्यवापाः ॥

वार्ता १७ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

७—कुसुम्भमसूरकुलुथयवगोधूमकलायातसीसर्षपाः पश्चाद्वापाः ॥

वार्ता १८ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

८—यथर्तुवशेन वा वाजीवापाः ॥

वार्ता १९ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

९—कर्मोदकप्रमाणेन केदारं हैमन्तं वा ग्रीष्मिकं वा सस्यं स्थापयेत् ॥

वार्ता २६ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

(१०५)

आदि अन्न की खेती लाभ की दृष्टि से सर्व श्रेष्ठ मानी है ।^१ गेहूँ आदि की खेती मध्यम^२ और गन्ने की खेती लाभ की दृष्टि से निकृष्ट मानी है ।^३ गन्ने की खेती में अनेक प्रकार के विघ्न-बाधाएँ पड़ती रहती हैं और इसमें व्यय भी अधिक करना पड़ता है ।^४ नदी से सटी हुई भूमि जिस पर नदी के जल का फेन आता रहता है बेलि में उत्पन्न होनेवाले फलों के लिये उत्तम भूमि मानी गयी है । नदी से जिस भूमि की सिंचाई हो सकती है ऐसी भूमि अंगूर और गन्ना की खेती के लिये उपयुक्त समझी गयी है । शाक और मूल आदि की उपज के लिये कूप जल श्रेष्ठ माना गया है । हरे शाकों की उपज के लिये झील, तालाब आदि का हरित तट श्रेष्ठ माना गया है । काटे जाने योग्य, गन्ध (सुगन्धित द्रव्य) भैषज्य (औषधि), उशीर, नेत्रवाला, पिण्डालुक आदि की उपज के लिए बीच में तालाब से सम्पन्न क्षेत्र उत्तम माना गया है ।^५ जड़ी बूटी जो दल-दली भूमि में उत्पन्न होती हैं उनको स्थलों (गमलों) में भी उगाया जा सकता है ।^६

सिंचाई—अच्छी खेती तभी हो सकती है जब उसकी सिंचाई का समुचित प्रबन्ध हो । इस लिए कौटिल्य ने अपने समय के सिंचाई के मुख्य साधनों का उल्लेख भी अप्रत्यक्ष रूप में किया है । उन्होंने सिंचाई के आधार पर उपज का कितना अंश राज्य को मिलना चाहिए इस विषय का वर्णन करते हुए बतलाया है कि अपने ही सेतुओं (तालाबों) से अपने ही परिश्रम से जल लाकर सींचे गए खेत की उपज का पाँचवा भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए ।^७ अपने कन्धों पर जल लाकर जिस खेत की सिंचाई की गयी हो उसकी उपज का चौथाई भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए ।^८ जल के स्रोतों से यंत्र द्वारा जिस खेत की सिंचाई की गयी हो उस खेत की उपज का तिहाई राज्य को मिलना उचित होगा ।^९ नदी, सरोवर, तालाब और कुओं से रहट

१—शाल्यादि ज्येष्ठम् ॥ वार्ता २७ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—पण्डोमध्यमः ॥ वार्ता २८ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—इक्षुः प्रथमः ॥ वार्ता २९ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—इक्षुर्वो हि ब्रह्माबाधा व्यग्रग्रहिणश्च ॥ वार्ता ३० अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

५—फेताघातो वल्लीफलानां परीवाहान्ताः मृद्वीकेक्षुणां कूपपर्यन्ताः शाकमूलानां

हरिणपर्यन्ताः हरितकानां पाल्योलवानां गन्ध भैष ज्योशीरह्नीवेर पिण्डालुका-

दीनाम् ॥ वार्ता ३१ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—प्रथास्वं भूमिषु च स्थलप्राश्वानूप्याश्चौषधीः स्थापयेत् ॥

वार्ता ३२ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—स्वसेतुभ्यः हस्तप्रावर्तिममुदकभागं पञ्चमं दद्युः ॥

वार्ता ३२ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

८—स्कन्ध प्रावर्तिमं चतुर्थम् ॥

वार्ता ३३ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

९—स्वतोयं प्रप्रावर्तिमं च तृतीयम् ॥

वार्ता ३४ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

द्वारा जल खींच कर खेत सींचे जाएँ तो इस प्रकार सींचे गए खेतों की उपज का चौथायी भाग राज्य को प्राप्त होना चाहिए ।^१

इस प्रकार कौटिल्य ने नदी, तालाबों, सरोवरों, कुओं और खेतों आदि को सिंचाई के साधन बतलाया है ।

खलिहानों की व्यवस्था—सस्य के पकजाने पर उसकी कटायी का प्रबन्ध-करना भी सीताध्यक्ष का कर्तव्य बतलाया गया है । पकी हुई सस्य की कटायी हो जाने पर उसको खलिहान में एकत्र करवाना चाहिए । कौटिल्य का कहना है कि समय-समय पर उत्पन्न होनेवाले अन्न के पक जाने पर सस्य की कटायी कर उसको सुरक्षित स्थान पर एकत्र करना चाहिए । चतुर किसानों को खेतों में तो पलाल (पयार) को भी नहीं छोड़ना चाहिए ।^२ कटी हुई सस्य को खलिहान में ऊँची ऊँची गैरियों (ढेरियों) के रूप में चुनकर लगा देना चाहिये । इन गैरियों को एक-दूसरे के समीप नहीं रखना चाहिए । उनको कुछ अन्तर से रखना चाहिए । इन गैरियों की चोटियाँ नीची और छोटी नहीं होनी चाहिये । वह ऊँची और बड़ी होनी चाहिये ।^३ खलिहान में अन्न की गहन्यी के मैदान परस्पर समीप होने चाहिए । खलिहान में काम करने वाले व्यक्तियों को अपने समीप पानी रखने की उचित व्यवस्था करनी चाहिए और खलिहानों के पास-पड़ोस अग्नि नहीं रखनी चाहिये ।^४

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने कृषि-उद्योग का संघठन एवं संचालन राज्य के स्वामित्व (State Ownership) और राज्य-नियंत्रण (State Control) के अन्तर्गत होना चाहिये—इस विषय का प्रतिपादन किया है ।

सूत्र-उद्योग

सूत्र-उद्योग का क्षेत्र—सूत्र-उद्योग के संघठन एवं संचालन करने का एक मात्र उद्देश्य राज्य के नागरिकों के पहनने, ओढ़ने और बिछाने आदि के लिये नाना प्रकार के वस्त्रों का स्रजन करना होता है । सूत्र और चमड़े तथा बाँस और बेंत की छाल से रस्सी बनाने और चमड़े तथा बाँस और बेंत की नाना प्रकार की वस्तुओं के

१—चतुर्थं नदी सरस्तटाककूपोद्घाटम् ॥ वार्ता २५ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

२—यथा कालं च सस्यादि जातं जातं प्रवेशयेत् ॥

न क्षेत्रे स्थापयेत्किंचित्पलालमपि पण्डितः ॥

श्लोक ४३ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

३—प्रकराणां समुद्रायान्वलभीर्वा तथा विधाः ।

न संहतानि कुर्वीत न तुच्छानिशिरांसि च ॥

श्लोक ४४ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—खलस्य प्रकारान्कुर्यान्मण्डलान्ते सभाश्रितान् ।

अग्निनाः सोदकाश्च खले स्थुः परिकर्मिणः ॥

श्लोक ४५ अ० २४ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

निर्माण करने को भी कौटिल्य ने इसी उद्योग के अन्तर्गत परिगणित किया है। इस प्रकार सूत्र-उद्योग के अन्तर्गत सूत्र, वर्म, नाना प्रकार के वस्त्रों, रस्सियों, और चमड़े तथा बांस और बेंत की अनेक प्रकार की वस्तुओं को मनुष्य की आवश्यकता एवं रुचि के अनुसार निर्माण करना कौटिल्य द्वारा माना गया है।^१ नाना प्रकार के कपड़ों के लिये रुई, तूल, ऊन, रेशम, जूट वल्कल (वल्क) आदि पदार्थों का उपयोग किया जाता था। रस्सियों तथा अन्य उपयोगी सामग्री के निर्माण हेतु चमड़ा, बांस और बेंत का प्रयोग किया जाता था—ऐसा कौटिल्य का मत है।^२

सूत्राध्यक्ष—कौटिल्य ने सूत्र उद्योग का जो वर्णन दिया है उससे ऐसा ज्ञात होता है कि वह इस उद्योग को राज्य के स्वामित्व एवं राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत रखना चाहते हैं। इसलिए वह इस उद्योग के संघटन एवं संचालन का कार्य राज्य के एक मुख्य कर्मचारी को सौंप देना उचित समझते हैं इस राजकर्मचारी को कौटिल्य सूत्राध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते हैं। कौटिल्य के मतानुसार इसी राजकर्मचारी की देख-रेख में सूत्र-उद्योग का समस्त कार्य सम्पादित होता चाहिए। सूत्राध्यक्ष को राज्य में कतायी-बुनायी एवं तत्सम्बन्धी कार्यों के सम्पादन हेतु राज्य में अनेक कार्य-गृहों के निर्माण करने की व्यवस्था करनी चाहिए। इन कार्य-गृहों को कौटिल्य ने सूत्र-शाला के नाम से सम्बोधित किया है। प्रत्येक सूत्रशाला में एक सूत्रशालाध्यक्ष होता था। इस अध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य सूत्रशाला में काम करने वाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों के कार्य का निरीक्षण करना एवं उनको नियंत्रण में रखना और प्रतिदिन सूत्रशाला के लिए शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों की व्यवस्था करना बतलाया गया है। कौटिल्य यह स्पष्ट आदेश देते हैं कि इस अध्यक्ष को शिल्पियों से कतायी बुनायी का कार्य कराना चाहिए और उनके कार्य का हर समय निरीक्षण करते रहना चाहिए।^३ रस्सी बटनेवाले तथा चमड़े के शिल्पियों से उसकी स्वयं मिलते रहना चाहिए।^४ उनसे रस्सी और अन्य वस्तुएँ बनवाते रहना चाहिए।^५ उसको शिल्पियों के सम्पर्क में

१—सूत्रवर्मवस्त्ररज्जुव्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—ऊर्णावल्ककर्पासतूलशण्णक्षौमाणि च × × × ॥

वार्ता २ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

रज्जुवर्तकैश्चर्मकारैश्च स्वयं संसृज्येत ॥ वार्ता २१ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

भाण्डानि च वस्त्रादीनि वर्तयेत् ॥ वार्ता २२ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

सूत्रवल्कमयी रज्जुः वस्त्रा धैत्र्यैः ॥ श्लोक २३ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

३—तज्जातकारुशिल्पिभिः कारयेत् ॥ वार्ता ११ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—रज्जुवर्तकैश्चर्मकारैश्च स्वयं संसृज्येत ॥ वार्ता २१ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

५—भाण्डानि च वस्त्रादीनि वर्तयेत् ॥ वार्ता २२ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

बना रहना चाहिए ।^१ इस अध्यक्ष का कर्तव्य सूत्रशाला में कार्य करनेवाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों के कल्याण के उपाय करना तथा इनके द्वारा कतायी-बुनायी एवं तत्सम्बन्धी किए जानेवाले कार्य की मात्रा एवं उसमें कौशल की वृद्धि करना बतलाया गया है । कौटिल्य ने उन अध्यक्षों के लिए दण्ड विधान किया है जो अपने कर्तव्यों का विधिवत पालन नहीं करते हैं । कौटिल्य ने इस विषय में कुछ उदाहरण भी दिए हैं । वह उस अध्यक्ष को पूर्वं साहस दण्ड देने का आदेश देते हैं जो सूत्रशाला में काम करनेवाली स्त्रियों के मुख की ओर ही देखता रहता है अथवा उनसे बात-चीत करके उनको अन्य कार्य में लगाकर कार्य में विघ्न करता है ।^२ जो अध्यक्ष सूत्रशाला में काम करनेवाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को समय पर वेतन नहीं देता है उसको मध्यम साहस दण्ड देना चाहिए ।^३ इसी प्रकार उस अध्यक्ष को भी मध्यम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए जो बिना काम किए ही वेतन दे देता है ।^४

शिल्पी एवं कर्मचारी—कतायी-बुनायी तथा उससे सम्बन्धित उद्योग में कार्य करनेवाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को मुख्य दो श्रेणियों में सुविधापूर्वक विभक्त किया जा सकता है । प्रथम श्रेणी में वह शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी परिगणित किए जा सकते हैं जो पूरे दिन काम करने के लिए नियुक्त किए जाते थे और दूसरी श्रेणी में वह शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी थे जो पूरे दिन काम नहीं करते थे अपितु आंशिक काल के लिए कार्य करते थे । प्रथम श्रेणी के शिल्पी एवं अन्य कर्मचारी सूत्रशाला में ही उसके अध्यक्ष की देख-रेख एवं उसके आदेश के अनुसार कार्य करते थे । आंशिक शिल्पी अथवा कर्मचारी गण शिल्पशाला में कार्य करने के निमित्त उपस्थित नहीं होते थे अपितु वह अपने घरों में ही कतायी-बुनायी एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्य करते थे और उनके कार्य के अनुसार उनको उनकी मजदूरी दे दी जाती थी । इस श्रेणी के शिल्पियों एवं कर्मचारियों के पास रुई, ऊन, शण आदि सामग्री भेज दी जाती थी और इसके बदले में वह सूत्र, वस्त्र अथवा रस्सी आदि का निर्माण कर सूत्राध्यक्ष के पास भेज देते थे । इस आदान-प्रदान के निमित्त सूत्राध्यक्ष दासियों की नियुक्ति करता था । इन दासियों को नम्रतापूर्वक व्यवहार करने के लिए आदेश दिया गया है ।^५ इस श्रेणी में किस प्रकार के शिल्पियों एवं कर्मचारियों को परिगणित किया जाना चाहिए

१—कारुभिश्चकर्मकारयेत्प्रतिसर्गं च गच्छेत् ॥

वार्ता ८ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

२—स्त्रिया मुखसन्दर्शने अन्यकार्यसंभाषायां वा पूर्वः साहसदण्डः ॥

वार्ता १५ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

३—वेतनकालातिपातने मध्यमः ॥

वार्ता १६ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

४—अकृतकमवेतन प्रदाने च ॥

वार्ता १७ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

५—स्वदासीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्म कारयितव्याः ॥

वार्ता १२ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं—प्रायः घर से बाहर नहीं निकलने वाली, पति के परदेश जाने से असहाय, विधवा, अंगहीन और कन्याएं आदि जिनको अपना स्वयं भरण-पोषण करना है सूत्राध्यक्ष को उनके पास अपनी दासी भेजकर आदर पुरस्कृत उनसे कार्य लेना चाहिये ।^१

कताई-बुनाई एवं तत्सम्बन्धी कार्य के लिए कौटिल्य कुछ विशेष प्रकार के व्यक्तियों को अधिक उद्युक्त समझते हैं और इसीलिए उन्होंने इस कार्य के सम्पादन हेतु इनकी नियुक्ति की व्यवस्था दी है । सूत्राध्यक्ष को सूत्र, कवच, वस्त्र और रज्जु का कार्य उस कार्य में कुशल पुरुषों के द्वारा कराना चाहिए ।^२ ऊन, बल्क, कपास, सेमर की रुई आदि, शण और क्षौम को विधवा, अंगहीन, कन्या, सन्यासिनी, अपराधिनी, वेश्याओं की वृद्ध माता, वृद्ध राजदासी तथा देव-स्थान से बहिष्कृत देवदासियों से कतवाना चाहिए ।^३ कताई-बुनाई एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्यों के विशेषज्ञों के द्वारा उनकी विशेष योग्यता के अनुसार कार्य लेना चाहिए ।^४

वेतन—कताई-बुनाई एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्य उद्योग में जो शिल्पी तथा अन्य कर्मचारी कार्य करते थे वह वैतनिक कर्मचारी होते थे । इन का वेतन किस प्रकार निर्धारित किया जाना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने कई सिद्धान्त निर्धारित किए हैं जिनमें से कुछ इस प्रकार हैं—कार्य की मात्रा एवं उसकी उत्तमता अथवा निम्नता को ध्यान में रखकर वेतन नियत किया जाना चाहिए । सूत्र की कताई के विषय में वेतन निर्धारित करने के लिए सूत्र की मुटाई, लम्बाई एवं उसकी सूक्ष्मता आदि पर ध्यान रखना चाहिए ।^५ ठेके पर भी कार्य कराया जाना चाहिए । इस प्रकार निश्चित समय में निश्चित कार्य के पूर्ण हो जाने पर निश्चित वेतन देने की भी प्रणाली थी ।^६ यदि पर्व आदि किसी सार्वजनिक अवकाश वाले दिन किसी शिल्पी अथवा कर्मचारी

१—याश्चान्पासिन्यः प्रोषितविधवा न्यङ्गा वन्धका वात्मानं विभृत्युस्ताः स्वदा-
सीभिरनुसार्य सोपग्रहं कर्मकारयितव्याः ॥

वार्ता १२ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—सूत्राध्यक्षः सूत्रवर्मदस्त्ररज्ज्व्यवहारं तज्जातपुरुषैः कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

३—ऊणविल्ककापांसूतशण क्षौमाणि च विधवान्यङ्गाकन्याप्रजितादण्डप्रतिकारि-
णीभीरुपाजीवामातृकाभिवृद्धराजदासीभिव्युपरतोपस्थानदेवदासीभिरचकर्तयेत् ॥

वार्ता २ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तज्जात्युपैः कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

५—रत्नक्ष्यस्थूलमध्यतां च सूत्रस्य विदित्वा वेतनम् कल्पयेत् ॥

वार्ता ३ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

बद्धरूपतां च ॥

वार्ता ४ अ० २३ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

६—कृतकर्मप्रमाणकालवेतनफलनिष्पत्तिः ॥ वार्ता ८ अ० २३ अधि० ३ अर्थ० ॥

से कार्य लिया जाय तो उसको अतिरिक्त वेतन देना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है।^१

कौटिल्य का विश्वास है कि वेतन ठीक समय पर दिया जाना चाहिए। इसी लिए वह शिल्पियों एवं कर्मचारियों को ठीक समय पर वेतन देने के लिये अति उत्सुक दिखलायी पड़ते हैं। वह उस सूत्राध्यक्ष को दोषी ठहराते हैं जो अपने अधीन काम करनेवाले शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को ठीक समय पर उनका वेतन नहीं देता है। ऐसे सूत्राध्यक्ष को वह मध्यम साहस दण्ड निर्धारित करते हैं।^२

शिल्पियों एवं कर्मचारियों के उत्साहवर्धन हेतु पुरस्कार—कतायी-बुनायी उद्योग के विकास के निमित्त शिल्पियों को प्रोत्साहित करना चाहिए इस ओर कौटिल्य ने विशेष ध्यान दिया है। उनका कहना है कि जो शिल्पी वास्तव में उच्च-कोटि का सूत अथवा वस्त्र का निर्माण करते हैं उनको प्रोत्साहित करने के लिए सूत्राध्यक्ष को गन्ध, माल्य आदि आदर की वस्तु अथवा अन्य कृपा के लक्षणभूत पदार्थों से उनको सन्तुष्ट करना चाहिए।^३

शिल्पियों एवं कर्मचारियों को दण्ड—जहाँ कौटिल्य ने अच्छे शिल्पियों एवं अन्य कर्मचारियों को उनके विशेष कार्यों के लिए पुरस्कार देने का विधान किया है वहीं उन्होंने आलसी एवं कायर शिल्पियों एवं कर्मचारियों को उनकी कायरता एवं अकर्मण्यता के लिए दण्ड देने की व्यवस्था भी दी है। कौटिल्य का कथन है कि यदि सूत्र कम उतरने लगे तो शिल्पी का उतना ही वेतन कम कर देना चाहिए।^४ उसी प्रकार असार वस्तु के निर्माण करने पर शिल्पी के वेतन में कटौती कर देनी चाहिए। इसी प्रसंग में कौटिल्य यह नियम निर्धारित करते हैं कि जो शिल्पी एवं कर्मचारी अपराध करे सूत्राध्यक्ष उनको उनके अपराध के अनुसार वेतन काटकर दण्ड दे सकता है।^५ यदि शिल्पी अथवा कर्मचारी किसी कार्य को उलट-पलट कर करता है तो उसको उतने समय का वेतन नहीं दिया जाना चाहिए और उसपर उसके वेतन से दो गुना दण्ड भी होना चाहिए।^६ यदि वस्त्र नाप में कम उतरे तो शिल्पी के वेतन से उस कम हुए वस्त्र का मूल्य काट लेना चाहिए और इसके अतिरिक्त उससे दो गुना आर्थिक दण्ड होना चाहिए।^७ यदि सूत तौल में कम उतरे तो जितने मूल्य का सूत तौल

१—तिथिषु प्रतिपादनमामैश्च कर्मकारप्रित्यथाः ॥ वार्ता ६ अ० २३ अधि० ३ अर्थ० ॥

२—वेतनकालातिपातने मध्यमः ॥ वार्ता १६ अ० २३ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

३—गन्धमाल्यदामैरन्यैश्चौपग्राहिकैराधयेत् ॥ वार्ता ६ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

४—सूत्रहासेः वेतनहासः द्रव्यसारात् ॥ वार्ता ७ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

५—वेतनेषु च कर्मकराणामपराधतो दण्डः ॥ वार्ता २० अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

६—कार्यस्यान्यथाकरणे वेतननाशस्तद्विगुणश्च दण्डः ॥

७—मानहीने हीनापहीनं वेतनं तद्विगुणश्च दण्डः ॥ वार्ता ३ अ० १४ अधि० २ अर्थ० ॥

वार्ता १३ अ० १ अधि० ४ अर्थ० ॥

में कम उतरे उसके मूल्य का चार गुना दण्ड होना चाहिए ।^१ यदि सूत बदल दिया जाय तो मूल्य से दो गुना दण्ड किया जाना चाहिए ।^२

आर्थिकदण्ड के अतिरिक्त उन्हें शारीरिक दण्ड का भी विधान किया गया है । कौटिल्य उन शिल्पियों को कठोर दण्ड देने के पक्ष में हैं जो वेतन लेकर काम नहीं करते हैं । इस विषय में वह व्यवस्था देते हैं—वेतन लेकर काम नहीं करनेवाली स्त्रियों के अँगूठे कटवा देने चाहिए ।^३ जो राजकीय द्रव्य को खाजाए, या अपहरण करले जाए अथवा लेकर भाग जाये उसको भी इसी प्रकार शारीरिक दण्ड दिया जाना चाहिए ।

इस प्रकार कताई-बुनाई तथा तत्सम्बन्धी अन्य कार्य उद्योग राज्य के स्वामित्व एवं उसके नियन्त्रण में राज्य की पूंजी, श्रम और प्रबन्ध के द्वारा संघठित एवं संचालित होता था । इस प्रकार इस उद्योग से उत्पादित सामग्री में जितनी सामग्री राज्य की सरकार को उसके निर्वाह हेतु आवश्यक होती थी उतनी राज्य स्वयं अपने अधीन रख लेता था और अवशेष सामग्री राजकीय दूकानों में (राज्य पण्यानि) विक्रय की जाती थी । परन्तु इसका अर्थ यह कदापि न था कि कताई-बुनाई एवं तत्सम्बन्धी अन्य कार्य निजी तौर पर करने का निषेध था । ऐसा कदापि न था । जनता अपने निर्वाह हेतु इस प्रकार की सामग्री का उत्पादन कर सकती थी और उसके क्रय-विक्रय करने की भी उन्हें पूर्ण स्वतन्त्रता थी । परन्तु क्रय-विक्रय राज्य नियन्त्रण के अधीन ही होता था जिससे मनुष्य के द्वारा मनुष्य का शोषण न होने पाए और लोगों की वस्त्र सम्बन्धी आवश्यकतायें भी पूरी होती रहें ।

गोपालन-उद्योग

मनुष्य के उपयोग में आनेवाले दूध, दही, घृत आदि की प्राप्ति हेतु दूध देनेवाले पशुओं का पालन किया जाता है । इन पशुओं के पालन हेतु कौटिल्य ने गोपालन-उद्योग के संघटन एवं संचालन हेतु व्यवस्था दी है । कौटिल्य के मतानुसार गोपालन-उद्योग राज्य के स्वामित्व (State ownership) एवं राज्य के नियन्त्रण (State control) के अन्तर्गत होना चाहिए । कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित गोपाल-उद्योग का कैसा स्वरूप होता चाहिए इस विषय का संक्षिप्त वर्णन यहाँ पर दिया जाएगा ।

गोपालन-उद्योग का क्षेत्र—कौटिल्य के मतानुसार गोपालन-उद्योग का क्षेत्र बड़ा व्यापक बतलाया गया है । गाय, भैंस, भेड़, बकरी आदि दूध देनेवाले पशुओं का पालन करना, उनसे दूध प्राप्त करना और उस दूध से मनुष्य के उपयोग योग्य पदार्थ जैसे दही, घृत, मक्खन आदि का निर्माण करना, उन वाले पशुओं का पालन करना और उन से उन प्राप्त करना, मरे हुए पशुओं की खाल, सींग, हड्डी,

१—तुनाहीने हीन चतुर्गुणो दण्डः ॥ वार्ता १४ अ० १ अधि० ४ अर्थशास्त्र ॥

२—सूत्रपरिवर्तने मूल्याद्विगुणः ॥ वार्ता १५ अ० १ अधि० ४ अर्थ० ॥

३—गृहीत्वा वेतनं कर्माकुर्वन्त्याः अङ्गुष्ठसदंशं दापयेत् ॥

वार्ता १६ अ० २३ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

खुर आदि का संग्रह करना, गाय, भैंस, बकरी, भेड़ आदि पशुओं के वत्स्या और वत्स्यों का पालन-पोषण कर उनको मनुष्य के उपयोग हेतु समर्थ करना, गाय, भैंस आदि के वत्स्यों का विशेष रूप से पालन-पोषण कर उनको कृषि-कार्य एवं भार-वहन आदि कार्यों के योग्य बनाना आदि कार्य गोपालन-उद्योग के क्षेत्र के अन्तर्गत माने गए हैं। इन कार्यों के अतिरिक्त गोपालन उद्योग के क्षेत्र के अन्तर्गत आनेवाले पशुओं के रोग-निवारण हेतु उनकी चिकित्सा का समुचित प्रबन्ध करना और भय के अन्य प्रकारों से उनकी रक्षा करना जिससे यह पशु नष्ट अथवा विनष्ट न होने पाएं।

गोऽध्यक्ष—गोपालन उद्योग के प्रमुख अधिकारी को कौटिल्य ने गोऽध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। गोपालन उद्योग की समस्त देख-रेख एवं उसका प्रबन्ध एवं संचालन इसी अध्यक्ष के कर्तव्य क्षेत्र के अन्तर्गत माना गया है। गोपालन की अनेक प्रणालियों को विधिवत संचालन करना गोऽध्यक्ष का ही कर्तव्य बतलाया गया है। इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—वेतनोपग्राहिक, करप्रतिकर, भगनोत्सृष्टक, भागानुप्रविष्टक, ब्रजपर्यग्र, क्षीरघृतसंजात आदि प्रणालियों द्वारा राज्य में जो राजकीय गोपालन-उद्योग संचालित होता है उसकी देख-रेख करना गोऽध्यक्ष का कर्तव्य है।^१ उसको उन उपायों को करना चाहिए जिससे गोपालन-उद्योग के अन्तर्गत पालित-पोषित पशुओं के नष्ट एवं विनष्ट होने से उनकी रक्षा हो सके।^२ गोपालन-उद्योग में जो दोष उत्पन्न हो रहे हों जैसे एक यूथ के वृष को दूसरे यूथ के वृष से लड़ाना, वृष को मार डालना, ठीक समय पर गाय, भैंस आदि को न दुहा जाना अथवा निषेध किये गये समय पर उनका दुहा जाना आदि का निराकरण करना गोऽध्यक्ष का कर्तव्य बतलाया गया है। इसके अतिरिक्त गोपालन उद्योग में कार्य करनेवाले कर्मचारियों एवं सेवकों आदि की सेवाओं के अनुसार उनको वेतन देने एवं कार्य न करने वालों के वेतन काटने एवं उनको अन्य प्रकार से दण्डित करने की व्यवस्था करना आदि कार्य भी उसी के कर्तव्य-क्षेत्र के अन्तर्गत परिगणित किए गए हैं।^३ गोऽध्यक्ष का यह भी कर्तव्य बतलाया गया है कि उसको राजकीय गोपालन उद्योग के अन्तर्गत रहनेवाले समस्त पशुओं को चिह्नित (दाग) करा देना चाहिये।^४ इन पशुओं के अंक, स्वाभाविक

१—गोऽध्यक्षो वेतनोपग्राहिकं करप्रतिकरं भगनोत्सृष्टकं भागानुप्रविष्टकं ब्रजपर्यग्रं

नष्टं विनष्टं क्षीरघृतसंजातं चोपलभेत ॥ वार्ता १ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—× × × नष्टं विनष्टं × चोपलभेत ॥ वार्ता १ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—यूथं वृषं वृषेणावपातयतः पूर्वं : साहसं दण्डः ॥ वार्ता ३६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

घातयत उत्तमः ॥ वार्ता ४० अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

दोहकालमतिक्रामतस्तत्फलदानं दण्डः ॥ वार्ता ३२ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

द्वितीय कालदोग्धुराद्दृष्टच्छेदो दण्डः ॥ वार्ता ३१ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

हितोपभृताः पालयेयुः ॥ वार्ता २ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—मासद्विमासपर्युपितमङ्गयेत् ॥ वार्ता ६ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

चिन्ह, रंग, सींगों का ढंग आदि लक्षणों को गोऽध्यक्ष को निबन्धपुस्तक (रजिस्टर) में लिखवा देते रहना चाहिये ।^१ इस प्रकार गोऽध्यक्ष गोपालन-उद्योग का सबसे महत्वपूर्ण एवं सबसे बड़ा पदाधिकारी बतलाया गया है ।

गोपालन की मुख्य प्रणालियाँ—अर्थशास्त्र के रचनाकाल में गोपालन उद्योग के अन्तर्गत कौन कौन सी मुख्य प्रणालियाँ प्रचलित थी इस विषय का कुछ वर्णन अर्थ-शास्त्र में दिया गया है । इन प्रणालियों में एक यह प्रणाली थी कि गोपालन कार्य वेतन-भोगी कर्मचारियों तथा सेवकों के द्वारा किया जाता था । इस प्रणाली के अनुसार गो, भैंस आदि दूध देनेवाले पशुओं से प्राप्त दूध तथा दूध से बने हुए दही, मक्खन, घी आदि पदार्थों में उनका अंश (Share) वेतन के रूप में नहीं होता था । इस प्रणाली को वेतनोपग्राहिक प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया गया है । गोपालन की इस प्रणाली का संक्षेप में वर्णन करते हुए कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं जो इस प्रकार हैं—सौ गायों की एक टोली अलग बनायी जानी चाहिए जिन की देख-रेख एवं सेवासुश्रुपा के निमित्त पांच मनुष्य नियुक्त किए जाने चाहिए । यह पांच मनुष्य गोपालक, पिण्डारक (भैंस-पालक), दोहक, मन्थक और लुब्धक (जंगली जीवों से पशुओं की रक्षा करनेवाले) बतलाए हैं ।^२ इनको नकद वेतन मिलना चाहिए । यदि दूध, दही, मक्खन, घृत आदि में इनका अंश (Share) रखा जाए गा तो यह इन पशुओं के वेत्स एवं वत्स्याओं को भूखों मार देंगे । इस प्रणाली को वेतनोपग्राहिक प्रणाली कहते हैं ।^३

पशुपालन को दूसरी प्रणाली को करप्रतकर प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया गया है । इस प्रणाली का उल्लेख करते हुए कौटिल्य कहते हैं कि बूढ़ी, दूध देने वाली, गभिणी, पठोरी, और बछियाँ—इन पाँचों में प्रत्येक प्रकार के बीस-बीस पशु मिला कर सौ पशुओं की एक टोली बनायी जानी चाहिए और उनको एक मुख्य पालक की देख-रेख में रखा जाए ।^४ इस पालक को अठारक घृत, प्रत्येक गाय पर एक पण, और राजकीय मुद्रा से अंकित सरे पशु की पूंछ ओर चर्म प्रति वर्ष राजकोष के निमित्त कर के रूप में देना चाहिए ।^५

१—अर्द्धं चिन्हं वर्णं शृङ्गान्तरं च लक्षणमेवमुपजा निबन्धयेदितिब्रजपर्यग्रम् ॥

वार्ता १० अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—गोपालकपिण्डारकदोहकमन्थकलुब्धकाः शतं शतं धेनूनां द्विरणभृताः

पालयेयुः ॥

वार्ता २ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—क्षीरघृतभृता हि वत्सानुपहन्युरिति वेतनोपग्राहिकम् ॥

वार्ता ३ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—जरदुधेनुगभिणीप्रठोहीवत्सतरीणां समविभागं रूपशतमेकः पातयेत् ॥ १

वार्ता ४ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—घृतस्याष्टौ वारकान्पणिक पुच्छमङ्गचर्म च वार्षिकं दद्यादितिकरप्रति करः ॥

वार्ता ५ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

रोगी, अंगहीन, एक ही से दुही जानेवाली, कठिनायी से दुही जानेवाली और मृत-वत्सा इन पांच प्रकार की गौओं में से प्रत्येक प्रकार की बीस-बीस गाय मिलाकर सौ गायों की एक टोली बनानी चाहिए। इस प्रकार से बनाए गए सौ पशुओं की टोली की सेवा-सुश्रुषा का कार्य-भार एक मुख्य पालक को सौंपना चाहिये और उन पशुओं से उत्पन्न दूध एवं उससे बने घृत आदि का जो अंश निर्धारित कर दिया गया है उसको राजकीय कोष में उस मुख्य पालक को भेजते रहना चाहिये। इस प्रणाली को कौटिल्य ने भग्नोत्सृष्टक संज्ञा दी है।^१

शत्रु के आक्रमण अथवा जंगली जन्तुओं के भय से जो अपने पशु (राजकीय गो-शाला में) रक्षा हेतु भेज देता है और उन पशुओं के पालन का शुल्क उन पशुओं की आय का दसवां भाग राजकीय कोष में देता रहता है पशुपालन की इस प्रणाली को अर्थशास्त्र में भागानुप्रविष्टक प्रणाली के नाम से वर्णन किया गया है।^२

पशुपालन की पांचवीं प्रणाली जिसमें पशुओं को उनकी पृथक-पृथक श्रेणियों में विभक्त कर उनका पालन-पोषण एवं उनके अनुरूप उनसे काम लेने के योग्य उन्हें बनाने की व्यवस्था की जाती है इस प्रणाली को कौटिल्य ने ब्रजपर्यग्र प्रणाली के नाम से सम्बोधित किया है।^३ इस प्रणाली का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—वत्स (दूध पर ही निर्वाह करनेवाला), वत्सतर (जिनका दूध छूट गया है), दम्य (हल खींचने योग्य), वहिन (भारवहन योग्य) वृष, सांड यह छः प्रकार के वैल होते हैं।^४ जुआ (हल), वाहन में चलनेवाले सांड रूप में छोड़े गए, केवल मांस के उपयोग में आनेवाले और पीठपर भार वहन करनेवाले यह चार प्रकार के भैंसे होते हैं।^५ वत्सिका (छोटी बछिया), वत्सरी (कुछ बड़ी बछिया), प्रष्टौही, (पठोरी), गर्भिणी, दूध देनेवाली और बन्ध्या यह गाय और भैंस दोनों होती हैं।^६ मास दो मास के इनके बच्चों को उपजावत्स, वत्सिका कहते हैं। इस

१—व्याधितान्प्रज्ञानन्य दोहीदुर्दोहापुत्रघ्नीनां च समविभागं रूपशतं पालयन्तस्त-
जातिकं भागं दद्युरिति भग्नोत्सृष्टकम् ॥ वार्ता ६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—परचक्राटवीभयादनुप्रविष्टानां पशूनां पालनधर्मेण दशभागं दद्युरिति भागानु-
प्रविष्टकम् ॥ वार्ता ७ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—ब्रजपर्यग्रम् ॥ वार्ता १० अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—वत्सा वत्सतरा दम्या वहिनो वृषा उत्ताणश्च पुङ्गवाः ॥
वार्ता ८ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—युगवाहनशकटवहा वृषभाः सूना महिषाः पृष्टस्कन्धवाहिनश्च महिषाः ॥
वार्ता ८ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—वत्सिका वत्सतरी प्रष्टौही गर्भिणी धेनुश्चाप्रजाता बन्ध्याश्च गावो महिष्यश्च ॥
वार्ता ८ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

अवस्था में हो इनको लोहे के चिन्हों से दाग देना चाहिए।^१ जो बाहर के पशु राजकीय गोशाला में प्रविष्ट हों उनको भी महीने-दो महीने में दाग देना चाहिए।^२ इन समस्त पशुओं के अंक, स्वाभाविक चिन्ह, वर्ण, सींगों का ढंग आदि लक्षणों को गोऽध्यक्ष को अपने रजिस्टर में लिखवा लेना चाहिए। इस प्रणाली को ब्रजपर्यग्र कहते हैं।^३

नष्ट पशु—पशुओं के नष्ट होने के मुख्य तीन कारण कौटिल्य ने बतलाए हैं। वह इस प्रकार हैं—चोरों द्वारा पशुओं का अपहरण किया जाना, पशुओं का दूसरे के यूथ में मिल जाना और अपने यूथ से भ्रष्ट होकर वन में इधर-उधर भटकना।^४

विनष्ट पशु—पशुओं के विनष्ट होने के अनेक कारण बतलाए गए हैं जिनमें से कुछ का उल्लेख अर्थशास्त्र में दिया गया है और जो इस प्रकार हैं—कीचड़, विषम-गर्त आदि में फँस जाना, रोगग्रस्त होना, जराग्रस्त होना, जलप्रवाह में बह जाना, आहार आदि की उचित व्यवस्था न होने पर मर जाना, वृक्ष, तट, काष्ठ, शिला आदि के आघात से मर जाना, ईश्वरी उत्पात बिजली, तुषारपात आदि से मृत्यु को प्राप्त होना, सिंह आदि हिंस्र जन्तु, सर्प, ग्राह, दावाग्नि आदि द्वारा विनाश को प्राप्त होना—इस प्रकार पशुओं का नाश विनष्ट कहलाता है।^५

पशुओं के नष्ट और विनष्ट होने से उनकी रक्षा की व्यवस्था—कौटिल्य ने पशुओं के नाश एवं विनाश होने से उनकी रक्षा के हेतु कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं और गोऽध्यक्ष को आदेश दिया है कि उसको इन व्यवस्थाओं को कार्यान्वित करना चाहिये और इस प्रकार पशुओं की रक्षा करनी चाहिए। इस विषय में कौटिल्य ने प्रथम व्यवस्था यह दी है कि जिस व्यक्ति के प्रमाद से पशु का नाश अथवा विनाश हो उस व्यक्ति को उस हानि को पूरा करना चाहिए।^६ जो व्यक्ति पशु स्वयं वध करता है अथवा दूसरे से उसका वध कराता है उसको मृत्यु दण्ड दिया जाना चाहिए।^७ अन्य

१—मास द्विमासजातास्तासामुपजा वत्सा वत्सिकाश्च मासद्विमासजातानङ्कयेत् ॥

वार्ता ८ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—मासद्विमासपशुपितमङ्कयेत् ॥

वार्ता ६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—अङ्कचिन्हं वर्णं शृङ्गान्तरं च लक्षणमेवमुपजा निबन्धयेदिति ब्रजपर्यग्रम् ॥

वार्ता १० अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—चोरहृतमन्ययूथप्रविष्टमवलीनं वा नष्टम् ॥ वार्ता ११ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—पङ्कविषमव्याधिजरातोयाधारावसनं वृक्षतटकाष्ठशिलाभिहतमीशानव्याल-

सर्पग्राहदावाग्निविषमं विनष्टं ॥ वार्ता १२ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—विनष्टं प्रमादाद्भ्याह्वेयुः ॥

वार्ता १२ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—स्वयं हन्ता घातयिता हर्ता हारयिता च वध्यः ॥

वार्ता १४ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

के पशु पर जो व्यक्ति राजकीय चिह्न लगाकर उसका पूर्व रूप बदल दे उसको पूर्व साहसं दण्ड देना चाहिए ।^१ चोरों द्वारा हरण किए गये, अपने ही देश के पशुओं को लाने वाले को प्रत्येक पशु पर एक पण पशु के स्वामी से प्राप्त करने का अधिकारी है ।^२ परदेश के पशुओं को चोरों से मुक्त करानेवाला व्यक्ति पशु के स्वामी से पशु के मूल्य के आधेमूल्य के पाने का अधिकार रखता है ।^३ गोपालकों को बाल, वृद्ध और रोगी पशुओं की यथोचित देख-रेख एवं चिकित्सा करनी चाहिए ।^४ लुब्धक (शिकारी) और कुत्तों के समूह रखनेवाले वनवासी मनुष्यों द्वारा चोर, सिंह आदि शिकार जन्तुओं से सुरक्षित वन में ऋतुओं के अनुसार गोपालकों को पशु चराते रहना चाहिए ।^५ सर्प, व्याल आदि जन्तुओं को डराने, पशु कहां चर रहा है इसे जानने आदि के लिए पशुओं के गले में घण्टे बांध देने चाहिए ।^६

गोपालक को अपने अधीन पशुओं को सम प्रदेश, भली प्रकार उतरने योग्य, कीचड़ एवं दलदल आदि से रहित और ग्राह आदि जल जन्तुओं से हीन जल में उतारना चाहिए और इस प्रकार उनको जलपान कराने की व्यवस्था करनी चाहिए ।^७ चोर, हिंस्र जन्तु, सर्प, ग्राह आदि से ग्रसित तथा व्याधि अथवा जरा के कारण मृत्यु को प्राप्त हुए पशु की मृत्यु की सूचना गोपालक को गोऽध्यक्ष के समीप तुरन्त भेजनी चाहिए अन्यथा गोपालक को मृत पशु के मूल्य का धन चुकाना पड़ेगा ।^८ किसी कारण वश मृत्यु को प्राप्त हुए गो, भैंस का अंकित चर्म, बजा और भेड़ों का चिन्हित कान, अश्व, खुर और ऊँटों का अंकित चर्म और पुच्छ गोपालक को गोऽध्यक्ष के पास उसके अवलोकन हेतु प्रस्तुत करना चाहिए । मरे हुए पशु के बाल, चर्म, वस्ति, पित्ता

१—परपशूनां राजाङ्गेन परिवर्तयिता रूपस्य पूर्वसाहसदण्डं दद्यात् ॥

वार्ता १५ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—स्वदेशीयानां चोरहृतं प्रक्षानीय पणिकं रूपं हरेत् ॥

वार्ता १६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—परदेशीयानां मोक्षयितार्थं हरेत् ॥ वार्ता १७ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—बालवृद्धव्याधितानां गोपालकाः प्रतिकुर्युः ॥ वार्ता १८ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—लुब्धकश्चगणिभिरपास्तस्तेन व्यालपरवाधभयमृतुविभक्तमरणं चारयेयुः ॥

वार्ता १९ अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—सर्पव्यालव्रासनार्थं गोचरानुपातज्ञानार्थं च वस्त्रानां घण्टातूर्यं च बध्नीयुः ॥

वार्ता २० अ० २६ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—समव्यूढतीर्थमकर्मग्राहमुदकवतारयेयुः पालयेयुश्च ॥

वार्ता २१ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

८—स्तेनव्यालसर्पग्राहगृहीतं व्याधिजरावसन्नं चावेदयेयुरन्यथा रूपमूल्यं भजेरन् ॥

वार्ता २२ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

स्नायु, दांत, खुर, सींग और हड्डी तक लाकर गोऽव्यय के अवलोकन हेतु प्रस्तुत करनी चाहिए ।^१

गोपालन-उद्योग सम्बन्धी कतिपय विशेष नियम—पशुओं की वृद्धि हेतु, गाय, भैंस बकरी आदि पशुओं में गर्भ धारण कराने के लिए तत्सम्बन्धी बलिष्ठ एवं पुष्ट नर पशु उनके यूथ में होने चाहिए । यह पशु किस अनुपात में होने चाहिए इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—खर और घोड़ियों के यूथ में प्रतिशत पांच सांड छोड़ने चाहिए । भेड़ और बकरियों में प्रतिशत दस, गर्भ स्थापन करानेवाले भेड़ और बकरे होने चाहिए और गाय, भैंस और उटिनियों के यूथ में प्रतिशत चार सांड होने उचित हैं ।^२ इस प्रकार पशुओं की वृद्धि के हेतु इस व्यवस्था का अनुसरण करने का आदेश कौटिल्य ने दिया है ।

ऋतु के अनुसार गाय, भैंस आदि के दूध दुहने का समय भी निर्धारित किया गया है । इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है वर्षा, शरद और हेमन्त ऋतुओं में गाय, भैंस आदि दूध देने वाले पशु को प्रतिदिन दो समय दुहा जाना चाहिए ।^३ परन्तु शिशिर, वसन्त और ग्रीष्म ऋतुओं में उन्हें केवल एक ही बार दुहना उचित होगा ।^४ इन ऋतुओं में यदि दिन में द्वितीय बार कोई दूध दुहे तो उसको अंगुष्ठ-छेदन का दण्ड देना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है ।^५ जो दोहक दूध देनेवाले पशुओं को समय पर दुहता नहीं है उसको उस दिन का वेतन नहीं देना चाहिए ।^६ इस प्रकार कौटिल्य ने गाय, भैंस आदि दूध देनेवाले पशुओं के दूध दुहे जाने के विषय में व्यवस्थायें दी हैं ।

जिस प्रकार दूध देनेवाले पशुओं को ठीक समय पर ही दुहा जाना चाहिए इसी प्रकार अन्य कार्यों में भी समय के पालन करने पर विशेष महत्त्व दिया जाना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है । बछड़ों के नाथने, उनको जुए में जोड़ने, उनको टहलाने आदि कार्यों में भी समय का पालन किया जाना परमावश्यक बतलाया गया है । इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—इसी प्रकार बछड़ों को नाथने वाले, उनको हिलाने वाले, जुए में जोतने, वाले और उनको टहलाने वाले सेवक समय पर

१—कारणमृतस्याङ्गचर्म गोमहिषस्य कर्णलक्षणमजविकानां पुच्छमङ्गचर्म
चाश्वखरोष्ट्राणां बालचर्मवस्तिपित्तस्नायुदन्तखुर शृङ्गास्थीनि चाहरेयुः ॥

वार्ता २३ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—पञ्चर्षभं खराश्वानामजावीनां दशर्षभम् ।

शतयं गोमहिषोष्ट्राणां यूथं कुर्याच्चतुर्वृषभम् ॥

श्लोक ४६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—वर्षाशरद्वसन्तानुभयतः कालं दुह्युः ॥ वार्ता २६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—शिशिरवसन्तग्रीष्मानेककालम् ॥ वार्ता ३० अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—द्वितीयकालदोग्युगुण्ठच्छेदो दण्डः ॥ वार्ता ३१ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—दोहकालमतिक्रामतस्तत्फलहानं दण्डः ॥ वार्ता ३२ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

आकर करें जो सेवक अपना कार्य समय पर न करे उसको उस दिन का वेतन नहीं देना चाहिए ।^१

अर्थशास्त्र में यह भी बतलाया गया है कि कितने दूध में कितना घी प्राप्त होता है । इस विषय में इस प्रकार दर नियत की गयी है—एक द्रोण गाय के दूध में एक प्रस्थ घृत प्राप्त होता है ।^२ भैंस के एक द्रोण दूध में पांच प्रस्थ घृत निकलता है ।^३ भेड़ बकरियों के एक द्रोण दूध में दो प्रस्थ घृत प्राप्त होता है ।^४ इसके अतिरिक्त पशु विशेष के दूध के मथने के उपरान्त घृत की दर निर्धारित कर लेना चाहिए ।^५ भूमि, तृण और जल की विशेषता के अनुसार भी दूध और घृत की वृद्धि हो जाती है ।^६ ऊन वाले पशुओं की ऊन के उतारने के विषय में भी कौटिल्य ने व्यवस्था दी है और जो इस प्रकार है—भेड़ और बकरियों की ऊन प्रति छः मास के उपरान्त उतार ली जानी चाहिए ।^७ यही नियम अश्व, खर, ऊँट और सूकरों के बाल उतारने में भी पालन किया जाना चाहिए ।^८

कौटिल्य ने विभिन्न प्रकार के पशुओं को किस प्रकार का और कितना भोजन देना चाहिए इस विषय में भी कतिपय नियम दिए हैं और जो इस प्रकार हैं—बलवान बैल जो नथ चुके हैं और अश्वों की भांति भली प्रकार रथ आदि के खींचने में समर्थ हैं उनमें से प्रत्येक बैल को आधा भार हरी घास और उससे दो गुनी सूखी घास मिलनी चाहिए । खल की एक तुला दाना, कुट्टी दस आड़क, नमक पाँच पल, नाक में डालने के लिए एक कड़ुव तेल, और एक प्रस्थ पीने के लिए तेल प्रति दिन देना चाहिये । एक तुला मांस, एक आड़क दही, एक द्रोण जौ अथवा उरद का अधपका अन्न दिया जाना चाहिये । एक द्रोण दूध, आधा आड़क सुरा, एक प्रस्थ घृत, दस पल गुड़ और एक पल सोंठ यह सब एक बलिष्ठ बैल का दिन-रात का भोजन बतलाया गया

१—एतेन नस्त्रदम्ययुगपिगनवर्तनकाला व्याख्याताः ॥

वार्ता ३३ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—धीरद्रोणे गवां घृतप्रस्थः ॥

वार्ता ३४ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—पंचभागाधिको मद्भिषीणाम् ॥

वार्ता ३५ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—द्विभागाधिकोऽजावीनाम् ॥

वार्ता ३६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—मन्थो वा सर्वेषां प्रमाणम् ॥

वार्ता ३७ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—भूमितृणोदः विशेषाद्भिः क्षोरघृतवृद्धिर्भवति ॥

वार्ता ३८ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

७—अजादीनां प. एमासिकीमूर्णां ग्राहयेत् ॥ वार्ता ४३ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

८—तेनाश्ववररोऽश्वराहव्रजा व्याख्याताः ॥ वार्ता ४४ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

है ।^१ अश्वतर, गाय और खर को इसका चौथाई न्यून करके भोजन दिया जाना चाहिये।^२ भैंस और ऊट को इससे दो गुना भोजन दिया जाना चाहिये।^३ खेतों में काम करनेवाले बैलों और दूध देनेवाली गाय की, समयानुसार, खाद्य सामग्री का निश्चय करना चाहिए।^४ पशुओं को पर्याप्त मात्रा में चारा और पानी मिलना चाहिए।^५

इस प्रकार कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अन्तर्गत पशुपालन-उद्योग का विस्तृत वर्णन किया है।

अश्व-पालन

अश्व की उपयोगिता—ऐसे युग में जब कि आधुनिक युग के आवागमन के साधनों का अविष्कार न हुआ हो अश्व अपनी द्रुत गति एवं भारवहन की सामर्थ्य के कारण आवागमन का एक प्रमुख साधन माना गया है। इसीलिए अर्थशास्त्र के रचना काल में अश्व की बहुत बड़ी उपयोगिता मानी गयी है। अश्व की पीठ पर बैठकर मनुष्य एक स्थान से दूसरे स्थान तक शीघ्रता एवं सुविधा से पहुँच जाता था। वह गाड़ियों, रथों आदि वाहनों में जोता जाता था जिनमें बैठकर मनुष्य सुविधापूर्वक यात्रा करता था। पीठ पर भार धारण कर अश्वभारवहन कार्य करता था युद्ध में उसका विशेष उपयोग किया जाता था। चतुर्गिनी सेना का एक प्रमुख अंग अश्वारोही सेना का होता था और जिसकी सहायता से राजागण शत्रु से अपने राज्य की रक्षा करते थे और अन्य राज्यों पर विजय प्राप्त करते थे। अश्व की इतनी महान उपयोगिता के कारण ही राज्य अश्व-पालन विभाग संघटन करते थे और इस विभाग का एक मात्र वर्तव्य अश्व-पालन कर उनको राज्य के उपयोग योग्य बनाना था। अर्थशास्त्र में भी इसी सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है।

अश्वव्याप्त—कौटिल्य ने अश्व-पालन विभाग के मुख्य अधिकारी को अश्वव्याप्त के नाम से सम्बोधित किया है। राजकीय अश्वों का पालन-पोषण, उनकी सेवा-सुश्रुषा उनकी चिकित्सा तथा उनके प्रशिक्षण आदि कार्य का समस्त भार इसी राजकीय अधि-

१—बलीवर्दानां नस्याश्व भद्रगतिवाहिनां यवसस्यार्धभारस्तृणस्य द्विगुणं तुला
धाणपिण्याकस्य दशाढकं कणकुण्डकस्य पंचपलिकं मुखलवणं तैलकुडुबो नस्यं
प्रस्थः पाणं मांसतुला दध्नश्चाढकं यवद्रोणं माषाणां वा पुलाकः क्षीरद्रोण-
मर्धाढकं वा सुरायाः स्नेह प्रस्थः क्षारदशपलं शृङ्गिवेरपलं च प्रतिपातम् ॥

वार्ता ४५ अ० २६ अधि० २ अर्था० ॥

२—पादोनमश्वतरगोरवराणां ॥

वार्ता ४६ अ० २९ अधि० २ अर्था० ॥

३—द्विगुणं महिषेष्ट्राणां कर्मकरबलीवर्दानां पायनार्थानां च ॥

वार्ता ४६ अ० २६ अधि० २ अर्था० ॥

४—धेनूनां कर्मकालतः फलतश्च विधादानम् ॥

वार्ता ४७ अ० २६ अधि० २ अर्था० ॥

५—सर्वेषां तृणोदक प्रकाम्यमिति ॥

वार्ता ४८ अ० २६ अधि० ० अर्था० ॥

कारी पर आश्रित था। विभिन्न श्रेणी के अश्वों को उनके विशेष लक्षणों एवं विशेषताओं के सहित उनके नाम राजकीय निबन्ध-पुस्तक (रजिस्टर) में अश्वाध्यक्ष को अंकित करते रहना चाहिए। इस विषय में अर्थशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—बाजार में विक्रय हेतु आए हुए, क्रय किए गए, युद्ध में छीने गए, अपने अश्वशाला में उत्पन्न, सहायता के बदले में प्राप्त, गिरवी रखे हुए, कुछ समय के लिए घोरोहर के आधार पर आए हुए आदि अश्वों के कुल, व्यय, वर्ण चिह्न, वर्ग, तथा उनके आने के स्थान आदि को अश्वाध्यक्ष को निबन्धपुस्तक में अंकित कर देना चाहिए।^१ अंग-भग और अश्व-स्थ अश्वों को उनकी चिकित्सा हेतु अश्वाध्यक्ष को भेजते रहना चाहिए।^२

अश्वों के भोजन-छादन एवं चिकित्सादि की व्यवस्था—राजकीय अश्वों के भोजन-छादन एवं उनकी चिकित्सा तथा दीक्षा आदि की उचित व्यवस्था राज्य की ओर से की जाती थी। इन कार्य में जो व्यय होता था और जिस सामग्री एवं उस के उपकरण की आवश्यकता पड़ती थी वह समस्त राजकोष एवं राज्य के कोष्ठागार से प्रतिमास उस मास के निमित्त दिया जाता था। इस विषय में कौटिल्य ने संकेत रूप में यह व्यवस्था दी है—प्रत्येक अश्ववाहकों को उस घन एवं सामग्री को (जो कि उसके अधीन अश्वों की सेवा-सुश्रुषा हेतु उसको सौंपी जाती है) प्रति मास राजकीय कोष्ठागार से प्राप्त कर लेनी चाहिये और उससे अपने अधीन अश्वों के कल्याण की व्यवस्था करनी चाहिए।^३

(अ) अश्वशाला—कौटिल्य के मतानुसार राजकीय अश्वों के लिए एक विशाल अश्वशाला का निर्माण कराना चाहिये। अश्वों की गणना के अनुसार लम्बी चौड़ी प्रत्येक अश्व के लिए उसकी लम्बाई चौड़ाई से दो गुनी विस्तार वाली, चार द्वारों से युक्त, अश्वों के घूमने योग्य, वरामदे से सुशोभित प्रधान द्वार सुन्दर बैठने के स्थान से सुमम्न, वानर, मयूर, हिरन, नेवला, चकोर, तोता और मैना आदि सुन्दर जन्तुओं से भरी हुई अश्वशाला बनवानी चाहिए।^४ अश्व की लम्बाई के अनुरूप चौकोर, सुधरी, चिकने फलक (floor) से युक्त खादन-कोष्ठ (manger) के सहित मल और मूत्रोत्सर्ग के योग्य प्रत्येक अश्व को पृथक्-पृथक् पूर्व अथवा उत्तर मुख वाली

१—अश्वाध्यक्षः पण्यागारिकं क्रमोपागतमाहवलब्धमाजातं साहस्यसागतकं दणस्थितं यावत्कालिकं वाश्वपर्ययं कुलवयोवर्णचिन्हवर्गागमैर्लेखयेत् ॥

वार्ता १ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

२—अप्रशस्तन्यङ्गव्याधितारचवेदयेत् ॥ वार्ता २ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

३—कोशकोष्ठागाराभ्यां च गृहीत्वा मासलाभमश्वदाहश्चिन्तयेत् ॥

वार्ता ३ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

४—अश्वविभवेतायतामश्वायामद्विगुणविस्तारां चतुर्द्वारोपावर्तनमभ्यां सप्रसीवां प्रद्वारासनफलयुक्तां वानरमयूरपृषतन कुलचकोरशुकशारिकाभिराकीर्णशावां निवेशयेत् ॥

वार्ता ४ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

शाला का निर्माण कराना चाहिए ।^१ जिस प्रकार की अश्वशाला हो उसी प्रकार का अश्वों के बांधने का विभाग करना उचित है ।^२ घोड़ी, गर्भ धारण कराने वाले अश्व और किशोर अवस्था वाले अश्वों को पृथक पृथक बांधना चाहिए ।^३

(आ) भोजन—आयु, कार्यक्षमता, परिस्थिति आदि को ध्यान में रखकर अश्वों के भोजन की मात्रा एवं उसके प्रकार को कौटिल्य ने निर्धारित किया है । इस विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है — घोड़ी के वच्चा-जनन करने के समय से लेकर तीन दिन तक उस घोड़ी को प्रति दिन सेर-सेर भर घृत पिलाया जाना चाहिए ।^४ इसके अनन्तर प्रति दिन एक प्रस्थ सत्तू और ओषधिपुक्त तेल दस दिन तक खाने को मिलना चाहिए ।^५ दस दिन पश्चात् आधा पका हुआ जौ का दलिया और ऋतु के अनुकूल घास खाने को दी जानी चाहिए ।^६ दस दिन के उपरान्त उस नवजात बच्चे को भी प्रतिदिन एक कडुव सत्तू को उसके चौथाई भाग घी में मिला कर देना चाहिए ।^७ छः महीने तक उसको प्रति दिन एक प्रस्थ दूध भी मिलना चाहिए ।^८ इसके अनन्तर प्रत्येक मास में आधा-आधा प्रस्थ बड़ा कर एक प्रस्थ सत्तू से आरम्भ करके तीन वर्ष तक खिलाना चाहिए ।^९ तीन वर्ष से चार वर्ष की आयु तक एक द्रोण भोजन मिलना चाहिए ।^{१०} चार अथवा पांच वर्ष का अश्व कार्य करने के निमित्त समर्थ हो जाता है इसलिए उसके भोजन की मात्रा भी पूरी मात्रा ही माननी चाहिए ।^{११}

उत्तम अश्व को शाली, ब्रीहि, जौ प्रियङ्गु आदि अन्न, आधे सूखे अथवा पकाए

१—अश्वायामचतुरश्रलक्षणफलकास्तारं सरवादनकोष्ठकं समूत्रपुरीषोत्सर्गमेकैकशः ।

प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा स्थानं निवेशयेत् ॥ वार्ता ५ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—शालावशेन वा दिग्विभागं कल्पयेत् ॥ वार्ता ६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—वडवावृषकिशोराणामेकान्तेषु ॥ वार्ता ७ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—वडवायाः प्रजातायास्त्रिरात्रं घृतप्रस्थः पानम् ॥

वार्ता ८ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—अत ऊर्ध्वं सत्तुप्रस्थः स्नेहभैषज्यप्रतिपानं दशरात्रम् ॥

वार्ता ९ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—ततः पुलाको यवसमार्तवश्चाहारः ॥ वार्ता १० अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—दशरात्रादूर्ध्वं किशोरस्य घृतचतुर्भागः सत्तुकुडुवः ॥

वार्ता ११ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

८—क्षीरप्रस्थश्चाहार आपणमासादिति ॥ वार्ता १२ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

९—ततः परं मासोत्तरमध्वृद्धिर्यवप्रस्थ आत्रिवर्षात् ॥

वार्ता १३ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

१०—द्रोणे आचतुर्वर्षादिति ॥

वार्ता १४ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

११—अत ऊर्ध्वं चतुर्वर्षः पञ्चवर्षो वा कर्मण्यः पूर्णप्रमाणः ॥

वार्ता १५ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

हुए तथा मूंग अथवा उदं का पुलाक बनाकर दो द्रोण परिमाण में खाने को देना चाहिए ।^१ घृत, तेल एक प्रस्थ, लवण पांच पल, मांस पचास पल, रस (दूध) एक आढ़क, दही दो आढ़क उस अन्न को गीला करने को होना चाहिए । गुड़ पांच पल, सुरा एक प्रस्थ, दूध दो प्रस्थ मध्याह्नोत्तर में प्रत्येक उत्तम अश्व को पीने को मिलना चाहिए ।^२ लम्बे मार्ग के भार से थके हुए अश्व को भोजन के निमित्त एक प्रस्थ घृत तथा अनुवासन (औषधि—युक्त रस) और नस्य कर्म (नाक में डालने) के निमित्त एक कुडुव घृत, अच्छी हरी घास आधा भार, तृण (साधारण घास) एक भार, तथा छः हाथ अथवा कोलीभर सूखी घास दी जा सकती है ।^३

मध्यम अश्व को इससे पौना और साधारण अश्वके लिए इस से आधा भोजन निर्धारित किया गया है ।^४ रथ में जोड़ा हुआ अथवा घोड़ियों को गर्भधारण कराने में नियुक्त किया हुआ मध्यम अश्व भी हो तो भी उसको उत्तम अश्व के समान ही भोजन मिलना चाहिये ।^५ इस प्रकार साधारण अश्व की परिपाटी है ।^६ घोड़ी अथवा खच्चरियों को उत्तम अश्व से पौना भोजन मिलना उचित है ।^७ बच्चों को इससे आधा ही पर्याप्त होता है ।^८

(इ) स्नान एवं व्याधिशान्ति के साधन—शरदऔर ग्रीष्म ऋतुओं में अश्वों को प्रतिदिन दो बार स्नान कराना चाहिये । स्नान के उपरान्त अश्व को गन्ध और माला भी पहनानी चाहिये । प्रति मास की अमावस्या को भूतबलि और पूर्णमासी को अश्व के कल्याण के निमित्त स्वस्तिवाचन होना चाहिए ।^९ अश्वनि शुक्ल पक्ष की नवमी तिथि को अश्वों का नीरोजनोत्सव करना चाहिये । इसी प्रकार यात्रा के प्रारम्भ, समाप्ति

१—उत्तमाश्वस्य द्विद्रोणं शालित्रीहियवप्रियंगूणामर्धशुक्लमर्धसिद्धं वा

मुद्गमापाणां वा पुलाकः ॥ वार्ता २० अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—स्नेह प्रस्थश्च पंचपलं लवणस्य, मांसं पंचाशत्पलिकं रसस्याढ़कं द्विगुणं वा दध्नः ।

पिण्डक्लेदनार्थः क्षारपंचपलिकः तुरायाः प्रस्थः पयसो वा द्विगुणः प्रतिपानम् ॥

वार्ता २१ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—दीर्घपथभारक्लान्तानां च खादनार्थं स्नेहप्रस्थोऽनुवासनं कुडुवो नस्यकर्मणः ।

यवस्पर्धभारस्तृणस्य द्विगुणः पट्टरलिः परिक्षेपः पुञ्जिलग्राहो वा ॥

वार्ता २२ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—पादावरमेतन्मध्यमावरयोः ॥ वार्ता २३ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—उत्तमसमो रथो वृषश्च मध्यमः ॥ वार्ता २४ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—मध्यम समश्चावरः ॥ वार्ता २५ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—पादहीनं बडवानां पारशमानां च ॥ वार्ता २६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

८—अतोऽर्धं किशोराणां च ॥ वार्ता २७ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

९—द्विरहः स्नानमश्वानां गन्धमाल्यं च दापयेत् ।

कृष्णसधिषु भूतेष्वपि शुक्लेषु स्वस्तिवाचनम् ॥

श्लोक २६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

(१२३)

अथवा व्याधि के अवसर पर उनकी धांति हेतु नीरोजनोत्सव की व्यवस्था करनी चाहिए^१

(ई) अश्वों की चिकित्सा—अर्थशास्त्र के रचनाकाल में पशुचिकित्सा का विशेष प्रबन्ध था । कौटिल्य ने इस विषय में जो संकेत किए हैं वह इस कथन की पुष्टि करते हैं । कौटिल्य रोगी अश्वों की चिकित्सा के लिए राज्य की ओर से चिकित्सक नियुक्त किए जाने चाहिए इस विषय की व्यवस्था देते हैं । वह यह स्पष्ट कहते हैं कि अश्वों के शरीर की हानि एवं वृद्धि, तथा उनके रोग का प्रतिकार और ऋतु के अनुरूप भोजन व्यवस्था का करना चिकित्सकों का कर्तव्य था ।^२ रोगी अश्वों की चिकित्सा करनी चाहिए इस विषय में कौटिल्य इसी प्रसंग में दूसरे स्थल पर यह व्यवस्था देते हैं—अप्रशस्त, अंग-भंग और रोगी अश्वों को उनकी चिकित्सा के निमित्त चिकित्सकों के पास भेजते रहना चाहिए ।^३ इन चिकित्सकों के भोजन की व्यवस्था राज्य की ओर से ही की जाती थी ।^४ कौटिल्य यह स्पष्ट व्यवस्था देते हैं कि रोगी अश्वों की चिकित्सा में बाधक होने पर मनुष्य दण्ड का भागी होता था । उनका कहना है कि चिकित्सा के लिए रोके हुए अश्वों को जोतने वाले व्यक्ति पर बारह पण दण्ड होना चाहिए ।^५ अश्व की चिकित्सा क्रम से विरुद्ध चिकित्सा होने अथवा व्याधि के बढ़ जाने पर चिकित्सा करने पर इस प्रमाद के कारण प्रमादी पर चिकित्सा व्यय से दो गुना दण्ड होना चाहिये ।^६ प्रमाद से रोग बढ़ जाने पर चिकित्सा ठीक हुई तो भी प्रमादी पर उस अश्व के मूल्य के बराबर मूल्य का दण्ड होना चाहिए ।^७

उत्तम, मध्यम और साधारण घोड़ों के लक्षण—कौटिल्य के मतानुसार उत्तम अश्व का मुख बत्तीस अंगुल का होता है । पांच मुख अर्थात् एक सौ साठ अंगुल तक उसकी लम्बाई, बीस अंगुल की जंघा, और अस्सी अंगुल की ऊँचाई बतलाई है ।^८ इससे प्रत्येक स्थान में तीन अंगुल न्यूनता वाला मध्यम और मध्यम से भी तीन

१—नीराजनामाश्वयुजे कारयेन्नवमेऽहनि ।

यात्रादाववसाने वा व्याधौ वा शन्तिकेरतः ॥ श्लोक १७ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

२—अस्वानां चिकित्सकाः शरीरह्रासवृद्धिप्रतीकारमृतुविभक्तं चाहारम् ॥

वार्ता ४६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—अप्रशस्तन्यङ्गव्याधिताश्चावेदयेत् ॥ वार्ता २ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—विधापावक्रमूत्रग्राहकचिकित्सकाः प्रतिस्वादभाजः ॥

वार्ता २६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—चिकित्सकोपरुद्धं वा द्वादशपणो दण्डः ॥ वार्ता ५२ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

६—क्रियामैवउत्सर्गेन व्याधिवृद्धौ प्रतीकारं द्विगुणो दण्डः ॥

वार्ता ५२ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—तदपराधेन वैलोग्ये पत्रमूल्यं दण्डः ॥ वार्ता ५४ अ० ३० अधि० २ अर्थ० ॥

८—द्वात्रिंशदंगुलं मुखमुत्तमाश्वस्य पंचमुखान्यायामो विंशत्यङ्गुला जङ्घं चतुर्जङ्घं

उत्सेधः ॥

वार्ता १६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

अंगुल न्यून कनिष्ठ (साधारण) अश्व होता है ।^१ उत्तम अश्व की मोटायी सौ अंगुल बतलायी गयी है ।^२ अस्सी अंगुल मोटाई मध्यम और चौंसठ अंगुल की मोटाई कनिष्ठ अश्व की मानी गयी है ।^३ इस प्रकार कौटिल्य ने उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ अश्वों के लक्षण संक्षेप में बतलाए हैं ।

अश्वों की दैनिक गति—रथ में जोते जानेवाले अश्वों को छः, नौ और बारह योजन तक ले जाया जा सकता है अर्थात् साधारण अश्व एक दिन में छः योजन, मध्यम अश्व नौ योजन और उत्तम अश्व बारह योजन की यात्रा सुविधापूर्वक कर सकता है । पीठ पर भारवहन करनेवाले अश्वों का मार्ग मान, साढ़ेसात और दस योजन तक माना गया है ।^४ अश्वों की विक्रम, भद्राश्वास और भारवाह्य यह तीन गति मानी गई हैं ।^५ कोई अश्व धीरे-धीरे चलता है, कोई चौकन्ना होकर, कोई कूदकर और कोई पहिले तेज़ और पीछे धीरे-धीरे चलने लगता है । इन सब चालों का नाम धारा है ।^६ कौटिल्य ने अश्वों के प्रशिक्षण हेतु नाना प्रकार की चालों एवं युद्ध, सवारी और खेल-कूद के कार्यों में कुशलतापूर्वक लगाने के निमित्त नाना प्रकार के प्रशिक्षण की शैलियों एवं विधियों का वर्णन किया है । इस वर्णन से विदित होता है कि युद्ध, सवारी तथा खेल-कूद के हेतु अश्वों को प्रशिक्षण किए जाने के लिए विशेष प्रबन्ध किया जाता था ।

युद्ध की दृष्टि से उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ अश्व—कौटिल्य ने देश विशेष की दृष्टि से अश्वों के युद्ध कार्य की उपयोगिता बतलाते हुए उनका वर्गीकरण किया है । उनका ऐसा मत है कि युद्ध के उपयोगी अश्वों में काम्बोज, सैन्ध, आरट्ट, वनायुज देशोत्पन्न अश्व सर्वश्रेष्ठ माने गए हैं ।^७ बाल्हीक, पापेय, सौवीर और तितल देशोत्पन्न अश्व मध्यम माने गए हैं ।^८ इनके अतिरिक्त देशों में उत्पन्न अश्व साधारण माने गए हैं ।^९

१—त्र्यङ्गुलावरं मध्यमावरयोः ॥ वार्ता १७ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—शतांगुलः परिणाहः ॥ वार्ता १८ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—पञ्चभागावरं मध्यमावरयोः ॥ वार्ता १९ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—पश्यन् द्वादशेति योजनान्यध्वा रथ्यानां पञ्चयोजनान्यध्वाष्टमानि दशेति पृष्ठवाह्यानामध्वानामध्वा ॥ वार्ता ४४ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—विक्रमो भद्राश्वासो भारवाह्य इति मार्गाः ॥ वार्ता ४५ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—विक्रमो बलिगत्मुपकण्ठमुपजवो जवश्च धाराः ॥ वार्ता ४६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—प्रयोग्यानामुत्तमाः काम्बोजक सैन्धवारट्टवनायुजाः ॥ वार्ता ३२ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

८—मध्यमा बाल्हीकपापेयसौवीरकतैतलाः ॥ वार्ता ३३ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

९—शेषाः प्रत्यवराः ॥ वार्ता ३४ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

(१२५)

अश्व पालन में संलग्न कर्मचारी वर्ग—अश्व पालन कार्य को विधिवत संपादित करने के लिए अनेक पुरुषों की आवश्यकता पड़ती थी। इसलिए राज्य की ओर से अनेक कर्मचारी नियुक्त किए जाते थे। इन कर्मचारियों को राज्य की ओर उनकी योग्यता एवं कार्यक्षमता के अनुसार वेतन मिलते थे। इन कर्मचारियों में कुछ कर्मचारियों का उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है—सूत्र-ग्राहक (रस्सी पकड़कर अश्वों को टहलानेवाले), अश्व-बन्धक (अश्वों को बाँधने वाले), यावसिक (घास लाने वाले), विद्यापाचक (अश्वों के लिए अन्न पकानेवाले), स्थानपाल (अश्वशाला को साफ करनेवाले), केशकार (बालों को छाटने वाले), तथा जाङ्गलीविद (जङ्गली जड़ी-बूटियों का ज्ञान रखनेवाले) और चिकित्सकों को अपने-अपने कामों से अश्वों की सेवा करनी चाहिए।^१

कर्तव्य-पालन में प्रमाद करने पर इन कर्मचारियों को दण्ड की व्यवस्था दी गयी है। कौटिल्य इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—इन कर्मचारियों में जो कर्मचारी जिस दिन अपना काम न करे उसका उस दिन का वेतन काट लेना चाहिए।^२ इसी प्रकार रोगी अश्व की चिकित्सा में असावधानी अथवा प्रमाद करने पर कर्मचारी दण्ड का भागी बतलाया गया है।^३

इस प्रकार कौटिल्य ने अश्वपालन कार्य की उपयोगिता एवं उसके महत्त्व तथा उसकी समुचित व्यवस्था का विशेष वर्णन अर्थशास्त्र में दिया है।

हस्ति-पालन

हाथियों की उपयोगिता—प्राचीन भारत में जब कि रणस्थल में नर-संहार के आधुनिक साधनों का अविष्कार न हुआ था इस कार्य के लिए हाथी बड़ा उपयोगी पशु समझा जाता था। यही कारण है कि उस युग में राजाओं की सेना का एक प्रमुख अङ्ग हस्ति-सेना मानी गयी थी। कौटिल्य हस्ति-सेना के रखने के विशेष पोषक हैं। उनका मत है कि राजाओं की विजय हस्ति सेना के आश्रित होती है।^४ हाथी ही शत्रु की सेना, शत्रु के व्यूह, दुर्ग स्कन्धावार (छावनी) का नाश करने में कुशल होते हैं क्योंकि इनके शरीर बड़े विशाल होते हैं। जितना शीघ्र हाथी मनुष्यों के प्राण हर लेने में समर्थ होते हैं उतना शीघ्र अन्य कोई भी प्राणी प्राणहरण करने में समर्थ नहीं

१—सूत्रग्राहकाश्वबन्धकयावसिकविद्यापाचकस्थानपालकेशकारजाङ्गलीविदश्चस्वकर्मभिरश्वानाराधयेयुः ॥ वार्ता ५० अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

अश्वानां चिकित्सकाः ॥ वार्ता ४६ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—कर्मातिक्रमे चैषां दिवसवेतनच्छेदनं कुर्यात् ॥५१ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—चिकित्सकोपहृद् वा द्वादशपणोदण्डः ॥ वार्ता ५२ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

क्रियाभेदज्यसंगेन व्याधिवृद्धौ प्रतिकारद्विगुणो दण्डः ॥

वार्ता ५३ अ० ३० अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—हस्तिप्रधानो हि विजयो राज्ञाम् ॥ वार्ता १४ अध्याय २ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

है।^१ इसी दृष्टि से कौटिल्य ने राज्य का एक मुख्य विभाग हस्ति-पालन विभाग के संघटन एवं उसके संचालन किए जाने की व्यवस्था दी है। हस्ति-पालन विभाग की देख-रेख के निमित्त कौटिल्य ने एक अध्यक्ष की नियुक्ति का आदेश दिया है। इस अध्यक्ष को वह हस्त्यध्यक्ष के नाम से सम्बोधित करते हैं।

यूनानी राजदूत मेगस्थनीज ने भी भारतीय नरेशों की हस्ति सेना के महत्त्व के गुण गाए हैं। उन्होंने लिखा है हाथी अतिशीघ्र पराजय को विजय में परिवर्तित करने में समर्थ होते हैं।

हस्त्यध्यक्ष का कर्तव्य—राज्य के हस्ति-विभाग का सबसे बड़ा पदाधिकारी हस्त्यध्यक्ष होता था। उसकी नियुक्ति राज्य की ओर से होती थी और उसका पद राज्य में बड़े महत्त्व का पद समझा जाता था। हस्त्यध्यक्ष के कर्तव्यों का कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में संकेत रूप में उल्लेख किया है। राज्य के हस्तिवन की रक्षा करना, शिक्षा के ग्रहण करने में समर्थ हाथी, हथिनी और उनके युवा बच्चों को शाला, स्थान (Open places), शयन-स्थान, प्रशिक्षण के स्थान, उनकी खाद्यसामग्री के स्थान, और उनके भोजन-छादन की मात्रा के अनुसार व्यवस्था करना हस्त्यध्यक्ष का विशेष कर्तव्य बतलाया गया है। हाथियों के बाँधने की रस्सी, सांकल आदि तथा संग्राम के उपयोगी अलंकार, गज-चिकित्सकों, सेना तथा हस्तिशाला में हाथियों की सेवा हेतु सेवकों आदि की व्यवस्था करना इस अध्यक्ष का कर्तव्य बतलाया गया है। हस्त्यध्यक्ष को स्वयं इन समस्त विषयों का अनुभवी व्यक्ति होना चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है।^२

अन्य कर्मचारी—हस्तिपालन कार्य महान कार्य माना गया है। एक मात्र हस्त्यध्यक्ष द्वारा इतना महान कार्य सम्पादित होना सम्भव नहीं। इसलिए उसकी सहायता हेतु उसके अधीन अनेक कर्मचारियों की नियुक्ति की व्यवस्था की गयी है। इन कर्मचारियों की नियुक्ति राज्य की ओर से होती थी और उनको हस्त्यध्यक्ष के अधीन रहकर हास्तिपालन कार्य के सम्पादन में सहयोग देना होता था। कौटिल्य ने कर्मचारियों में कुछ विशेष कर्मचारियों के नाम भी दिए हैं जो इस प्रकार हैं चिकित्सक प्रशिक्षक, आरोहक (गजारोही), हाथियों के शरीर को साफ रखनेवाले, हथिवान (हस्तिपालक), उपचार करनेवाले, भोजन पकानेवाले, हथीघास, गन्ना आदि लानेवाले, पैर में संकल अथवा रस्सी डालकर उनको खूंटों आदि से बाँधनेवाले, गजशाला का

१-परानीकध्यूहदुर्गस्कन्धावारप्रमर्दनाह्यतिप्रमाणशरीरः प्राणहरकर्माणा हस्तिन इति॥

वार्ता १५ अ० २ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२-हस्त्यध्यक्षो हस्तिवनरत्नां दम्यकर्मज्ञानानां हस्तिहस्तिनीकलभानां शालास्थान-
शय्याकर्मविधाप्रवसप्रमाणं कर्मस्वायोगं बन्धनोपकरणं संप्रामिकमलंकारचिकि-
त्सकानीकस्थोपस्थयुक्त्वर्गं चानुतिष्ठेत् ॥ वार्ता १ अ० ३१ अधि ५ अर्थशास्त्रः॥

रक्षक, शयनशाला का रक्षक आदि हाथियों की सेवा करनेवाले कर्मचारियों की गणना की गयी है ।^१

इन कर्मचारियों को निर्धारित वेतन और भत्ता राज्य की ओर से मिलते थे । इन कर्मचारियों में से कुछ कर्मचारियों के भत्तों का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि चिकित्सक, कुटी-रक्षक और हाथियों के लिए अन्न पकानेवाले कर्मचारियों को (राज्य के कोष्ठागार से) प्रतिदिन एक प्रस्थ चावल, एक अंजली तेल अथवा घृत, दो पल गुड़ और इतना ही लवण प्रति व्ययित के अनुसार भत्ता मिलना चाहिए ।^२ चिकित्सकों के अतिरिक्त अन्य कर्मचारियों (कुटी-रक्षक, अन्नपाचकों) को दस-दस पल मांस भी मिलना चाहिए ।^३

कर्मचारियों को दण्ड-विधान—हस्तिपालन कार्य में नियुक्त कर्मचारियों को उनके कर्तव्य के विधिवत न पालन किए जाने पर उनको दण्ड भी मिलना चाहिए ऐसा कौटिल्य ने आदेश दिया है । यदि कर्तव्य के विधिवत न पालन करनेवाले कर्मचारियों को अदण्डित छोड़ दिया जाएगा तो अव्यवस्था उत्पन्न हो जाएगी और जिसका परिणाम राज्य के लिए अत्यन्त हानिकर होगा । इसीलिए कौटिल्य ने इस अव्यवस्था के रोकने के लिए इस प्रकार व्यवस्था दी है—हाथियों के रहने के स्थान को स्वच्छ न रखने, हरी घास एवं हरे गन्ने आदि को निर्धारित समय पर न लाने, हाथियों को कठोर भूमि पर एवं उनके लिए बिना भूमि की शय्या बनाए हुए उन्हें सुलाने, मर्मस्थलों पर चोट मार देने, अनधिकारी को हाथी पर चढ़ा देने, असमय पर हाथियों की सवारी लेने, कुस्थान और कुतीर्थ (जल प्रदेश) में हाथियों को उतार देने, पेड़ों के झुण्डों में हाथियों को ले जाने आदि से तत्सम्बन्धी कर्मचारियों को दण्ड का भागी बताते हैं ।^४ यह दण्ड इन कर्मचारियों के वेतन एवं भत्ते से कटौती करने के रूप में हो सकते हैं ।^५ इस प्रकार कौटिल्य ने इन कर्मचारियों को उनके कर्तव्यों के विधिवत न पालन करने के निमित्त आर्थिक दण्ड का विधान किया है ।

हाथियों के मुख्य प्रकार—हाथियों के कर्म-भेद से कौटिल्य उनको मुख्य चार वर्गों में परिगणित करते हैं । उनका कहना है कि दम्भ्य, सांताह्य, औपवाह्य और व्याल

१—चिकित्सकानीकस्थारोहकाधोरणहस्तिपक्षौपचारिकविधापाचकपावसिकपाद-
पाशिककुटीरक्षकौपशायिकादिरौपस्थायिक वर्ग ॥

वार्ता २० अ० ३२ अधि० २ अर्थ० ॥

२—चिकित्सककुटीरक्षविधापाचकाः प्रस्थोदनं स्नेहप्रसृतिं क्षारलवणयोश्च द्विपलिकं
हरेयुः ॥

वार्ता २१ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—दशपलं मांसस्यान्यत्र चिकित्सकेभ्यः ॥ वार्ता २२ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—स्थानस्याशुद्धिर्वसस्याग्रहणं स्थले शयनमभागे घातः परारोहणकाले यानम-
भूमावतीर्थेष्वतारणं तत्पण्ड इत्ययमस्थानानि ॥

वार्ता २४ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—उमेषां भक्तवेतनादाददीत ॥ वार्ता २५ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

यह हाथियों के चार भेद होते हैं ।^१ वह हाथी जो सरलता से पाल बनाए जा सकते हैं उनको कौटिल्यने दम्य नाम से सम्बोधित किया है । जो हाथी युद्ध के लिए प्रशिक्षित किए जाने योग्य होते हैं वह सांनाह्य, जो सवारी के काम में लाए जाने के योग्य हों वह औपवाह्य और जो दुष्ट हाथी अपनी इच्छानुसार काम करनेवाले होते हैं उनको कौटिल्य ने व्याल नाम से सम्बोधित किया है । इनमें दम्य प्रकार के हाथियों के पांच भेद बतलाए गए हैं और जो स्कन्धगत, स्तम्भगत, वारिगत, अवपातगत और यूथगत हैं ।^२ दम्य सरलता से पाल बनाए जा सकते हैं । दम्य हाथियों में जो हाथी अपने स्कन्ध पर सवारी दे दे उस दम्य हाथी को स्कन्धगत हाथी बतलाया गया है । जो दम्य हाथी स्तम्भ पर दांधने को सहन कर लेता है उस हाथी को स्तम्भगत नाम दिया गया है । हाथियों के पकड़ने के स्थान में जो हाथी सरलता से पहुँच जाए वह वारिगत कहलाता है । हाथियों के पकड़ने के गड्ढों पर जो हाथी मुनिधापूर्वक ले जाए जा सकें वह हाथी अवपातगत कहलाते हैं और जो हाथियों के यूथ में घूमते हैं वह हाथी यूथगत कहलाते हैं । इन समस्त हाथियों की शिक्षा वच्चे हाथी की भाँति बड़ी सावधानी के साथ होनी चाहिए ।^३ इसी प्रकार सांनाह्य, औपवाह्य और व्याल प्रकार के हाथियों के भी अलग-अलग भेद कौटिल्य ने बतलाए हैं ।

उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ हाथी—कौटिल्य के मतानुसार सात हाथ ऊँचा, नौ हाथ लम्बा, दस हाथ मोटा और चालीस वर्ष की आयुवाला हाथी सर्वश्रेष्ठ होता है ।^४ तीस वर्ष का मध्यम^५ और पचास वर्ष का हाथी कनिष्ठ होता है ।^६

इसके अतिरिक्त विशेष देश में उत्पन्न होने के कारण भी हाथियों को उत्तम, मध्यम एवं कनिष्ठ श्रेणियों में विभक्त किया गया है । कौटिल्य ने कलिङ्ग, अङ्ग और कारुश देशोत्पन्न हाथी सर्वश्रेष्ठ माने हैं । दशार्ण और अपरान्त देश में उत्पन्न हुए हाथी मध्यम श्रेणी के हाथी माने हैं । सोराष्ट्र पञ्चजन आदि देशों में उत्पन्न हाथी कनिष्ठ होते हैं ।^७

१—कर्मस्कन्धाः चत्वारो दम्यः सांनाह्य औपवाह्यो व्यालश्च ॥

वार्ता १ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२ स्कन्धगतः स्तम्भगतो वारिगतोऽवपातगतो यूथगतश्चेति ॥

वार्ता २ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—तस्योपविचारो विक्रमं

॥ वार्ता ४ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—ससारनिर्गुप्तेधोनवायामो दशपरिणाहः प्रमाणतश्चत्वारिंशद्वर्षो भवत्युत्तमः ॥

वार्ता ६ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—त्रिंशद्वर्षो मध्यमः

॥ वार्ता १० अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

६—पञ्चविंशतिवर्षोऽवरः

॥ वार्ता ११ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—कलिङ्गाङ्गजाः श्रेष्ठा, प्रचाराश्चेति कारुशजाः ।

दशार्णाश्चापरान्ताश्च द्विपानां मध्यमा मताः ॥ श्लोक १६ अ० २ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

सोराष्ट्रिकाः पाञ्चजनाः तेषां प्रथमराः स्मृताः ॥

श्लोक १७ अ० २ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

हस्तिशाला—हाथियों के निवास के निमित्त हस्तिशाला का निर्माण होना चाहिए। प्रत्येक हाथीके लिए हाथी की लम्बाई और चौड़ाई की दोगुनी लम्बी, चौड़ी और ऊँची हस्तिशाला होनी चाहिए। हाथी के बाँधने का स्थान इससे ओर भी बड़ा होना चाहिए। इस हस्तिशाला में सुन्दर वरामरा होना चाहिए। इस हस्तिशाला में हाथियों के बाँधने के खूँटे बड़े सुचारु विधि से होने चाहिए। इस शाला का प्रधान द्वार उत्तर अथवा पूर्व की ओर होना चाहिए।^१ हाथी की लम्बाई-चौड़ाई के अनुसार चौकोर, चिकना एक गजबन्धन का स्थान होना चाहिए। इसी स्थान के सामने तख्ते से ढका हुआ मूत्र और पुरीष का स्थान बनवाना चाहिए।^२ इसी स्थान के समान ही सुन्दर शयन-स्थान होना चाहिए जिसकी चौड़ाई साढ़े चार हाथ होनी चाहिए। युद्ध के उपयोगी अथवा रथ में जोते जानेवाले हाथियों की शाला दुर्ग के भीतर होनी चाहिए और युवक हाथी तथा उत्तम हाथियों के रहने का स्थान दुर्ग से बाहर होना चाहिए।^३

हाथी की दिनचर्या—दिन के आठ भागों में प्रथम और सातवां भाग हाथी के दो बार स्नान कराने का होना चाहिए। इसके अनन्तर हाथी को पका हुआ भोजन उसके खाने के निमित्त दिया जाना चाहिए। दोपहर से पूर्व ही हाथी को व्यायाम करानी उचित होगी। दोपहर के उपरान्त हाथी को कुछ पीने को मिलना चाहिए।^४ रात्रि के तीन भागों में दो भाग हाथी के सोने के हैं और एक भाग लेटने उठने में व्यतीत होना चाहिए।^५

हाथियों का भोजन—पूरे सात हाथ के ऊँचे हाथी को एक द्रोण चावल, आधा आड़क तेल, तीन प्रस्थ घी, दस पल नमक, पचास पल मांस, शुष्क दाने भिगोने के लिए एक आड़क मांस आदि का रस, इससे दो गुना, दो आड़क, दही, दस पल गुड़ एक आड़क मद्य, दो आड़क दूध, शरीर में लगाने को एक प्रस्थ तेल, सर में लगाने और रात में दीपक जलाने के लिए आधा-आधा कड़ुव तेल पृथक्-पृथक् होना चाहिए। गन्ने आदि हरित-भोजन को सवा दो भार, सूखी घास साढ़े तीन भार तथा पत्ते आदि का कोई

१—हस्त्यायामद्विगुणोत्सेधविष्कम्भाग्रामां हस्तिनीस्थानाधिकानां सप्रग्रोवां कुमारीसंग्रहां प्राङ्मुखीमुदङ्मुखीं वा शालां निवेशयेत् ॥ वार्ता २ अ० ३१ अधि० २ अर्थ० ॥

२—हस्त्यायामचतुरश्रश्चक्षुषालानस्तम्भफनकान्तरकं सूत्रपुरीषोत्सर्गस्थानं निवेशयेत् ॥ वार्ता ३ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—स्थानसमशय्यामर्धापाश्र्यां दुर्गं सांनाह्योपवाह्यानां वहिर्दम्प्रवालयानाम् ॥ वार्ता ४ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—प्रथमसप्तमावष्टमभागावह्नः स्नानकालौ तदनन्तरं विधायाः पूर्वाह्णे व्यायाम-कालः पश्चाह्नः प्रतिपानकालः ॥ वार्ता ५ अ० ३१ अधि० ३ अर्थशास्त्र ॥

५—रात्रिभागौ द्वौ स्वप्नकालौ त्रिभागः सवेशनोत्थानकः ॥ वार्ता ६ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

नियम नहीं, यह आवश्यकतानुसार दिए जा सकते हैं ।^१ आठ हाथ ऊँचे हाथी का भी सात हाथ ऊँचे हाथी के भोजन के समान ही भोजन होना चाहिए ।^२ छः हाथ और पाँच हाथ के हाथी को एक चौथाई कम करके भोजन देना चाहिए ।^३ बिक्र (दूध पीनेवाला बच्चा हाथी) को दूध और हरी घास भोजन के लिए देना उचित होगा ।^४

हाथियों का पकड़ना—ग्रीष्म ऋतु में हाथी पकड़े जा सकते हैं । बीस वर्ष की आयुवाले हाथी पकड़ने योग्य माने गए हैं ।^५ बिक्र, मूड़, मत्कुग (दाँत रहित), व्याधित, गर्भिणी और दूध पिलानेवाली हथिनियों के पकड़ने का कौटिल्य ने निषेध किया है ।^६

हाथियों के दाँत काटने का समय—हाथी के दाँत के मूल में जितनी मोटाई हो उससे दो गुना भाग छोड़कर दाँत काट लेना चाहिए । जो हाथी नदी प्रान्त के हों, उनके ढाई और जो पर्वत प्रान्त के हों उनके पाँच साल में दाँत काटने चाहिए ।^७

उत्सव—ऋतुसन्धियों में हाथियों के उत्सव किए जाने चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है । इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—चार-चार महीनों की ऋतुसन्धियों में हाथियों के तीन निराजनोत्सव कराने चाहिए । प्रति अमावस्या को भूतों को बलि और प्रति पूर्णिमा को स्कन्द की पूजा करनी चाहिए । ऐसा करने से हाथियों का कल्याण होगा ।^८

१—अरन्नौ तण्डुलद्रोणोऽर्धाढकं तैलस्य सपिपस्त्रयः प्रस्थाः दशपलं लवणस्य मांसं पंचाशत्पलिकं रसस्याढकं द्विगुणं वा दध्नः पिएङ्कलेदनार्थं चारं दशपलिकं मद्यस्य आढकं द्विगुणं वा पयसः प्रतिपानं गात्रावसेकरतैलप्रस्थः शिरसोऽष्टभागः प्रादोपिक्श्च यवसस्य द्वौभारौ सपादौ शण्यस्य शुष्कस्यार्धतृतोभारः कडङ्करस्याः निग्रमः ॥
वार्ता १३ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—सप्तारत्नलिना तुल्यभोजनो ऽष्टारत्निरत्यरालः ॥

वार्ता १४ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—यथाहस्तमवशेषः पडरतिः पञ्चारत्नश्च ॥

वार्ता १५ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

४—क्षीरयावतिको बिक्रः कीडार्थं ग्राह्यः ॥ वार्ता १६ अ० ३१ अधि० २ अर्थ० ।

५—ग्रीष्मेग्रहणकालः विंशति वर्षो ग्राह्यः ॥ वार्ता ७ अ० ३१ अधि० २ अर्थ० ॥

६—बिक्रो मूड़ो मत्कुणो व्याधितो गर्भिणी धेनुका हस्तिनी चाग्राह्याः ॥

वार्ता ८ अ० ३१ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

७—दन्तमूलपरीणाहद्विगुणं प्रोऽभ्य कल्पयेत् ।

अब्दे द्वौ नदीजनानां पञ्चाब्दे पर्वतौकसाम् ॥

श्लोक २७ अ० ३२ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

८—तिष्ठो नीराजनाः कार्याश्चातुर्मास्यस्तु सन्धिषु ।

भूतानां कृष्णसन्धीष्याः सेनान्यः शुक्लसन्धिषु ॥

श्लोक २६ अ० ३२ अधि० २ अर्थ० ॥

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के लिए हाथियों की उपयोगिता बतलाते हुए उनके पालन-पोषण एवं प्रशिक्षण पर महत्व दिया है।

सुरा-उद्योग

सुरा-उद्योग पर राज्य-नियंत्रण की आवश्यकता—सुरापान मनुष्य को मते-वाला बनाता है। सुरा के मद के प्रभाव में आकर मनुष्य में उचित अथवा अनुचित का विवेक नहीं रहता। सुरापान से मनुष्य की जो दुर्दशा हो जाती है उसका संश्लेष में कौटिल्य ने इस प्रकार वर्णन किया है—सुरापान से कर्मचारी अपने कार्य में भूल कर सकते हैं, उत्तम पुरुष भी अपनी मर्यादा को छोड़ देते हैं और तीक्ष्ण प्रकृति के उद्धत मनुष्य शास्त्रों का अनुचित प्रयोग कर बैठते हैं।^१ सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रेरित होकर कौटिल्य ने सुरा-उद्योग को राज्य के स्वामित्व एवं राज्य के नियंत्रण (State Ownership and State Control) के अन्तर्गत रखने के सिद्धान्त की पुष्टि की है। कौटिल्य ने इसीलिए उन व्यक्तियों को जिनको सुरा बनाने, उसके क्रय-विक्रय करने तथा उसके पान का अधिकार राज्य से प्राप्त नहीं है सुरा बनाने, उसके क्रय-विक्रय तथा उसके पान करने का निषेध किया है। इस नियम के अतिक्रमण करनेवाले व्यक्ति को कौटिल्य ने दण्ड विधान किया है। इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—जिन व्यक्तियों को सुरा बनाने और उसके क्रय-विक्रय का अधिकार है उनके अतिरिक्त जो व्यक्ति सुरा बनाता अथवा उसका क्रय विक्रय करता है उस पर छः सौ (पण) दण्ड होना चाहिए।^२

सुरा के अनेक प्रकार—सुरा का जो वर्णन अर्थशास्त्र में दिया हुआ है उसके अवलोकन करने से ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र के रचनाकाल में सुरा के निर्माण में पर्याप्त विकास हो चुका था। सुरा अनेक प्रकार की होती थी और इनका प्रयोग भी अनेक उद्देश्यों से होता था। कुछ सुरा विदेशों से भी मंगायी जाती थी। इनमें कापिशा और हारहूर नगरों से जो सुरा भारत को भेजी जाती थी यहाँ के लोगों को वह अधिक रुचिकर बतलायी गयी है।^३

सुरा मुख्य छः प्रकार की बतलायी गयी हैं। कौटिल्य ने मेदक, प्रसन्ना, आसव, अरिष्ट, मैरेय और मधु सुरा के छः भेद बतलाए हैं।^४ भिन्न प्रकार की सुरा किस प्रकार बनायी जा सकती है इस विषय का भी कौटिल्य ने संक्षिप्त वर्णन किया है।

१—प्रमादभयात्कर्मसु निर्दिष्टानां मर्यादातिक्रमभयादाद्याणासुराहभयाच्च

तीक्ष्णानाम् ॥

वार्ता ३ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—पटृद्धतमत्ययमन्यत्रकर्तृक्रेतविक्रेतणां स्थापयेत् ॥

वार्ता २ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—तस्य स्वदेशो व्याख्यानं कापिशापनं हारहूरकमिति ॥

वार्ता २५ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—मेदकप्रसन्नासवारिष्टमैरेयमधूनाम्

॥ वार्ता १७ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

सुरा के निर्माण एवं उसके क्रय-विक्रय की व्यवस्था—सुरा-उद्योग के संघ-
ठन एवं संचालन की व्यवस्था करने के निमित्त राज्य की ओर से एक विशेष कर्मचारी
होना चाहिए। कौटिल्य ने इस विशेष कर्मचारी को सुराध्यक्ष के नाम से सम्बोधित
किया है। सुराध्यक्ष के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए उन्होंने अर्थशास्त्र में लिखा है कि
सुराध्यक्ष को सुरा के निर्माण एवं उसके विक्रय की व्यवस्था दुर्ग, राष्ट्र और स्कन्धा-
वार में करनी चाहिए। सुराध्यक्ष को सुरानिर्माण कार्य उन पुरुषों से कराना चाहिए
जिनको सुरा बनाने का अनुभव है।^१ सुरा के उपयोग की आवश्यकतानुसार सुरा के
निर्माण एवं उसके क्रय-विक्रय हेतु उसके केन्द्रीकरण अथवा विकेन्द्रीकरण की व्यवस्था
होनी चाहिए।^२

सुरा के निर्माण करने अथवा उसके त्रय-विक्रय करने के लिए राज्य से आज्ञा
प्राप्त करना अनिवार्य बतलाया गया है। कौटिल्य ने उस व्यक्ति को छः सौ पण का
दण्ड-विधान किया है जो राज्य की ओर से बिना आज्ञा प्राप्त किए हुए सुरा बनाता है
अथवा उसका व्यापार करता है।^३ बिना राजाज्ञा प्राप्त किए हुए एक स्थान से दूसरे
स्थान को सुरा का ले जाने का निषेध किया गया है। सुरा की दूकानें एक दूसरे के
समीप में स्थित नहीं होनी चाहिए।^४ सुरा राजकीय दूकानों पर ही बेची जानी चाहिए।
राजकीय दूकानों से सुरा न लेकर अन्यत्र सुरा के क्रय करनेवाले व्यक्ति को शुल्क देनी
पड़ती थी।^५ कौटिल्य पवित्र आचरणवाले पुरुषों के हाथ ही सुरा का बेचा जाना
उचित समझते हैं और वह भी अल्पमात्रा में। इस विषय में उन्होंने यह व्यवस्था दी है—
राजकीय मुद्रा से युक्त कुडुव, अर्ध कुडुव, चौथायी कुडुव आधा प्रस्थ अथवा एक प्रस्थ
सुरा पवित्र आचरणवाला पुरुष क्रय कर सकता है और अपने साथ ले जा सकता है।^६
उत्तम सुरा को कम मूल्य पर बेचने का निषेध किया गया है। कौटिल्य का कहना है
कि मूल्य से कम पर उत्तम सुरा को बेचना नहीं चाहिए परन्तु दुष्ट सुरा को कम मूल्य
पर बेचने में कोई हानि नहीं है।^७ उत्तम और दुष्ट सुरा की विक्री एक ही स्थान

१—सुराध्यक्षः सुराकिण्वव्यवहारान्दुर्गजनपदे स्कन्धावारे वा तज्जातसुराकिण्व
व्यवहारिभिः वारयेत् ॥ वार्ता १ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—एकमुखमनेकमुखं वा विक्रयक्रयवशेन वा ॥ वार्ता १ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—पट्टद्वयमन्यत्र कर्तृक्रेतविक्रेतयां स्थापयेत् ॥

वार्ता २ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—ग्रामादनिर्णयनमसंपातं च सुरायाः ॥ वार्ता ३ अ० २५ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

५—अराजपण्याः शतं शुबलं दद्युः ॥ वार्ता ३६ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

६—लक्षितमूल्यं वा चतुर्भागमर्धकुडुवकुडुवमर्धप्रस्थं प्रस्थवोत ज्ञातशौचानिर्हरेयुः ॥

वार्ता ४ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

७—न चानर्घेण कालिकां वा सुरां दद्यादन्यत्र दुष्टसुरायाः ॥

वार्ता ८ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

(दूकान) पर नहीं होनी चाहिए । उनकी दूकाने पृथक-पृथक होनी चाहिए ।^१ सुरा के उत्पादन करनेवाले कर्मकारों अथवा दासों को उनके वेतन के बदले में दुष्ट सुरा दी जा सकती है ।^२ बाहनों के पालन करने और शूकरों के पोषण में भी दुष्ट सुरा का उपयोग किया जा सकता है—ऐसा कौटिल्य का मत है ।^३

गृहस्थी लोगों को, विशेष अवसरों पर श्वेत सुरा के रोग निवारण हेतु अरिष्ट, तथा अन्य प्रकार की सुरा निर्माण का अधिकार दे दिया जाना चाहिए ।^४ उत्सव, समाज अथवा देवयात्रा के अवसरों पर चार दिन के लिए सुरा निर्माण करने का अधिकार दे दिया जाना चाहिए,^५ और इस प्रकार जिन गृहस्थी लोगों को सुरा के निर्माण की आज्ञा दी जाए उनसे शुल्क (Licence fee) प्राप्त कर लेनी चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है ।^६

सुरापान पर नियंत्रण—राज्य में पानालयों के निर्माण किए जाने की व्यवस्था दी गयी है । सुरापान करनेवाले लोगों को इन पानालयों में ही सुरा-पान करने का अधिकार होना चाहिए । कौटिल्य ने इस विषय में यह व्यवस्था दी है—सुरापान करनेवालों को पानालयों में ही सुरापान करना चाहिए और जबतक सुरा के मद का प्रभाव उनपर बना रहे तबतक उनको पानालयों में ही रहना चाहिए ।^७ पानागारों में दुराचारी व्यक्तियों को सुविधापूर्वक पहचाना जा सकता है और उनको उनके दुष्ट आचरण के लिए दण्ड भी सुविधापूर्वक दिया जा सकता है । इसलिए कौटिल्य ने इस विषय में यह व्यवस्था दी है—निक्षेप, (धरोहर), उपनिधि (गिरवी माल), प्रयोग (अमानत) चोरी तथा अन्य अनुचित उपायों से संचित किए हुए द्रव्य को लोग प्रायः सुरापान में व्यय किया करते हैं । ऐसे लोगों का पता लगाने के लिए पानालय उचित स्थान है । इसी प्रकार स्वामी से रहित कुप्य तथा सुवर्ण को देखकर पानालय के बाहर पकड़वा देना चाहिए ।^८ जो पुरुष अपनी सामर्थ्य से बाहर व्यय करता हो अथवा

१—तामन्यत्र विक्रापयेत् ॥ वार्ता ६ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—दास कर्मकरेभ्यो वा वेतनं दद्यात् ॥ वार्ता १० अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—बाहनप्रतिपानं सूकर पोषणं वा दद्यात् ॥ वार्ता ११ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—कुटुम्बिनः कृत्येषु श्वेतसुरासौपथार्थं वारिष्टमन्यद्वा कर्तुं लभेरन् ॥
वार्ता ३५ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

५—उत्सवसमाजयात्रासु चतुरहः सौरिको देयः ॥
वार्ता ३६ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

६—तेष्वननुज्ञातानां प्रहवणान्तं दैवसिकमन्ययं गृह्णीयात् ॥
वार्ता ३७ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

७—पानागारेषु वा पिबेयुरसंचारिणः ॥ वार्ता ५ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

८—निक्षेपोपनिधिप्रयोगापहृतादीनामनिष्टोपगतानां च द्रव्याणां ज्ञानार्थं स्वामिकं कुप्यं हिरण्यं चोपलभ्य निक्षेप्तारमन्यत्र व्यपदेशेन ग्राहयेत् ॥
वार्ता ६ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

अपनी आय से अधिक व्यय करता हो ऐसे पुरुष का भी पानालय में पता लग जाता है। इस प्रकार के व्यक्तियों को भी पानालय के बाहर पकड़वा देना चाहिए।^१ इन पानालयों में राज्य की ओर से गुप्तचर नियत होने चाहिए। इन गुप्तचरों को पानालय में सुरापान करने के कारण उन्मत्त लोगों के अलङ्कार, वस्त्र, और नकदी आदि की निगरानी करते रहना चाहिए जिसको कोई दूसरा उनको न ले सके।^२ अपने देश और बाहर के आए हुए पुरुषों पर व्यय होनेवाली सुरा का पृथक्-पृथक् पता रखना भी उनका कर्तव्य बतलाया गया है।^३ यदि किसी शराबी का कोई अलंकार अथवा द्रव्य चोरी चला जाए तो सुरा बेचनेवाले को उतना ही धन दण्ड रूप में देना पड़ेगा।^४

इन पानालयों में भोग की सामग्री होनी चाहिए जिससे पानालय में पहुँचकर लोग आनन्द प्रमोद कर सकें। इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार की व्यवस्था उचित समझते हैं—पानालयों में अनेक कक्ष्या (कोठरियाँ) होनी चाहिए। उनमें बैठने, लेटने और सोने आदि के आसन एवं शय्या का प्रबन्ध होना चाहिए। सुरापान के जो स्थान हों वहाँ की प्रत्येक वस्तु सुखदायी, गन्ध, माल्य और जल से सम्पन्न होनी चाहिए।^५ इन पानालयों में मनुष्यों के रमण हेतु सुन्दर दासियों का भी प्रबन्ध होना चाहिए। परन्तु यह कार्य गुप्त रीति से होना चाहिए। सुरा बेचनेवाले लोगों को पानालय में आए हुए लोगों के गुप्त भावों का इन दासियों के द्वारा पता लगाते रहना चाहिए।^६

इस प्रकार कौटिल्य ने सुरा उद्योग के संघटन एवं उसके संचालन की व्यवस्था राज्य के स्वामित्व एवं उसके नियंत्रण में की है।

मांस की प्राप्ति और उसके व्यापार की व्यवस्था—अर्थशास्त्र के रचनाकाल में भारतीय जनता में एक वर्ग ऐसा अवश्य था जिसके भोजन में मांस को भी स्थान मिलता था। इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने बैल, अश्व और हाथी आदि पशुओं के लिए भी उनके भोजन में मांस को भी सम्मिलित किया है। इसलिए इन मनुष्यों एवं पशुओं के भोजन के निमित्त शुद्ध मांस की प्राप्ति के साधन एवं मांस के व्यापार पर राज्य का नियंत्रण होना आवश्यक समझा गया था। शुद्ध मांस की प्राप्ति के साधन एवं मांस

१—अतिव्ययकर्तारमनार्थातिव्ययं च ॥ वार्ता ७ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—क्रेतृणां मत्तसुप्तानामलंकाराच्छादनदिरण्यनि च विद्युः ॥

वार्ता १४ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—तत्रस्थाः प्रकृत्योत्पत्तौ व्ययौ गृह्य विद्युरागतृश्च ॥

वार्ता १३ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तन्नाशे वणिजस्तच्च दण्डं दद्युः ॥ वार्ता १५ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

५—पानागारायनेककक्ष्याणि विभक्तशयनासनवन्ति पानोद्देशानि गन्ध माल्योदक-
वन्द्यन्तु सुरवाजिभारयेत् ॥ वार्ता १२ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

६—वणिजस्तु संवृतेषु कक्ष्याविभागेषु स्वदासीभिः पेशजरूपाभिरागन्तूनां वास्तव्यानां
चार्यरूपाणां मत्तसुप्तानां भावं विद्युः ॥ वार्ता १६ अ० २५ अधि० २ अर्थ० ॥

के व्यापार की जिस व्यवस्था का प्रतिपादन कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है उसका वर्णन यहां किया जाएगा ।

पशु-वध स्थान—मांस की प्राप्ति के निमित्त पशु-वध राज्य की ओर से नियत किये गए स्थानों पर ही किया जाना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का आदेश है । पशु वध के इन स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर पशु-वध करने पर जो मांस प्राप्त हो उसके व्यापार किये जाने का निषेध किया गया है ।^१ इस कथन से विदित होता है कि राजकीय पशु-वध-स्थान पर जिन पशुओं का वध किया जाता होगा उनके मांस अथवा खालादि पर एक विशेष चिन्ह लगाया जाता होगा जिससे यह स्पष्ट ज्ञात होता होगा कि यह मांस उस पशु का है जिस का वध राजकीय पशुवध-स्थान पर हुआ है । राजकीय पशुवध-स्थान को कौटिल्य ने सूना-स्थान के नाम से सम्बोधित किया है ।

सूनाध्यक्ष—मांस के व्यापार के संघठन एवं उसके संचालन के निमित्त राज्य की ओर से एक विशेष राजकर्मचारी की नियुक्ति का प्रतिपादन कौटिल्य ने किया है । अवध्य पशुओं की रक्षा करना, वध्य पशुओं का नियमानुसार वध होना, एवं पशुओं के व्यापार की व्यवस्था करना आदि कार्यों का विधिवत सम्पादन कराना सूनाध्यक्ष का प्रमुख कर्तव्य बतलाया गया है ।

अवध्य-पशु—कौटिल्य इस पक्ष में नहीं हैं कि प्रत्येक पशु का मांस भोजन के लिए उपयोग में लाया जाए और इसलिए सब पशुवध्य समझे जाने चाहिए । मनुष्य के लिए जो पशु उनके जीवन में सहायक होते हैं और इस दृष्टि से उपयोगी हैं उनको कौटिल्य ने अवध्य घोषित किया है । इन पशुओं में बछियां एवं बछड़े, वृष और धेनु मुख्य हैं ।^२ इन पशुओं के वध करनेवाले को पचास पण का दण्ड होना चाहिए ।^३

कुछ पशु एवं पक्षी उनकी उपयोगिता अथवा सौन्दर्य अथवा अलौकिकता के कारण अवध्य माने गए थे । इनमें से कुछ पशुओं को अवध्य घोषित करते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—समुद्र में उत्पन्न होने वाले हाथी, अश्व पुरुष, वृष और गन्धर्व की आकृति वाले मत्स्य, नदी पर उत्पन्न सारस, जल कुत्तुकुट, कौंच, कुररी, एक प्रकार की कोयल, हंस, चक्रवाक, जीवजीवक, भृङ्गराज, चकोर, मत्तकोकिल, मोर, तोता, मदन, सारिका आदि क्रीड़ायोग्य पक्षी तथा अन्य सुन्दर पक्षी तथा मृग आदि अन्य जन्तु हिंसा योग्य नहीं हैं । हिंसक जन्तुओं से इनकी रक्षा होनी चाहिए ।^४ इन पशु अथवा पक्षियों की रक्षा करने

१—परिसूनमशिरः × × × × × न विक्रीणारन् ॥

वार्ता १६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—वत्सो वृषो धेनुश्चैषामवध्याः ॥

वार्ता १३ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—धनतः पञ्चाशत्को दण्डः ॥

वार्ता १४ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—सामुद्रहस्तप्रश्व पुरुषवृषपर्दभाकृतयो मत्स्यः सारसा नादेयास्तटाककुल्योद्भववा-
वाक्रोक्षोत्क्रोशकदाल्यूह हंसचक्रवाक जीवजीवकभृङ्गराजचकोरमत्त कोकिलमयूर
शुकमदनसारिका विहारपक्षिणो मङ्गल्यारचान्येऽपि प्राणिनः पक्षिमृगा
हिंसावाधेभ्यो रचयाः ॥

वार्ता ८ अ० २६ अधि० २ अर्थ०

में यदि सूनाध्यक्ष प्रमाद करता है तो उसको प्रथम साहस दण्ड मिलना चाहिए ।^१
तपोवन निवासी पशुओं के वध का भी निषेध किया गया है । इस विषय में
कोटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—राज्य की ओर से जिन पशुओं को अवध
घोषित किया जा चुका है तथा तपोवन निवासी मृग, पशु, पक्षी और मछलियों के पकड़ने-
वाले अथवा वध करनेवाले को उत्तम साहस दण्ड देना चाहिए ।^२ इस प्रकार के
स्थानों पर यदि गृहस्थ लोग पशु पकड़े तो उनको मध्यम साहस दण्ड मिलना चाहिए ।^३
दुष्ट पशु, मृग, हाथी, अभयचारी मत्स्य आदि यदि यह सुरक्षित वनों से अन्यत्र हों तो
पकड़े या मारे जा सकते हैं ।^४

मांस के व्यापार के कतिपय नियम—मांस का व्यापार राज्य के नियंत्रण में
होता था । इस नियंत्रण को कार्यरूप में परिणत करने के लिए सूनाध्यक्ष नाम का राज्य
का एक पदाधिकारी रहता था जिसकी देख-रेख में मांस का व्यापार किया जाता था ।
मांस के व्यापार सम्बन्धी कतिपय नियम अर्थशास्त्र में दिए गए हैं जिनके अनुसार मांस का
क्रय-विक्रय होता था । हड्डी रहित और ताजा मांस ही बेचा जाना चाहिए ।^५ यदि
हड्डी सहित मांस, मांस के किसी व्यापारी ने बेचा है तो उस व्यापारी को उस हड्डी के
बराबर और मांस देना चाहिए ।^६ यदि तौल में कम किया जाए तो कम दिए हुए
मांस से आठ गुना मांस, मांस बेचनेवाले को देना पड़ेगा ।^७ सूत-स्थान (steaughter
house) से अन्यत्र मारे हुए पशु का मांस तथा शिर, पैर और अस्थिहीन मांस,
दुर्गन्ध पूर्ण मांस, स्वयं मरे हुए पशु के मांस के बेचने का निषेध किया गया है ।^८
इस नियम के उल्लंघन करनेवाले को वारह पण दण्ड होना उचित होगा ।^९ इस प्रकार
कोटिल्य ने पशुवध और उनके मांस के व्यापार को राज्य के नियंत्रण में रखा है ।

१—रक्षातिक्रमे पूर्वः साहसदण्डः ॥ वार्ता ६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—सूनाध्यक्षः प्रदिष्टभयानामभयवनवासिनां च मृगपशुपक्षि मत्स्यानां बन्ध-
वधहिंसायामुत्तमं दण्डं कारयेत् ॥ वार्ता ६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—कुटुम्बिनामभयवनपरिग्रहेषु मध्यमम् ॥ वार्ता २ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—दुष्टाः पशु मृगान्याला मत्स्याश्चाभयचारिणः ।

अन्यत्र गुप्तिस्थानेभ्यो बधबन्धमवाप्नुयुः ॥

श्लोक १८ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—मृगपशूनामतस्यमांसं सद्योहतं विक्रीणीरन् ॥

वार्ता १० अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—अस्थिमत्तः प्रतिपातं दधुः ॥

वार्ता ११ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

७—तुला हीने हीनाष्टगुणम् ॥

वार्ता १२ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

८—परिसूनमशिरः पादास्थि विगन्धं स्वयं मृतम् च न विक्रीणीरन् ॥

वार्ता १६ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

९—अन्यथा द्वादशपणो दण्डः ॥

वार्ता १७ अ० २६ अधि० २ अर्थ० ॥

गणिका-वृत्ति-व्यवसाय

गणिका की आवश्यकता — मनुष्य जीवन में सरसता लाने के लिए विनोद के प्रचुर साधन होने चाहिए। कठोर परिश्रम के उपरान्त मनुष्य को उसके श्रम के प्रभाव को दूर करने के लिए विनोद की सामग्री होना आवश्यक है। सुन्दर स्त्री द्वारा नृत्य, गान, एवं हास-परिहास भी इस विषय में प्रमुख स्थान रखता है। उत्सव, मेला, देवयात्रा, लीलाएँ, नाटक आदि भी मनुष्य जीवन में सरसता लाने में सहायक सिद्ध होते हैं। इन अवसरों पर नृत्य, गान एवं हास-परिहास में निपुण सुन्दर स्त्री मनुष्य के मनोरंजन का प्रमुख साधन होती है।

राजा के लिए गणिका की उपयोगिता दूसरी दृष्टि से भी मानी गयी है। राज्य में अनेक दुष्ट पुरुष होते हैं जो राज्य में गुप्त रीति से विधन-बाधाएं उपस्थित करते रहते हैं। राजा के शत्रु भी आने गुप्तचरों के द्वारा राज्य के विधन-कारी क्रिया-चक्रों में गुप्त रीति से प्रोत्साहन देते रहते हैं। शत्रु के इन गुप्तचरों एवं राज्य के दुष्ट पुरुषों के कुभावों को जानने के लिए उन्हें उन्मत्त कर उनके गुप्तभावों को जानने के लिए सुन्दर गणिका सफल साधन समझी गयी है। कौटिल्य ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि की है। इस विषय में वह यह व्यवस्था देते हैं—चेष्टा, संकेत आदि से सारा भाव जान लेनेवाली तथा प्रत्येक देश की भाषा में पटु इन स्त्रियों (गणिका वृत्तिधारी) को उनके बन्धु-बान्धवों की आज्ञा से शत्रु राजा के चरों और दुष्ट पुरुषों की कुचेष्टाओं को जानने एवं उनको प्रमादित करने के निमित्त कार्य में लाना चाहिए।^१

सम्भवतः इन्हीं विचारों से प्रभावित होकर कौटिल्य ने गणिका-वृत्ति-व्यवसाय के स्थापित किए जाने की व्यवस्था दी है। गणिका की आवश्यकता के साथ ही उन्होंने यह भी अनुभव किया कि इस व्यवसाय के स्थापित हो जाने से मनुष्य इसका दुर्हण-योग न करने पाए अथवा भोला-भाला मनुष्य गणिका द्वारा छला न जाने पाए, गणिका-वृत्ति-व्यवसाय राज्य नियंत्रण के अन्तर्गत संचालित होना चाहिए।

गणिकाध्यक्ष—गणिका-वृत्ति-व्यवसाय का संघठन एवं संचालन राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत रखने के लिए कौटिल्य एक विशेष राजकर्मचारी की नियुक्ति की व्यवस्था देते हैं। वह यह आदेश देते हैं कि इसी राजकर्मचारी की देख-रेख में गणिका-वृत्ति-व्यवसाय नियमानुसार संचालित होना चाहिए। इस राजकर्मचारी को कौटिल्य गणिकाध्यक्ष नामसे सम्बोधित करते हैं। गणिकाध्यक्ष का एक प्रमुख कर्तव्य यह बतलाया गया है कि उसको इस विषय का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए कि राज्य में कितनी स्त्रियाँ ऐसी हैं जो गणिका-वृत्ति धारण किए हुए हैं, कितने ऐसे मनुष्य हैं जो इन स्त्रियों के घर पर भोग की कामना से जाते हैं, कितने ऐसे पुरुष हैं जिनके घरों पर गणिका स्वयं जाती हैं अथवा कितने ऐसे मनुष्य हैं जिनके घरों पर गणिका स्थायी रूप से रहती हैं।

१—संज्ञा भाषान्तरज्ञाश्च स्त्रियस्तेषामनात्मसु ।

चारघातप्रमादार्थं प्रयोज्या बन्धुवाहनाः ॥ श्लोक ४३अ० २७अधि० २अर्थ० ॥

यह लोग अपने घर अथवा गणिकाओं के घर गणिकाओं के विषय में कितना धन प्रति-दिन व्यय करते हैं और वह धन उनको कहां से प्राप्त होता है इत्यादि । गणिकाध्यक्ष को इन समस्त विषयों को प्रतिदिन निबन्धपुस्तक (Register) में लेखबद्ध करते रहना चाहिए ।^१ जो मनुष्य गणिका पर अधिक धन व्यय करते हों उनको अधिक व्यय करने से रोकना भी इस अध्यक्ष का कर्तव्य बतलाया गया है ।^२ इसके अतिरिक्त गणिका-वृत्ति-व्यवसाय के विधिवत संचालन हेतु राज्य की ओर से जिन नियमों का निर्माण किया जाए उन नियमों का उसी रूप में लागू करना एवं इन नियमों के भंग करनेवालों को समुचित दण्ड दिलाना भी इसी राजकर्मचारी का कर्तव्य बतलाया गया है ।

गणिका—गणिका वृत्तिधारण करनेवाली स्त्रियां दो प्रकार की बतलायी गयी हैं । प्रथम प्रकार की वह स्त्रियां जो गणिका वंश में उत्पन्न होने के कारण गणिका-वृत्ति को ग्रहण करती थी । दूसरी प्रकार की वह स्त्रियां बतलायी गयी हैं जो गणिका वंश में तो उत्पन्न नहीं हुई हैं परन्तु परिस्थितिवश उन्होंने गणिका-वृत्ति धारण करना अंगीकार किया है ।^३ गणिका का मूल्य उसके सौन्दर्य एवं अलंकारों आदि की विशेषता पर माना गया है । इस दृष्टि से कौटिल्य ने गणिकाओं को तीन श्रेणियों में विभक्त किया है और जिनको उन्होंने उत्तम, मध्यम और कनिष्ठ नाम से सम्बोधित किया है ।^४ गणिका की शुल्क भी इसी दृष्टि से निर्धारित की गयी है । उत्तम गणिका की शुल्क मध्यम और कनिष्ठ गणिका से और मध्यम गणिका की शुल्क कनिष्ठ गणिका से अधिक बतलायी गयी है ।

कुछ गणिकाएं राज्य के कार्य सम्पादन हेतु नियत थी । इनको राज्य की ओर से वेतन दिया जाता था । कौटिल्य ने इस प्रकार की गणिकाओं के वेतन पर काफी उल्लेख किया है । कौटिल्य के मतानुसार युवती और गान-कला में निपुण गणिका को एक सहस्र पण तक प्रति मास वेतन दिया जा सकता था ।^५ उसकी सहायक गणिका को भी उसके कुटुम्ब पालन हेतु उसका आधा वेतन दिया जाना चाहिए ।^६

गणिका की रक्षा—उन स्त्रियों की रक्षा राज्य की ओर से होनी चाहिए जिन्होंने राज्य में गणिका वृत्ति-व्यवसाय को अङ्गीकार किया है—ऐसा कौटिल्य का मत

१—भोगं दापभाशं वपयसायति च गणिकायाः निबन्धयेत् ॥

वार्ता १४ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

२—अतिव्ययकर्म च वारयेत् ॥

वार्ता १५ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

३—गणिकान्वयामगणिकान्वया वा

वार्ता १ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

४—सौभाग्यालंकारवृद्धया सहस्रेण वारं कनिष्ठं मध्यममुत्तमं वा रोपयेत् ॥

वार्ता ६ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

५—रूपयौवनशिल्पसम्पन्नां सहस्रेण गणिकां कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

६—कुटुम्बाधेन प्रतिगणिकाम् ॥

वार्ता २ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

है। इसीलिए उन्होंने कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं और जो इस प्रकार हैं—यदि कोई पुरुष कामना रहित किसी गणिका पर बलात्कार करे अथवा कुमारी कन्या (गणिका पुत्री) के साथ व्यभिचार करे तो उस पुरुष पर उत्तम साहस दण्ड होना चाहिए।^१ यदि कोई पुरुष सकामा स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो उसको मध्यम साहस दण्ड दिया जाना चाहिए।^२ जो पुरुष न रहनेवाली गणिका को बलपूर्वक रोक रखता है अथवा उसको मुक्त नहीं होने देता तथा नाक-कान आदि काटकर उसको कुरूप बनाता है उस पुरुष पर एक हजार पण दण्ड होना चाहिए।^३ गणिका के मर्म स्थानों की विशेषता से (विशेष मर्म स्थान पर आघात किया है) इस दण्ड में भी वृद्धि की जा सकती है। वह एक हजार पण से लेकर गणिका के निष्क्रिय दण्ड से दो गुना (२४ हजार से तीन गुना) तक आर्थिक दण्ड दिया जा सकता है।^४ जो पुरुष राजकीय-अधिकार-प्राप्त गणिका का वध कर देता है उस पर निष्क्रिय दण्ड का तीन गुना (७२ हजार पण) दण्ड हो सकता है।^५ गणिका की माता, पुत्री अथवा उसकी रूपवती दासी पर आघात करने पर उत्तम दण्ड होना चाहिए।^६ इन समस्त विषयों में अपराध बार-बार करने पर उसके लिए दण्ड भी उसी मात्रा में बढ़ता जाएगा। प्रथम बार अपराध करने पर निर्धारित दण्ड मिलना चाहिए।^७ द्वितीय बार किसी अपराध के करने पर निर्धारित दण्ड से दो गुना दण्ड दिया जाना चाहिए।^८ उसी अपराध के तीसरी बार करने से तीन गुना दण्ड दिया जाना चाहिए।^९ उसी अपराध के चतुर्थ बार करने पर राजा को अधिकार है कि वह जितना दण्ड उचित समझे दे।^{१०} गणिका के आभूषण, धन या भोगधन (भोग शुल्क) को जो पुरुष नहीं देता उस पर आठगुना दण्ड होना चाहिए।^{११}

गणिका के कुव्यवहार पर नियंत्रण—गणिका-वृत्ति-व्यवसाय-धारी स्त्रियों

-
- १—अकामायाः कुमार्या वा साहसे उत्तमोदण्डः ॥ वार्ता २१ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- २—सकामायाः पूर्वः साहसदण्डः ॥ वार्ता २२ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ३—गणिकामकामां रुन्धतो निष्पातयो वा व्रणविदारणेन वा रूपमुध्नतः सहस्र दण्डः ॥ वार्ता २३ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ४—स्थानविशेषेण वा दण्डवृद्धिरानिष्क्रियद्विगुणात्पणसहस्रं वा दण्डः ॥ वार्ता २४ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ५—प्राप्ताधिकारां गणिकां घातयतो निष्क्रियत्रिगुणो दण्डः ॥ वार्ता २५ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ६—मातृकापुत्रिणिरुपदासीनां घात उत्तमः साहसदण्डः ॥ वार्ता २६ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ७—सर्वत्र प्रथमेऽपराधे प्रथमः ॥ वार्ता २७ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ८—द्वितीये द्विगुणः ॥ वार्ता २८ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ९—तृतीये त्रिगुणः ॥ वार्ता २९ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- १०—चतुर्थेऽथाकामी स्रात् ॥ वार्ता ३० अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥
- ११—गणिकाभरणार्थं भोगं वापहरतोऽष्टगुणो दण्डः ॥ वार्ता ३६ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

की रक्षा राज्य की ओर से की जाती थी। उनके शरीर अथवा व्यवसाय पर क्षति पहुँचानेवाले को राज्य दण्ड देता था। परन्तु इस ओर भी राज्य को सजग रहने की आवश्यकता समझी गयी थी कि गणिका-वृत्ति-धारण करनेवाली स्त्रियों का भी व्यवहार उचित होना चाहिए। इसलिए कौटिल्य ने इन स्त्रियों के कुव्यवहार को रोकने के लिए कतिपय व्यवस्थाएँ दी हैं जिनके राज्य द्वारा अपनाने से मनुष्य की गणिका के कुव्यवहारों से रक्षा की जा सकती थी। इन व्यवस्थाओं में से कुछ व्यवस्थाएँ इस प्रकार हैं—यदि राजा की आज्ञा किसी गणिका को हुई कि उसको अमुक पुरुष के पास भोग के निमित्त जाना चाहिए, परन्तु गणिका उस पुरुष के पास जाने का निषेध करती है तो ऐसी गणिका पर एक सहस्र कोड़े^१ अथवा पाँच सहस्र पण का दण्ड होना चाहिए।^२ भोग की शुल्क प्राप्त करने के उपरान्त यदि गणिका उस पुरुष से द्वेष करती है तो ऐसी गणिका पर शुल्क का दो गुना दण्ड होना चाहिए।^३ रात भर के लिए भोग-शुल्क लेकर यदि गणिका किसी पुरुष को धोका देकर टरका देती है तो उस गणिका पर उस शुल्क का अठगुना दण्ड होना चाहिए। परन्तु यदि गणिका अचानक रोग-ग्रस्त हो गयी अथवा पुरुष अपने पुंस्त्व के अभाव के कारण भोग न कर सका तो वह गणिका दण्ड की भागी न होगी।^४ यदि कोई गणिका अपने घर पर आए हुए किसी धनी व्यक्ति का वध करा दे तो उस गणिका को उसी पुरुष की चिता में उस मृत पुरुष के साथ ही जला दिया जाना चाहिए अथवा जल में डिबोकर मार दिया जाए।^५ गणिका-वृत्ति धारण करनेवाली स्त्रियों को अपनी मासिक आय में से दो दिन की आय राजकोष के लिए देना चाहिए।^६ गणिका को अपने भोगधन (भोग-शुल्क) तथा अन्य प्रकार से प्राप्त आय एवं उसके घर पर भोगार्थ आने वाले पुरुषों की सूचना गणिका-ध्यक्ष के पास भेजते रहना चाहिए।^७

नट, नर्तक, गायक, वादक आदि—मनुष्य जीवन को सरस बनाने के लिए गणिका के अतिरिक्त और भी कतिपय लोगों का भी उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इनमें नट, नर्तक, गायक, वादक, वाग्जीवक (कहानी द्वारा जीविका कमाने वाले),

१—राजाज्ञया पुरुषमनभिगच्छन्ती गणिका शिफा सहस्रं हरेत्

वार्ता ३१ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

२—पञ्चसहस्रं वा दण्डः ॥

वार्ता ३२ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

३—भोगं गृहीत्वा द्विपत्या भोगद्विगुणो दण्डः ॥

वार्ता ३३ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

४—वसतिभोगापहारे भोगमष्टगुणं दद्यादन्यत्र व्याधि पुरुषदेहेभ्यः ॥

वार्ता ३४ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

५—पुरुषं धन्याश्चिताप्रतापोऽप्सु प्रवेशनं वा ॥ वार्ता ३५ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

६—रूपाजीवा भोगद्विगुणं मासं दद्यात् ॥ वार्ता ४० अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

७—गणिका भोगमायति पुरुषं च निवेदयेत् ॥ वार्ता ३७ अ० २७ अधि० २ अर्थ० ॥

कुशीलव (भांड आदि), प्लवक (रस्सी पर खेल दिखाने वाले), सौमिक (जादूगर), चारण, तथा स्त्रियों के द्वारा अपनी जीविका कमानेवाले पुरुषों की स्त्रियाँ तथा गुप्त व्यभिचार करनेवाली स्त्रियाँ विशेष बतलायी गयी हैं। इनके व्यवसाय एवं व्यवहार पर भी राज्य का नियंत्रण रहना चाहिए और यह नियंत्रण गणिका के व्यवसाय एवं व्यवहार पर राज्य-नियंत्रण के समान ही नियंत्रण होना चाहिए—ऐसा कौटिल्य ने आदेश दिया है।^१ इन व्यवसायियों में जो व्यवसायी दूसरे देशों से आकर अपने कार्य दिखाए तो उनको पांच पण प्रेक्षाशुल्क के रूप में देना चाहिए।^२

गणिका, गणिका का पुत्र एवं नट, नर्तक, वादक आदि की शिक्षा—गणिका, गणिकापुत्र एवं नट, नर्तक, वादक आदि व्यवसायियों में कुछ व्यवसायीगण राज्य के हितकामना के कार्यों में लगाए जाते थे। इनके द्वारा अपने राज्य एवं पर-राज्य की प्रजा के गुप्त भावों का पता लगाया जाता था। शत्रु राजाओं की कुचेष्टाओं एवं अपने राज्य की विरोधी जनता की कुचेष्टाओं का गुप्तरिति से पता लगाकर राजा के समक्ष निवेदन करने में यह लोग विशेष कुशल माने गये हैं। इसलिए इनकी उचित शिक्षा का प्रबन्ध भी राज्य की ओर से होना चाहिए जिससे यह व्यवसायीगण अपने कर्तव्य का पालन विधिवत करने में समर्थ रहें। कौटिल्य ने भी इस सिद्धान्त की पुष्टि करते हुए यह व्यवस्था दी है कि जो लोग इन व्यवसायिकों उनके व्यवसाय के अनुरूप गाना, बजाना, नाचना, अभिनय करना, पढ़ना, लिखना, चित्रकारी करना, वीणा और मृदंग आदि बजाना, दूसरे के चित्त को पहचानना, गन्ध, माला गूथना, पैरदवाना, वेश-भूषा तथा अन्य कलाओं के ज्ञान आदि की शिक्षा देनेवाले हैं उन की वृत्ति का प्रबन्ध राजा को राजकोष से करना चाहिए।^३ इस प्रकार इनकी शिक्षा का भार राज्य पर निर्भर था। गणिका पुत्रों को रङ्गमंच से जीविका करनेवालों में प्रधान माना गया है। गानविद्या के जितने स्थान हों इनमें सर्वप्रथम गणिका पुत्रों का ही स्थान होना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है।^४

इस प्रकार गणिका, गणिकापुत्र एवं नट, नर्तक, वादक आदि व्यवसायों के व्यवसाय पर राज्य का पूर्ण नियंत्रण होना चाहिए इस सिद्धान्त की स्थापना कौटिल्य ने की है।

१—एतेन नटनर्तकगायकवादकवाग्जीवनकुशीलवप्लवकसौमिकचारणानां स्त्रीव्यव-
हारिणां स्त्रियो गूढाजीवाश्च व्याख्याताः ॥वार्ता ३८ अधि० २ अर्थ० ॥

२—तेषां तूर्यमागन्तुकं पञ्चपणं प्रेक्षावेतमं दद्यात् ॥

वार्ता ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—गीतावाद्यपाठ्यमृत्तनाटयाक्षरचित्रवीणावेणुमृदङ्ग परचित्तज्ञानगन्धमाल्यसंयु-
हनसंपादनसंवाहनवैशिककलाज्ञानानि गणिका दासी रङ्गोपजीविनाश्च ग्राह्यतो
राजमण्डलादाजीवं कुर्यात् ॥ वार्ता ४१ अधि० २ अर्थ० ॥

४—गणिकापुत्रान् रङ्गोपजीविनश्च मुख्यान्निष्पादयेयुः सर्वतालावचाराणां च ॥

वार्ता ४२ अधि० २ अर्थ० ॥

नवम अध्याय

कोप

कोप की उपयोगिता—भारतीय परम्परा के अनुसार मनुष्य जीवन का परम उद्देश्य मोक्ष-प्राप्ति है। मोक्ष को परमपुरुषार्थ के नाम से भी सम्बोधित किया गया है। इस परमपुरुषार्थ की प्राप्ति के लिए त्रिवर्ग की व्यवस्था की गयी है। धर्म, अर्थ और काम मनुष्य के तीन पुरुषार्थ माने गए हैं। इन तीनों का संयुक्त नाम त्रिवर्ग बतलाया गया है। इन तीनों में पारस्परिक गहन सम्बन्ध है। मनुष्य को इनका सेवन इनके पारस्परिक सामंजस्य स्थापित करते हुए ही करना चाहिए।^१ जो व्यक्ति इन तीनों में किसी एक का अति सेवन करने लगता है और दूसरों की उपेक्षा करता है वह अपना तथा धर्म, अर्थ और काम का भी नाश कर लेता है।^२ त्रिवर्ग व्यवस्था की विधिवत स्थापना के लिए कौटिल्य अर्थ की सर्व प्रथम आवश्यकता बतलाते हैं। उनका मत है कि संसार में अर्थ ही मुख्य पदार्थ है।^३ धर्म और काम दोनों अर्थ के ही आश्रित रहते हैं।^४ इसलिए त्रिवर्ग की समुचित स्थापना के लिए अर्थ की परम आवश्यकता मानी गयी है। जब यह अर्थ राज्य-संचालन हेतु संचित कर राज्य के अधीन संग्रहीत किया जाता है कोप कहलाता है। राज्य-संचालन हेतु कोप की उपयोगिता एवं आवश्यकता सर्वोपरि मानी गयी है।^५ कौटिल्य ने इसीलिए, राज्य के समस्त कार्यों का आधार कोप ही माना है।^६ कोप के द्वारा ही राजा को सेना की प्राप्ति होती है कोप को भूषित करनेवाली भूमि की प्राप्ति कोप और सेना के द्वारा ही होती है।^७ इसलिए राजा को कोप का चिन्तन सर्वप्रथम करना चाहिए।^८

कोप विभाग के मुख्य कर्मचारी—कोप के संचय, उसकी वृद्धि, उसकी रक्षा तथा उसके सदुपयोग आदि के निमित्त कतिपय राजकर्मचारियों की आवश्यकता

१—समं वा त्रिवर्गमन्योन्यं पुबन्धम् ॥ वार्ता ८ अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

२—एकोऽस्त्यसेवितो धर्मार्थकामानामात्मानमितरौ च पीडयति ॥

३—अर्थ एव प्रधान इति कौटिल्यः ॥ वार्ता ६ अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

४—अर्थं मूलौ हि धर्मं कामाविति ॥ वार्ता १० अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

५—सर्वद्वयप्रयोजकत्वात्कोपव्यसनं गरीय इति ॥ वार्ता ११ अ० ७ अधि० १ अर्थ० ॥

६—कोपपूर्वाः सर्वारम्भाः ॥ वार्ता १२ अ० १ अधि० ८ अर्थ० ॥

७—आक्रमप्रभवः कोपः कोपादण्डः प्रजायते ।

पृथिवी कोपदण्डाभ्यां प्राप्यते कोपभूषणा ॥ श्लोक ४६ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

८—तस्मात्पूर्वं कोपमवेक्षेत ॥ वार्ता २ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

होती है। कौटिल्य ने अर्थशास्त्र के अन्तर्गत इन राजकर्मचारियों में कुछ का उल्लेख किया है। कौटिल्य द्वारा दिए गए इस वर्णन के आधार पर इन राजकर्मचारियों का संक्षिप्त परिचय यहां दिया जाएगा।

समाहर्ता—कोप-संचय से सम्बन्धित कार्य के सम्पादन हेतु सबसे प्रधान अधिकारी की नियुक्ति की जानी चाहिए। इस अधिकारी को कौटिल्य समाहर्ता के नाम से सम्बोधित करते हैं। समाहर्ता सम्पूर्ण राज्य की प्रजा से राजांश के संचय का पूर्ण उत्तरदायी होता था। इसके अतिरिक्त समाहर्ता को अपने अधीन राजकर्मचारियों की सहायता से राज्य की जनगणना, पशुगणना, लोगों की आय, व्यय, व्यापार, कारोबार आदि के आंकड़ों के रखने की व्यवस्था करना था। समाहर्ता के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए कौटिल्य इस प्रकार उल्लेख करते हैं। समाहर्ता को समस्त जनपद को चार भागों में विभक्त करना चाहिए। इसके उपरान्त इन चार भागों में स्थित ग्रामों को ज्येष्ठ, मध्यम और कनिष्ठ इन तीन श्रेणियों में परिगणित कर देना चाहिए, तत्पश्चात् इनमें स्थित ग्रामों को इन श्रेणियों में परिगणित कर उनका अंकन निबन्धपुस्तक में कर देना चाहिए। वह ग्राम जो राजकर से मुक्त हैं; वह ग्राम जो राज्य की सेना के लिए योद्धा भेजते हैं; जो कर के बदले में अन्न, पशु, सुवर्ण, अथवा कुप्य देते हैं; और वह ग्राम जो विष्टि (Free Labour) और दुग्ध-घृत आदि कर के रूप में राज्य को प्रदान करते हैं।^१ ग्रामों की सीमा निर्धारित कर, कृषि योग्य क्षेत्र, कृषि के अनुपयुक्त भूमि, ऊंची भूमि, धानों के खेत, वगीचे, शाकभाजी के खेत, वाड़े, वन, वास्तु, चैत्य, देवगृह, जलाशय, इमशान, सदावर्त, प्याऊ, पुण्य स्थान, चरागाह, और रथ आदि के मार्गों के सहित खेत तथा इसी क्रम से उनकी सीमा, उनकी मर्यादा, वन, वन के मार्गों के प्रमाण, सम्प्रदान, विक्रय, अनुग्रह, परिहार आदि सब स्त विषयों को समाहर्ता को निबन्ध-पुस्तक में लेखबद्ध करते रहना चाहिए।^२ ग्राम के कर देने वाले और कर से मुक्त घरों की संख्या का भी उल्लेख निबन्धपुस्तक में होना चाहिए।^३ समाहर्ता को प्रत्येक ग्राम के निवासी, चारों वर्णों की सम्पूर्ण संख्या मात्र का ही उल्लेख निबन्धपुस्तक में नहीं करना चाहिए अपितु इतने किसान, ग्वाले, व्यापारी, शिल्पी, कर्मक (Free Labour) और सेवा वृत्ति करनेवाले लोग घास में रहते हैं और इतने द्विपद पशु,

१—समाहर्ता चतुर्धा जनपदं विभज्य ज्येष्ठमध्यकनिष्ठभागान् ग्रामान् परिहारः

कमायुधीयं धान्यपशुहिरण्यकुम्भविष्टिकरप्रतिकरमिदंमेतावदिति निबन्धयेत् ॥

वार्ता १ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—सीमावरोधेन ग्रामान् कृष्टाकृष्टस्थलकेदारारामण्डवाटवनवारतुचैर्यदेवगृहसेतु-
वन्धरमशानसत्रप्रपापुण्यस्थानविवीतपथिसंख्येनेन क्षेत्राग्रं तेन सीमां क्षेत्राणां
च मर्यादारण्यपथिप्रमाणसंप्रदानविक्रयानुग्रहपरिहारनिबन्धान्कारयेत् ॥

वार्ता ३ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—गृहाणान्न करदाकरदसंख्यानेन ॥

वार्ता ४ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

चतुष्पद पशु हैं। प्रत्येक घर से इतना सोना, इतनी बेगार, इतना दण्ड रूप में कर प्राप्त होता है—इन समस्त विषयों का अंकन समाहर्ता को निबन्धपुस्तक में करते रहना चाहिए।^१ समाहर्ता को प्रत्येक कुल (family) के स्त्री, पुरुष, बालक, वृद्धों की संख्या, उनके कार्य, उनके चरित्र, अजीबिका, व्यय का परिमाण आदि का भी ज्ञान होना चाहिए।^२ समाहर्ता को गुप्तचर रखने का अधिकार प्राप्त था। इन गुप्तचरों के द्वारा वह जनपद के ग्रामों के निवासियों आदि के विषय में पूर्ण परिचय पूर्व से ही प्राप्त करता रहता था और अपने अधीन राजकर्मचारियों के आचरण एवं व्यवहार की जांच करता रहता था।^३

अर्थशास्त्र के अन्तर्गत दूसरे प्रसंग में समाहर्ता के कर्तव्यों की ओर इस प्रकार संकेत किया गया है—समाहर्ता को दुर्ग, राष्ट्र, आकर, सेतु, वन, गोष्ठ और व्यापार के मार्गों आदि का सर्वदा निरीक्षण करते रहना चाहिए।^४ उसको राजांश का संग्रह करना चाहिए और राजांश के आय, वृद्धि एवं व्यय का हिसाब रखना चाहिए। चतुर समाहर्ता को राज्य की आय की वृद्धि और व्यय की कमी करने की ओर विशेष प्रकार से प्रयत्नशील होना चाहिए।^५

सन्निधाता—अर्थविभाग का एक प्रधान अधिकारी सन्निधाता बतलाया गया है। राज्य के समस्त भण्डारों (Stores) का यह मुख्य अधिकारी होता था। राज्य के कोषगृह, पण्यगृह, कोष्ठागार, कुप्यगृह आयुधागार आदि में जो सामग्री एवं द्रव्य संग्रहीत किए जाते थे वह सब इसी अधिकारी के अधीन रहते थे। कोष, पण्य, बोष्ठागार, कुप्य, आयुधागार के अध्यक्ष सन्निधातृ के अधीन रहते थे। इन समस्त भण्डारों में जो सामग्री अथवा द्रव्य आता था अथवा इनसे बाहर जाता था उस सब का दायित्व इसी अधिकारी पर रहता था। उसको अपने अधीन कोषों की आय-व्यय का पूरा ज्ञान

१—तेषु चैतावच्चातुर्वर्ष्यमेतावन्तः कर्षकगोरक्षकवैदेहककारुकर्मकरदासाश्चैतावच्च

द्विपदचतुष्पदमिदं च हिरण्यविष्टि शुल्कदण्डं समुत्तिष्ठतीति ॥

वार्ता ५ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—कुलानां च स्त्रीपुरुषाणां बालवृद्धकर्मचरित्राजीवव्ययपरिमाणं विद्यात् ॥

वार्ता ६ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—समाहर्तृप्रदिष्टाश्च गृहपतिरव्यञ्जना येषुग्रामेषु प्रणिहितास्तेषां ग्रामाणां

क्षेत्रगृहकुलाग्रं विद्युः ॥

वार्ता ६ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

एवं समाहर्तृप्रदिष्टास्तापसव्यञ्जनाः कर्षकगोरक्षकवैदेहकनामध्यक्षाणां च

शोचासीचं विद्युः ॥

वार्ता १५ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—समाहर्ता दुर्गं राष्ट्रं खनि सेतुं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत ॥

वार्ता १ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—एवं कुप्यस्तिमुदयं वृद्धिं चायस्य दर्शयेत् ।

हासं व्ययस्य च प्राज्ञः साधयेच्चविपर्ययम् ॥ श्लोक २८ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

रहना चाहिए और राजा द्वारा पूछे जाने पर तुरन्त उसकी सूचना राजा को देनी चाहिए।^१ कौटिल्य का मत है कि उसके अधीन जो कोश अथवा भण्डार हों उनके गृहों का निर्माण इसी अधिकारी की देख-रेख में होना चाहिए।^२ सन्निधाता राजधानी में ही राजा की आज्ञा में रहता था। कौटिल्य ने एक प्रसंग में सन्निधाता और समाहर्ता के कर्तव्यों की तुलना करते हुए इस प्रकार विचार प्रकट किए हैं—सन्निधाता अन्य राजकीय कर्मचारियों द्वारा संचय किए गए धन एवं पदार्थों को अपने अधीन कोश में रखता है,^३ परन्तु समाहर्ता इस धन एवं पदार्थों का ग्रहण कर तत्पश्चात् राजा के पास भेजता है।^४ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि सन्निधाता राज्य के समस्त प्रकार के कोशों का अध्यक्ष होता था।

स्थानिक—जो कर्तव्य समस्त जनपद के प्रति समाहर्ता का बतलाया गया है वही कर्तव्य स्थानिक के लिए जनपद के चतुर्थांश के प्रति निर्धारित किया गया है। कौटिल्य के मतानुसार जनपद के चार भाग समाहर्ता को करने चाहिए।^५ प्रत्येक भाग को एक स्थानिक नाम के अधिकारी के अधीन होना चाहिए। इस प्रकार समाहर्ता के अधीन स्थानिक नाम का अधिकारी जनपद के चतुर्थ भाग के राजांश के संचय एवं उसकी वृद्धि तथा रक्षा आदि की व्यवस्था हेतु होता था।

गोप—स्थानिक के अधीन गोप नाम के अधिकारी होते थे। इनकी नियुक्ति समाहर्ता द्वारा की जाती थी। डा० शाम शास्त्री गोप नाम के अधिकारी को ग्राम का हिसाब-किताब रखनेवाला कर्मचारी (Village Accountant) मानते हैं। समाहर्ता के आदेशानुसार एक गोप पाँच अथवा दश ग्रामों का हिसाब (Accounts) रखता था।^६ इस प्रकार जनपद में बहुत से गोप होते थे।

प्रदेष्टा—प्रदेष्टा नाम के विशेष पदाधिकारी होते थे। इनका मुख्य कर्तव्य समाहर्ता के आदेशानुसार स्थानिक और गोपों के कार्यों का निरीक्षण करना और उन को राजांश की प्राप्ति में सहायता देना था। जनता पर जो राजांश अवशेष रह जाता

१—वाह्यमाभ्यन्तरं चायं विद्याद्वर्षं शतादपि ।

यथा पृष्ठो न सज्येत व्ययशेषं च दर्शयेत् ॥ श्लोक २४अ० ५अधि० २अर्थ० ॥

२—सन्निधाता कोशगृहं परगृहं कोष्ठागारं कुप्यगृहमायुधानागरं बन्धनागारं च कारयेत् ॥
वार्ता १ अ० ५ अधि० २ अर्थ० ॥

३—सन्निधाता कृतावस्थमन्यैः कोशप्रवेशं प्रतिगृह्णाति ॥

वार्ता ४७ अ० ४ अधि० ८ अर्थ० ॥

४—समाहर्ता पूर्वमर्थमात्मनः कृत्वा पश्चाद्वाजार्थं करोति ॥

वार्ता ४८ अ० ४ अधि० ८ अर्थ० ॥

५—एवं च जनपदवतुभागं स्थानिकः चिन्वेत् ॥ वार्ता ७अ० ३५अधि० २अर्थ० ॥

६—तत्पदिष्टः पञ्चग्रामी दशग्रामी वा गोपश्चिन्तयेत् ॥

वार्ता २ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

था उसके प्राप्त कराने में यह विशेष सहायता देते थे। इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—प्रदेष्टा नाम के अधिकारी को अपना कार्य करते हुए (निरीक्षण कार्य) भी स्थानिक और गोपों को कर (बलि) प्राप्त करने में सहायता देते रहना चाहिए।^१

अक्षपटलाध्यक्ष—अर्थ विभाग के हिसाब-किताब के मुख्य अधिकारी (Accountant General) को कौटिल्य ने अक्षपटलाध्यक्ष और उसके कार्यालय को अक्षपटल के नाम से सम्बोधित किया है। कौटिल्य के मतानुसार अक्षपटलाध्यक्ष के परामर्श से इस कार्यालय की स्थापना के लिए एक विशाल भवन का निर्माण होना चाहिए। इस भवन का मुख्य द्वार पूर्व अथवा उत्तर की दिशा में होना चाहिए। इस कार्यालय में काम करने वाले विभिन्न कर्मचारियों के पदों के अनुरूप उनके काम करने के लिए छोटे-बड़े अलग-अलग स्थान होने चाहिए। इसी प्रकार इस कार्यालय में निबन्ध-पुस्तकों (Registers) के रखने के स्थान भी यथास्थान पर बनवाने चाहिए।^२ इस प्रकार हिसाब-किताब के प्रधान अधिकारी (Accountant General) के कार्यालय के निर्माण की व्यवस्था अक्षपटलाध्यक्ष के परामर्श से होनी चाहिए।

अक्षपटलाध्यक्ष के कर्तव्यों का वर्णन कौटिल्य ने इस प्रकार किया है—अक्षपटलाध्यक्ष के अधीन कार्यालय में भिन्न-भिन्न अधिकरणों से प्राप्त हुए धन का पूरा-पूरा व्योरा रखना; खानों एवं कारखानों में होने वाले कार्यों में प्रयुक्त द्रव्य की वृद्धि, क्षय, व्यय तथा बिलम्ब से प्राप्त धन, व्याजी, योग, स्थान, वेतन, विष्टि (बेगार) आदि से बचा हुआ धन, रत्न, सार, फल्गु, कुप्य आदि प्रत्येक वस्तु का मूल्य, गुण, तोल, नाप आदि का उल्लेख, देश, ग्राम, जाति और संघों के धर्म, व्यवहार, चरित्र और विशेष परिस्थितियों का उल्लेख, राज-द्वारियों आदि पर व्यय, प्रदेश, भोग, परिहार, भत्ता और वेतन लाभ का उल्लेख; राजपत्नी, राजकुमारों द्वारा प्राप्त रत्न, भूमि आदि का लाभ; आज्ञा भंग करने के कारण दण्ड रूप में प्राप्त धन एवं मित्र तथा अमित्र राजाओं से सन्धि, युद्ध तथा उनको दिए गए तथा उनसे प्राप्त धन आदि का विवरण सहित पूरा-पूरा अंकन अक्षपटलाध्यक्ष को करना चाहिए।^३

१—गोपस्थानिकस्थानेषु प्रदेष्टारः कार्यकरणं बलिप्रग्रहं च कुर्युः ॥

वार्ता ८ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—अक्षपटलमध्यक्षः प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा विभक्तोपस्थानं निबन्धपुस्तकस्थानं कारयेत् ॥

वार्ता १ अ० ७ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—तत्राधिकरणानां संस्थानप्रचारसंजाताग्रं कर्मान्तानां द्रव्यप्रयोगे वृद्धिक्षयव्यय-प्रयामव्याजी योगस्थानवेतनविष्टिप्रमाणं रत्नसारफल्गुकुप्यानामधर्मप्रतिवर्णकप्रतिमानमानोन्मानावमानभागदं देशग्रामजातिकुलसंघातनां धर्मव्यवहारचरित्रं संस्थानं राजोपजीविनां प्रग्रहप्रदेशभोगपरिहारभक्तवेतनलाभं राजश्च पत्नीपुत्राणां रत्नभूमिलाभं निर्देशोत्पातिकप्रतीकारलाभं मित्रामित्राणां च सन्धिविक्रमप्रदानादानि निबन्धपुस्तकस्थं कारयेत् ॥ वार्ता २ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

इसके अतिरिक्त अक्षपटलाध्यक्ष के अधीन समस्त विभागों के करणीय, सिद्ध, शेष, आय, व्यय और नीवी तथा कर्मचारियों की उपस्थिति तथा अनुपस्थिति आदि का व्योरा, उनके द्वारा किया गया कार्य, व्यवहार और विशेष कार्यों का यथार्थ अंकन निबन्धपुस्तक में करके उस निबन्ध पुस्तक को राजा के समक्ष अक्षपटलाध्यक्ष के द्वारा प्रस्तुत किया जाना चाहिए।^१ अक्षपटलाध्यक्ष के द्वारा अंकित किए गए इस निबन्ध-पुस्तक में अंकित विवरण के आधार पर राजा को जिस कर्मचारी का जैसा कार्य-व्यवहार हो तदनुसार उसके पदवृद्धि तथा वेतन-वृद्धि पर विचार करना चाहिए।^२ इस प्रकार अक्षपटलाध्यक्ष का पद राज्य में बड़े महत्त्व का पद होता था।

कोषाध्यक्ष—अर्थ-विभाग के अन्तर्गत कोषाध्यक्ष नाम का एक विशेष अधिकारी होता था। कोषाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य राज्य के कोष की देख-रेख करना, कोष में संग्रह होनेवाले पदार्थों एवं रत्न, धन आदि का ग्रहण कर कोष में रखना, कोष से पदार्थों एवं रत्न, धन आदि को राजा की आज्ञा के अनुसार निकाल कर देना, और कोष में संग्रहीत पदार्थों एवं रत्न, धन आदि को सुरक्षित रखने की व्यवस्था करना था। कोषाध्यक्ष की योग्यताओं और उसके कर्तव्यों की ओर संकेत करते हुए कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—कोषाध्यक्ष को कोष में संग्रह करने योग्य रत्न, सार, फल्गु, कुप्य नामक वस्तुओं को पृथक्-पृथक् वस्तुओं के संग्रह-कर्ता कर्मचारियों की उपस्थिति में ग्रहण करना चाहिए।^३ कोषाध्यक्ष को इन समस्त द्रव्यों एवं वस्तुओं के मूल्य, लक्षण, प्रमाण, जाति, रूप, खान और उनके नए-नए संस्कारों का पूर्ण ज्ञान रखना चाहिए।^४ पुराने रत्नों का संस्कार, रत्नों के गुह्य लक्षण, प्रकार, उपस्कार, देशकालानुसार उनका उपयोग तथा उनमें लगनेवाले कीड़े अथवा चूहे आदि के प्रतिकार के साधनों आदि का ज्ञान कोषाध्यक्ष को होना चाहिए।^५

कोषाध्यक्ष को किस प्रकार का व्यक्ति होना चाहिये इस विषय में शुक्र ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—इन्द्रिय-दमन में समर्थ, धन-सम्पन्न, व्यवहार कुशल और धन

१—ततः सर्वाधिकरणानां करणीयं सिद्धं शेषमायव्ययौ नीवीमुपस्थानं प्रचारचरित्र-संस्थानं च निबन्धेन प्रयच्छेत् ॥ वार्ता ३ अ० ७ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

२—उत्तममध्यमावरेषु च कर्मसु यज्जातिकमव्यक्षं कुर्यात् ॥
वार्ता ४ अ० ७ अधि० २ अर्थशास्त्र ॥

३—कोषाध्यक्षः कोषप्रवेश्यं रत्नं सारं फल्गु कुप्यं वा तज्जातकरणाधिष्ठितः प्रति-ग्रहणीयात् ॥
वार्ता १ अ० ११ अधि० २ अर्थ० ॥

४—अतः परेषां रत्नानां प्रमाणं मूल्यलक्षणम् ।
जातिं रूपं च जानीयान्निधानं नवकर्म च ॥ श्लोक १२१ अ० ११ अधि० २ अर्थ० ॥

५—पुराणप्रतिसंस्कारं कर्मगुह्यमुपस्करान् ।
देशकालपरीभोगं द्विस्त्राणां च प्रतिक्रियाम् ॥ श्लोक १२२ अ० ११ अधि० २ अर्थ० ॥

ही प्राण है ऐसा माननेवाले अत्यन्त कृपण व्यक्ति को कोषाध्यक्ष बनाना चाहिए ।^१ इस प्रकार कोषाध्यक्ष का पद अर्थ-विभाग में बड़े महत्त्व का पद होता था ।

अर्थकारणिक—अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में एक मुख्य कर्मचारी होता था इस कर्मचारी को कौटिल्य ने अर्थकारणिक नाम से सम्बोधित किया है । प्रसंग से ज्ञात होता है कि यह कर्मचारी हिसाब-किताब का मुख्य अकाउण्टेन्ट (Chief accountant) अथवा प्रधान क्लर्क (Head clerk of accounts) होता था । कौटिल्य ने इस कर्मचारी के कर्तव्यों की ओर अप्रत्यक्ष रूप में संकेत किया है^१ वह इस प्रकार है—जो अर्थकारणिक राजा के निमित्त आए हुए धन (राजांश) को विधिवत अंकित नहीं करता है और इस प्रकार राजा की आज्ञा का उल्लंघन कर देता है, अथवा उस धन को निबन्ध पुस्तक में उलट-पलट कर लिख देता है उसको पूर्व साहस दण्ड मिलना चाहिए ।^२ इस वर्णन से यह स्पष्ट विदित हो जाता है कि अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में इस कर्मचारी का कर्तव्य राज्य के विभिन्न भू-भागों से प्राप्त राजांश एवं तत्सम्बन्धी आय, व्यय आदि का निबन्धपुस्तक में विधिवत यथार्थ रूप में अंकित करना था ।

कार्मिक—अर्थकारणिक के अधीन कई अन्य कर्मचारी होते थे जो उसके अधीन रह कर निबन्धपुस्तकों का अंकन (Posting) किया करते थे । इन कर्मचारियों के द्वारा अंकित किए गए (Posted) निबन्धपुस्तकों का निरीक्षण अर्थकारणिक किया करता था । इस विषय की पुष्टि में कौटिल्य द्वारा दी गयी एक व्यवस्था यहाँ दी जायगी । यह व्यवस्था इस प्रकार है—जब अर्थकारणिक अपने अधीन कार्मिकों (Accounts Clerks) के द्वारा अंकन किये गये निबन्धपुस्तक के हिसाब का निरीक्षण तुरन्त नहीं करता है तो उस अर्थकारणिक पर पूर्व साहस दण्ड होना चाहिए ।^३ यदि कार्मिक इसके विपरीत आचरण करे अर्थात् समय पर निबन्धपुस्तक का विधिवत अंकन न करे और अर्थकारणिक द्वारा मांगने पर निबन्धपुस्तक को उसके समक्ष प्रस्तुत न करे तो ऐसे कार्मिक को पूर्वसाहस दण्ड का दोगुना दण्ड मिलना चाहिए ।^४ इस प्रकार कार्मिक नाम के कर्मचारियों का कर्तव्य निबन्धपुस्तकों का अंकन करना था ।

गणनिक्य—विभिन्न प्रदेशों (Districts) के राजधन (राजांश) का

१—दान्तस्तु सधनो यस्तु व्यवहार विशारदः ।

धनप्राणोत्तिकृपणः कोषाध्यक्षः सएव हि ॥श्लोक १५१-१५२अ० २शुक्रनीति ॥

२—राजाय अर्थकारणिकस्याप्रतिबध्नतः प्रतिषेधयतोवाज्ञानिवन्धादाध्ययमन्यथा वा विकल्पयतः पूर्वः साहसदण्डः ॥ वार्ता ३२ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

३—कार्मिके चोपस्थिते कारणिकस्याप्रतिबध्नतः पूर्वः साहस दण्डः ॥

वार्ता ३३ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

४—विपर्यये कार्मिकस्य द्विगुणः ॥

वार्ता ३४ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

हिसाब रखनेवाले कर्मचारी गणनिकय कहलाते थे । यह अपने-अपने प्रदेशों (Districts) से अपने साथ लाए हुए राजपत्र और मुद्रित निबन्धपुस्तकों (Sealed Registers) को अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में प्रस्तुत करते थे । इस कार्यालय में उस राजांश का मिलान लिखित विवरण के आधार पर कर लिया जाता था । यह कर्मचारी वर्ष के अन्त में आषाढ़ मास में अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में उपस्थित होकर वर्ष भर का हिसाब देते थे । गणनिकय कर्मचारियों के विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—गणनिकयों को आषाढ़ मास में (वर्ष की समाप्ति के, हिसाब मिलाने के लिए अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में आना चाहिए ।^१ (विभिन्न प्रदेशों से) आए हुए गणनिकयों से मुद्रित निबन्धपुस्तकों (Sealed Registers) और राज्यांश सम्बन्धी सामग्री एवं नीवीधन कोष में जमा न कर दिया जाए तब तक उनको परस्पर वार्तालाप नहीं करने देना चाहिए ।^२

सांख्यायक—सांख्यायक नाम के कर्मचारियों का मुख्य कर्तव्य गणना करना था । इस प्रकार सांख्यायक गणना सम्बन्धी कार्य सम्पन्न करते थे ।^३

लेखक—लेखक नाम के कर्मचारी का मुख्य कार्य लेखों का लिखना था । कौटिल्य ने एक प्रसंग में राजा के लेखक की योग्यताओं का उल्लेख करते हुए बतलाया है कि अमात्य के गुणों से युक्त, प्रत्येक प्रतिज्ञा के लिखने की शैली का जानने वाला, शीघ्रता से सुन्दर अक्षर और विषय के लिख देने तथा अन्य के लेख को पढ़ देने में समर्थ राजा का लेखक होना चाहिए ।^४ न्यायालयों में जो लेखक होते थे उनका एकमात्र कर्तव्य वक्तव्यों आदि का ज्यों का त्यों लेखबद्ध करना था । जो लेखक इस कार्य में प्रमाद करता था अथवा और का और लिख देता था दण्ड का पात्र माना गया है ।^५ इन वर्णनों के आधार पर ज्ञात होता है कि अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में जो लेखक होते थे उनका मुख्य कर्तव्य सुन्दर और स्पष्ट लेखों का लिखना और अन्य के लेखों को पढ़कर सुनाना था ।^६

१—गणनिकयान्याषाढीमागच्छेयुः ॥ वार्ता १७ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

२—आगतानां समुद्रपुस्तभाण्डनीवीकानामेकत्र संभाषावरोधं कारयेत् ॥
वार्ता १८ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

३—तस्मादस्याध्यक्षाः संख्यायक लेखक × × × कुर्युः ॥
वार्ता ३२ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तस्मादमात्यसंपदोपेतः सर्वसमयविदाशुग्रन्थश्चार्वाक्षरो लेखवाचनसमर्थो लेखकः स्यात् ॥ वार्ता ४ अ० १० अधि० २ अर्थ० ॥

५—लेखकश्चेदुक्तं न लिखत्यनुक्तं लिखति दुरुक्तमुपलिखति सूक्तमुल्लिखत्यर्थोत्पत्तिं विकल्पयतीति पूर्वमस्मै साहसदण्डं कुर्यात् ॥
वार्ता ४० अ० ६ अधि० ४ अर्थ० ॥

६—संख्यायकलेखक × × × कुर्युः ॥ वार्ता ३२ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

रूपदर्शक—अर्थ-विभाग में एक और विशेष कर्मचारी होता था। इस कर्मचारी का मुख्य कर्तव्य खरे-खोटे सिक्कों की परख करना था। कौटिल्य इस विशेष कर्मचारी को रूपदर्शक नाम से सम्बोधित करते हैं।^१ उन्होंने अर्थशास्त्र में दूसरे प्रसंग में इस कर्मचारी के कर्तव्यों का उल्लेख करते हुए इस प्रकार लिखा है—रूपदर्शक को इन पणों (विशेष सिक्कों) के चलने अथवा कोष में डलवा देने की व्यवस्था करनी चाहिए।^२ यदि रूपदर्शक को कोई सिक्का जाली प्रतीत होता है तो उस सिक्के के कटवा देने की आज्ञा रूपदर्शक को दे देना चाहिए।^३ रूपदर्शक को शुद्ध सिक्कों को ही ग्रहण करना चाहिए।^४

नीवी-ग्राहक—नीवी धन की व्यवस्था करते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—व्यय से बचा हुआ राजधन नीवी कहलाता है। उन्होंने नीवी धन दो प्रकार का माना है। एक प्राप्ता और दूसरा अनुवृत्ता। जिस धन का कोष में प्रवेश हो चुका है वह प्राप्ता नीवीधन और जिस नीवी धन का कोष में प्रवेश होना अवशेष है अनुवृत्ता नीवीधन कहलाता है।^५ इस प्रकार वह कर्मचारी जो नीवीधन को प्राप्त कर उसको कोष में डालता था नीवीग्राहक कहलाता था।^६

गोपायक—गोपायक नाम के कतिपय कर्मचारी अर्थ-विभाग में होते थे। इनका मुख्य कर्तव्य राज्यांश की रक्षा करना था।^७

कुछ अन्य कर्मचारी—उपयुक्त कर्मचारियों के अतिरिक्त अक्षपटलाध्यक्ष के कार्यालय में कुछ अन्य कर्मचारी भी होते थे। इन कर्मचारियों में अपयुक्त, निधायक, निबन्धक, प्रतिग्राहक, दायक, मंत्रिवैयावृत्यक आदि मुख्य हैं।^८ उपयुक्त नाम के विशेष कर्मचारी थे जो युक्त कर्मचारियों के सहायक उनके नीचे होते थे। निधायक एक प्रकार का भण्डारी अथवा खजानची होता था। निबन्धक निबन्धपुस्तक (Registers) रखनेवाले कर्मचारी को, प्रतिग्राहक राज्यांशग्रहण करनेवाले कर्मचारी को,

१—× × × लेखकरूपदर्शक × × × कुर्युः ॥ वार्ता ३२ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—रूपदर्शकः पणयात्रां व्यावहारिकीं कोषप्रवेश्यां च स्थापयेत् ॥

वार्ता २६ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

३—अशुद्धं छेदयेत् ॥

वार्ता १३ अ० ५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—रूपदर्शकं विशुद्धं हिरण्यं प्रतिगृह्णीयात् ॥ वार्ता १२ अ० ५ अधि० २ अर्थ० ॥

५—व्ययसंज्ञातादायकविशुद्धा नीवी प्राप्ता चानुवृत्ता चेति ॥

वार्ता २७ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—× × × नीवीग्राहक × × × कुर्युः ॥ वार्ता ३२ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

७—व्युष्टदेशाला × × × गोपायकैश्च नीवीं समानयेत् ॥

वार्ता ३४ अ० ७ अधि० २ अर्थ० ॥

८—उपयुक्तनिधायकनिबन्धकप्रतिग्राहकदायक अपयुक्तमंत्रिवैयावृत्यकरानेकै-

कशोऽनुयुज्जीत ॥

वार्ता ६३ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

दायक संग्रहीत सामग्री अथवा धन से राजाज्ञानुसार सामग्री अथवा धन देनेवाले कर्मचारी को, धन अथवा सामग्री के दिलानेवाले कर्मचारी को दापक और पदाधिकारी कर्मचारियों के सेवकों आदि को मंत्रिवैद्यावृत्यक कर्मचारी कहते थे।

इस प्रकार अर्थ-विभाग में छोटे-बड़े अनेक कर्मचारी होते थे जिनकी सहायता से कोष-संचय-कार्य होता था और राजांश का हिसाब रखा जाता था।

कोष-सञ्चय के सिद्धान्त—कौटिल्य ने राजकोष की उपयोगिता एवं आवश्यकता पर बड़ा महत्त्व दिया है। परन्तु इसका यह तात्पर्य कदापि नहीं है कि राजा को राजकोष के निमित्त धनसंग्रह करने में पूर्ण स्वतंत्रता दी गयी हो। आचार्य कौटिल्य इस सिद्धान्त के विरोधी हैं कि राजा को राजकोष के निमित्त इच्छानुसार प्रजा पर कर लगाकर धनसंग्रह कर कोष वृद्धि करनी चाहिए। राजा को इस प्रकार का अधिकार दे देने से प्रजा पीड़ित होगी और इस प्रकार जिस उद्देश्य के निमित्त राज्य का निर्माण होता है उसका ही मूलोच्छेद हो जाएगा। इसलिए ऋषि-मुनियों द्वारा निर्धारित सिद्धान्तों के आधार पर ही राजा को राजकोष के लिए धन सञ्चय करना उचित होगा। कौटिल्य ने इन सिद्धान्तों में से कतिपय सिद्धान्तों का उल्लेख संकेत रूप में अर्थशास्त्र में किया है और यह व्यवस्था दी है कि राजा को इन सिद्धान्तों के ही आधार पर कोष के निमित्त धन-सञ्चय करना चाहिए। इन सिद्धान्तों का उल्लेख जैसा कि अर्थशास्त्र में उपलब्ध है यहाँ पर किया जाएगा।

(क) **राजा के वेतन का सिद्धान्त**—प्राचीन भारत में राजा प्रजा का वेतन-भोगी सेवक माना गया है। प्रजा के योग-क्षेम के निमित्त राजा की स्थापना की जाती है और राजा द्वारा किए जानेवाले कार्यों के विधिवत सम्पादन हेतु उसका वेतन नियत कर दिया जाता है जो करों के रूप में राजा को प्राप्त होता है। जो राजा प्रजा के योगक्षेम सम्बन्धी कार्य-सम्पादन में प्रमाद करता है और अपने निर्धारित कर्तव्यों का विधिवत पालन नहीं करता है इस वेतन की प्राप्ति के अधिकार से वंचित रहता है। अर्थात् प्रजा से कर द्वारा धन प्राप्त करने का वही राजा अधिकारी समझा गया है जो इस प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग-क्षेम में निरन्तर प्रयत्नशील रहता है।

आचार्य कौटिल्य भी इस सिद्धान्त में आस्था रखते थे। उन्होंने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कि करों द्वारा राजा जो धन प्रजा से प्राप्त करता है वह प्रजा द्वारा निर्धारित किया हुआ राजा का वेतन मात्र है और उसके पाने का वही राजा अधिकारी है जो इस प्रकार प्राप्त धन के द्वारा प्रजा के योग-क्षेम कार्य विधिवत सम्पन्न करता है। अर्थशास्त्र में इस प्रकार व्यवस्था दी गयी है—राजा प्रजासे कों द्वारा प्राप्त धन अपने वेतन रूप में प्राप्त कर उस धन से प्रजा के योग-क्षेम सम्बन्धी कार्यों का सम्पादन करते आए हैं। मुनिगण भी अपनी उच्छ्रृंखलित वृत्ति से प्राप्त अन्न (मस्य के कट-जाने के उपरान्त खेत से बीन कर लाए हुए अन्न) का छठवां भाग करके रूपमें राजा को समर्पित करते आए हैं। परन्तु इस कर के ग्रहण करने का अधिकारी वही राजा माना

गया है जो प्रजा के योग-क्षेम-कार्य में तत्पर रहता है ।^१ इस प्रकार कौटिल्य के मतानुसार प्रजा से करों के रूप में प्राप्त धन राजा का वेतन मात्र है और इस धन का उपयोग प्रजा के योग क्षेम के कार्यों में ही होना चाहिए ।

करों द्वारा प्राप्त धन राजा का वेतन मात्र है इस सिद्धान्त की स्थापना शान्ति पर्व में भी की गयी है । भीष्म युधिष्ठिर से प्रजा से धन प्राप्त करने के सिद्धान्तों का उल्लेख करते हुए अनुचित मार्ग से प्रजा से धन-संग्रह करने का विरोध करते हुए यह स्पष्ट बतलाते हैं कि बलि, शुल्क, दण्ड आदि करों द्वारा जो धन राजा को प्राप्त होता है वह राजा का वेतन होता है ।^२

मार्कण्डेय पुराण में इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए यह स्वीकार किया गया है कि प्राचीन काल में बलि नाम के कर द्वारा प्राप्त धन राजा का वेतन माना जाता था ।^३ इस प्रकार कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित राजकोष के निमित्त धन-संचय का यह सिद्धान्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित रहा है ।

(ख) परिपुष्टि का सिद्धान्त—राज्य में किसी भी उद्योग अथवा आय सम्बन्धी कार्य के शैशवकाल में ही उस पर कर लगाया जाए कौटिल्य इसका समर्थन नहीं करते । यदि किसी उद्योग अथवा व्यवसाय पर प्रारम्भ से ही कर लगा दिए जाएंगे तो उस उद्योग अथवा व्यवसाय का पनपना कठिन हो जाएगा । इसलिए उद्योग अथवा व्यवसाय के सम्पन्न एवं समृद्ध हो जाने पर उस पर कर लगाना उचित होगा । ऐसा करने से वह बिना किसी क्षति के कर बहन करने में समर्थ हो सकेगा । इस सिद्धान्त के पालन करने से राज्य में प्रजा सम्पन्न एवं समृद्ध होगी और अधिक मात्रा में राजकोष के निमित्त धन देने में समर्थ हो सकेगी । इस प्रकार राजा और प्रजा दोनों का कल्याण होगा । कौटिल्य अपने इस सिद्धान्त की स्थापना पके फलों का उदाहरण देकर करते हैं । जिस प्रकार चतुर माली वृक्षों से पके फलों को जो कि भूमि पर गिरकर नष्ट हो जाने वाले ही हैं एकत्र कर उनका उपयोग करता है वह कच्चे फलों को तोड़ता नहीं है अपितु उनकी रक्षा की व्यवस्था करता है और उनके पूर्ण विकास के लिए प्रयत्नशील रहता है उसी प्रकार राजा को अपनी प्रजा को परिपुष्ट करके उस पर सोच-विचार कर ऐसे कर लगाने चाहिए जिससे उसको लेशमात्र भी क्षति न पहुँचने पाए । इस नियम के

१—तेन भूता राजानः प्रजानां योगक्षेमवहास्तेषां क्लिक्विषमद्रण्डकरा हरन्ति
अयोगक्षेमवहाश्च प्रजानाम् । तस्मादुच्छिष्यपङ्कभागमारण्यका अपि निवपन्ति
तस्यैतद्भागधेयं यो ऽस्मान्नोपायतीति ॥ वार्ता ८, ६ अ० १३ अधि० १ अर्थ० ॥

२—बलिषष्टेन शुक्तेन दण्डेनाथापराधिनाम् ।

शास्त्रानीतेन लिप्तेषा वेतनेन धनागमम् ॥ श्लोक १० अ० ७१ शान्तिपर्व ॥

३—निरूपितमिदं राज्ञः पूर्वैरक्षणे वेतनम् ।

गृह्यतो बलिषड्भागं नृपतोन्नरको भुवम् ॥ श्लोक १२६ अ० १६ मार्कण्डेयपुराण

विरुद्ध आचरण करने से प्रजा कुपित होकर राजा का विरोध करने लगती है ।^१ इसी सिद्धान्त की पुष्टि करनेवाले कुछ और संकेत अन्य प्रसंगों में अर्थशास्त्र में उपलब्ध हैं । यदि राज्य की प्रजा में कोई व्यक्ति (लाभ की दृष्टि से) नये तालाब अथवा सेतुबन्ध का निर्माण कराता है तो ऐसे तलाब एवं सेतुबन्ध की भूमि प्रारम्भ के पाँच वर्ष तक कर से मुक्त रहनी चाहिए ।^२ यदि कोई व्यक्ति प्राचीन टूटे-फूटे तडाग अथवा सेतुबन्ध का जीर्णोद्धार कर उनको उपयोग योग्य बना लेता है तो वह तडाग अथवा सेतुबन्ध चार वर्ष तक राजकर से मुक्त रहना चाहिए ।^३ यदि निर्मित तडाग अथवा सेतुबन्ध पर कुछ नया निर्माण कर उसका विकास किया जाए तो वह तडाग अथवा सेतुबन्ध तीन वर्ष तक राजकर से मुक्त रहना चाहिए ।^४

(ग) दौर्लभ्य एवं महान उपयोगिता का सिद्धान्त—प्रत्येक राज्य में कुछ न कुछ पदार्थ अथवा सामग्री ऐसी अवश्य होती है जो उस राज्य के लिए महान उपयोगी होती है, परन्तु उस राज्य में दुर्लभ होती है । इसलिए इस प्रकार के पदार्थों अथवा सामग्री का राज्य में अन्य देशों से प्रवेश अधिक से अधिक मात्रा में होने के लिए अथवा उस राज्य की सीमा के अन्तर्गत ही उसके निर्माण की व्यवस्था करने के लिए विशेष प्रोत्साहन मिलने की परम आवश्यकता होती है । सम्भवतः इसी विचार से इस कोटि के पदार्थों एवं सामग्री को कौटिल्य शुल्क-मुक्त रखना उचित समझते हैं । इस प्रकार वह इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हैं कि राज्य में जो पदार्थ अथवा सामग्री दुर्लभ है परन्तु राज्य के लिए महान उपकारक है शुल्क-मुक्त होनी चाहिए । अपने इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जो सामग्री प्रजा का महान उपकार करनेवाली है उसका राज्य में प्रवेश निःशुल्क होना चाहिए, क्योंकि इस प्रकार की सामग्री का बीज अत्यन्त दुर्लभ होता है ।^५

(घ) विशेष क्रिया के आधार पर कर-मुक्ति का सिद्धान्त—मानव जीवन में कुछ ऐसे विशेष कृत्य भी होते हैं जिनका महत्त्व महान होता है और जिनका सम्बन्ध जीवन की विशेष घटनाओं से होता है । इनमें से कुछ का उल्लेख कौटिल्य ने शुल्क-मुक्ति सम्बन्धी प्रसंग में किया है । यह विशेष कृत्य मनुष्य के विशेष संस्कारों, व्रतों, यज्ञ, दान, उपायन आदि से सम्बन्धित बतलाए गए हैं । इन कृत्यों के सम्पन्न होने के

१—पक्वं पक्वमिवारामात्फलं राज्यादवाप्नुयात् ।

ग्रामच्छेदभयादासं वर्जयेत्कोपकारकम् ॥ श्लोक ८२ अ० २ अधि० ५ अर्थ० ॥

२—तटागसेतुबन्धानां नवप्रवर्तने पाञ्चवर्षिकः परिहारः ॥

वार्ता ३७ अ० ६ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—भग्नोत्सृष्टानां चातुर्वर्षिकः ॥

वार्ता ३५ अ० ६ अधि० ३ अर्थ० ॥

४—समुपपादूनां त्रैवर्षिकः ॥

वार्ता ३४ अ० ६ अधि० ३ अर्थ० ॥

५—महोपकारमुच्युत्कं कुर्याद् बीजं तु दुर्लभम् ॥

श्लोक ३४ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

लिए जिन पदार्थों अथवा जिस सामग्री की आवश्यकता होती है वह शुल्क-मुक्त रहनी चाहिए। इस सिद्धान्त का प्रतिपादन करते हुए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—जो सामग्री विवाह सम्बन्धी हो, जो भेंट द्वारा प्राप्त हुई हो, जो यज्ञ, प्रसव, देवपूजा, मुण्डन, उपनयन, गोदान, धार्मिक व्रतों अथवा दीक्षा आदि विशेष कृत्यों के निमित्त हो विशेष क्रिया में उपयोग होने के आधार पर शुल्क-मुक्त रहनी चाहिए।^१

(ङ) व्यवसाय एवं व्यापार तथा उद्योग नियंत्रण का सिद्धान्त—मनुष्य द्वारा मनुष्य के शोषण किए जाने के रोक-थाम के लिए कौटिल्य ने राज्य-नियंत्रण (State-Control) के सिद्धान्त का समर्थन किया है। इस दृष्टि से उन्होंने राज्य के मुख्य-मुख्य व्यवसायों, व्यापार एवं उद्योगों का संघटन एवं संचालन राज्य के नियंत्रण के अन्तर्गत करने की व्यवस्था दी है। इस व्यवस्था को कार्यान्वित करने के लिए उन्होंने इन व्यवसायों, व्यापार एवं उद्योगों पर कुछ ऐसे कर राज्य द्वारा लगाने का प्रतिपादन किया है जिससे भोला-भाला मनुष्य धूर्त-प्रकृतिवाले मनुष्यों से छला न जा सके, स्वामी और सेवक दोनों को उनके श्रम एवं पूंजी के अनुसार उचित अंश प्राप्त हो सके। स्वामी सेवक को और सेवक स्वामी को ठगने न पाए। इस व्यवस्था के अनुसार कर लगाए जाते थे और इन करों के द्वारा जो धन अथवा सामग्री एकत्र की जाती थी वह राजकोष में संग्रहीत की जाती थी। इस प्रकार व्यापार, व्यवसाय एवं उद्योग-नियंत्रण के आधार पर कर लगाने के सिद्धान्त की स्थापना कौटिल्य ने की है।

कोष-संचय के मार्ग—कौटिल्य ने कोष-संचय के अनेक मार्ग बतलाए हैं। इन मार्गों को उन्होंने दो मुख्य श्रेणियों में परिगणित किया है। आय की इन दो श्रेणियों को कौटिल्य आयशरीर और आयमुख के नाम से सम्बोधित करते हैं। आयशरीर और आयमुख से कौटिल्य का क्या तात्पर्य रहा होगा स्पष्ट नहीं है। उन्होंने अर्थशास्त्र में कहीं भी इस विषय का उल्लेख नहीं किया है कि आय के कतिपय मार्गों को उन्होंने आयमुख और अन्य को आयशरीर वयों सम्बोधित किया है। परन्तु उन्होंने इस विषय का स्पष्ट वर्णन दिया है कि आयशरीर और आयमुख के अन्तर्गत अलग-अलग कौन-कौन से आय के मार्ग परिगणित किए जाने चाहिए। आयशरीर और आयमुख के अन्तर्गत आनेवाले आय के मार्ग कौटिल्य ने इस प्रकार बतलाए हैं—

आयशरीर—राजकोष की आय के कुछ ऐसे मार्ग थे जिनका सम्बन्ध राज्य के दुर्ग, राष्ट्र, खान, सेतु, वन, व्रज और वणिक्पथ से था। आय के इन मार्गों को कौटिल्य ने आयशरीर के नाम से सम्बोधित किया है।^२ इस प्रकार कौटिल्य ने आय-

१— वैवाहिकमन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवैज्याचौलोपनयनगोदान
व्रतदीक्षादिषु क्रियाविशेषेषु भाट्टमुच्यते ॥

वार्ता २२ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

२—समाहतां दुर्गं राष्ट्रं खनिसेतं वनं व्रजं वणिक्पथं चावेक्षेत ॥

वार्ता १ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

इत्याय शरीरम् ॥

वार्ता ६ अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥

शरीर के मुख्य सात मार्ग माने हैं। इन सातों मार्गों के लक्षण भी कौटिल्य ने संकेत रूप में वर्णन किए हैं।

(क) दुर्गआय—दुर्ग से कौटिल्य का तात्पर्य पुर (राजधानी) से है। इस प्रकार दुर्ग में होनेवाले विभिन्न प्रकार के व्यवसायों, उद्योगों एवं व्यापार आदि पर राज्य की ओर से कतिपय कर लगाए जाते थे। इन करों के द्वारा जो धन अथवा सामग्री राजकोष के निमित्त संचय की जाती थी दुर्गआय कहलाती थी। दुर्गआय में जिन जिन विभागों से कर द्वारा धन अथवा सामग्री राजांश के रूप में राजकोष के निमित्त संग्रहीत की जाती थी उनका उल्लेख कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में संकेत रूप में इस प्रकार किया है—दुर्ग में व्यापार के निमित्त जिस सामग्री एवं जिन पदार्थों का प्रवेश दुर्ग में होता था उन पर शुल्क नाम का कर लिया जाता था। इस प्रकार शुल्क रूप में जो धन अथवा सामग्री पुर में संग्रहीत की जाती थी दुर्गआय की श्रेणी में समझी जाती थी। राज्य के दुर्ग (राजधानी) में जो व्यक्ति राज्य के विधियों का उल्लंघन करते थे उन को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिए जाते थे। इन दण्डों में अर्थदण्ड भी होते थे। अर्थदण्ड के रूप में जो धन एकत्र होता था वह भी दुर्गआय के अन्तर्गत राजकोष में सञ्चित होता था। इसी प्रकार दुर्ग में कतिपय विशेष अध्यक्ष राज्य की ओर से नियुक्त थे जिनके अधीन उद्योगों एवं व्यवसायों का संघठन एवं संचालन होता था। यह अध्यक्ष अपने-अपने क्षेत्र में निर्धारित राजांश का संचय करते थे, और समय-समय पर उसको राजकोष के निमित्त भेजते रहते थे। यऽ राजांश भी दुर्गआय के अन्तर्गत सम्मिलित किए जाते थे। इन अध्यक्षों को कौटिल्य ने पौतवाध्यक्ष, नगराध्यक्ष, लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, सुराध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष, चूनाध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, सौवणिक, नागरिक, कुप्याध्यक्ष, वास्तुकलाध्यक्ष, देवताध्यक्ष आदि नाम से सम्बोधित किया है। शिल्पी और कारीगरों से कर लिए जाते थे। पुर के द्वारों पर विशेष कर द्वार वाहिरिक (Toll tax) द्वारा धन एकत्र किया जाता था। यह समस्त कर दुर्गआय कहलाते थे।^१

(ख) राष्ट्रआय—प्राचीन भारत में राज्य दो मुख्य भागों में विभाजित किया जाता था जिनको पुर और जनपद अथवा राष्ट्र नाम से सम्बोधित किया गया था। कुछ आचार्यों ने पुर को दुर्ग नाम से भी सम्बोधित किया है। पुर अथवा दुर्ग से उनका तात्पर्य राजधानी से था। इस प्रकार राजधानी को बहिष्कृत करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रह जाता था जनपद अथवा राष्ट्र के नाम से सम्बोधित किया जाता था। जिन करों का प्रत्यक्ष सम्बन्ध राष्ट्र से होता था वह राष्ट्रआय के नाम से अर्थशास्त्र में सम्बोधित किए गए हैं। राजकीय कृषि क्षेत्रों से प्राप्त उपज, भाग, बलि, कर, वणिकों से प्राप्त कर, नदी एवं नावों के अध्यक्ष द्वारा संग्रहीत किया गया कर,

१—शुल्कं दण्डः पौतवं नागरिको लक्षणाध्यक्षो मुद्राध्यक्षः सुरा सूना सूत्रं तलं घृतं चारं सौवर्णिकः पर्यसंस्थावेश्याद्युतं वास्तुकं कारुशिल्पिगणो देवताध्यक्षो द्वारवाहिरिकादेयं च दुर्गम् ॥
वार्ता २ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

नगरों से प्राप्त राजांश, गोचारण (Pasture land) से एकत्र किया गया राजांश, सड़कों एवं मार्गों से संचित किया गया राजांश, रज्जू (भूमि नापने वालों के द्वारा एकत्र किया गया राजांश) और चोरों से एकत्र किया गया धन राष्ट्राय के अन्तर्गत बतलाया गया है।^१

(ग) खनिआय—राज्य में खानों से जो पदार्थ निकाले जाते थे, वह राज-कोष के निमित्त संग्रहीत किए जाते थे। इनको भी आयशरीर बतलाया गया है। खनिआय के अन्तर्गत खानों से निकले हुए पदार्थ जैसे सोना, चांदी, हीरा, मरकत, मणि, मोती, मूंगा, शंख, लोह, लवण, विशेष प्रकार की मट्टी, पत्थर, रसधातु आदि माने गए हैं।^२

(घ) सेतुआय—पुष्प वाटिकाओं, फल वाटिकाओं, शाक के क्षेत्र, जलीय क्षेत्रों एवं उन क्षेत्रों से जिनमें मूलवाले पौधे चहोरे जाते हैं जो राजांश राज-कोष के लिए एकत्र किया जाता था सेतुआय कहलाता था और यह सेतुआय आयशरीर का एक अंश कहलाता था।^३

वनआय—पशु मृग नाना प्रकार की काष्ठ, हाथी आदि वन से प्राप्त होते थे। अतः इनको वनआय के नाम से कौटिल्य ने सम्बोधित किया है। इस प्रकार की आय को भी आय-शरीर नाम से सम्बोधित किया गया है।^४

(ङ) व्रजआय—गाय, भैंस, बकरी, भेड़, गधा, ऊँट, अश्व, खच्चर आदि पशु व्रज नाम से सम्बोधित किए गए हैं। इस प्रकार इन पशुओं का व्यवसाय करने वाले लोगों पर इन पशुओं की वृद्धि पर राजकर ग्रहण किया जाता था जो अधिकतर पशुओं के रूप में ही प्राप्त होता था। इस प्रकार प्राप्त राजांश व्रजआय कहलाता था और आयशरीर के अन्तर्गत परिगणित किया जाता था।^५

(च) वणिक्पथ-आय—स्थल मार्ग और जलमार्ग वणिक् पथ के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। यह भी आय के मार्ग माने गए हैं।^६ इन्हें भी आयशरीर बतलाया गया है।

(छ) शुल्क-राजकोष की आय का एक प्रमुख मार्ग शुल्क द्वारा प्राप्त सामग्री अथवा

१—सीता भागो बलिः करो वणिक् नदापालस्तरो नावः पट्टमं विव्रीतं वतंती

रज्जूश्चोररज्जूश्च राष्ट्रम् ॥

वार्ता ३ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—सुवर्णरजतवज्रमणिमुक्ताप्रवालशंखलोहलवणभूमिप्रस्तररसधातवः खनिः ॥

वार्ता ४ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—पुष्पफलवाटपण्डकेदारमूलवापाः सेतुः ॥ वार्ता ५ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—पशु मृगद्रव्यहस्तिवनपरिग्रहो वनम् ॥ वार्ता ६ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—गोमहिषमजाविक खरोष्ट्रमश्वश्वतराश्च व्रजः ॥

वार्ता ७ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—स्थलपथो वारिपथश्च वणिक्पथः ॥

वार्ता ८ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

धन भी था। शुल्क की स्पष्ट परिभाषा कौटिल्य ने नहीं की है परन्तु प्रसंग से विदित होता है कि शुल्क से कौटिल्य का वही तात्पर्य था जो कि आज-कल चुङ्गी से तात्पर्य लिया जाता है। शुक्नीति में शुल्क की स्पष्ट व्याख्या की गयी है और जो इस प्रकार है—क्रयकर्त्ता अथवा विक्रयकर्त्ता को जो धन अथवा सामग्री राजांश के रूप में देनी पड़ती है शुल्क कहलाती है।^१

शुल्क विभाग का संघटन—शुल्क विभाग का सबसे बड़ा अधिकारी शुल्काध्यक्ष होता था। शुल्काध्यक्ष के कार्यालय को कौटिल्य शुल्कशाला के नाम से सम्बोधित करते हैं। इस शालाका मुख्य द्वार पूर्व अथवा उत्तर की दिशा में होना चाहिए और इस द्वार पर ऊँची ध्वजा लगायी जानी चाहिए।^२ इस शुल्कशाला में चार अथवा पाँच अन्य राजकर्म-चारी शुल्काध्यक्ष के अधीन होने चाहिए जिनके द्वारा शुल्काध्यक्ष को शुल्क-संचय कराते रहना चाहिए।^३ यह कर्मचारी शुल्कशाला में आए हुए व्यापारियों के विषय में इस प्रकार का विवरण लिखते रहें—यह व्यापारी कौन हैं, कहां के निवासी हैं, कहां से आए हैं, इनके पास कितनी और किस प्रकार की विक्रय सामग्री है, उस सामग्री पर कहां की और किस-किस प्रकार की मुद्रा लगी है ?^४ इस प्रकार शुल्क संचय सम्बन्धी समस्त व्यवस्था करना शुल्काध्यक्ष का कर्तव्य माना गया है।

शुल्क-क्षेत्र की सीमा पर एक अधिकारी होता था जिसको कौटिल्य ने अन्त-पाल के नाम से सम्बोधित किया है। शुल्क-क्षेत्र की सीमा में प्रविष्ट होने के लिए प्रत्येक प्रकार की विक्रय-सामग्री पर अन्तपाल की मुद्रा लगाना अनिवार्य था। इस प्रकार किसी प्रकार की भी विक्रय-सामग्री अन्तपाल की मुद्रा के बिना शुल्क-क्षेत्र में प्रवेश नहीं हो सकती थी। कौटिल्य ने उस व्यवित को अपने व्यापार की सामग्री पर दो गुना शुल्क दण्ड रूप में देने की व्यवस्था दी है जो अपना माल अन्तपाल की मुद्रा लगवाए बिना शुल्कक्षेत्र के अन्तर्गत पकड़ा जाता।^५ यदि किसी ने अपने माल पर जाली मुद्रा लगा ली तो उसको निर्धारित शुल्क का आठगुना शुल्क दण्ड रूप में देने का आदेश दिया गया है।^६ यदि मुद्रा के चिन्ह को मिटा दिया गया हो अथवा मुद्रा

१—विक्रेतृकेतृतो राजभागः शुल्कमुद्राहृतम् ॥ श्लोक २१७ अ० ४ शुक्नीति ॥

२—शुल्काध्यक्षः शुल्कशालां ध्वजं च प्राङ्मुखमुदङ्मुखं वा महाद्वाराभ्यांशे-

निवेशयेत् ॥

वार्ता १ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

३—शुल्कादायिनश्चत्वारः पञ्च वा सार्थोपयातान्वणिजो लिखेयुः ॥

वार्ता २ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

४—के कुतस्तथाः कियत्पणः क्व चाभिज्ञानमुद्रा वा कृता इति ॥

वार्ता ३ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

५—अमुद्राणामव्ययो देयद्विगुणः

॥ वार्ता ४ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

६—कूटमुद्राणां शुल्काष्टगुणो दण्डः

॥ वार्ता ५ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

को तोड़ दिया गया हो तो ऐसे व्यापारी को घटिका स्थान में रोक लेना चाहिए ।^१ घटिका स्थान की व्याख्या करते हुए डा० शाम शास्त्री ने बतलाया है कि घटिका स्थान एक कोठरी होती थी जिससे कुसमय इधर-उधर घूमने वाले व्यक्ति पकड़कर बन्द कर दिए जाते थे ।^२ मुद्रा के बदल देने या उस पर विक्रय वस्तु का नाम बदल देने पर सवापण दण्ड दिया जाना चाहिए ।^३

विक्रय हेतु जो वस्तुएं अथवा सामग्री शुल्कक्षेत्र में प्रवेश होती थी वह सब शुल्कशाला के समीप लायी जाती थी । यहां व्यापारी अपनी विक्रय-सामग्री का परिमाण तथा मूल्य बतलाते थे जिसके अनुसार शुल्क ली जाती थी । तदुपरान्त उस सामग्री का विक्रय किया जाता था ।^४

विक्रय-सामग्री अथवा वस्तु शुल्क-मुक्त न रहने पाए इसलिए जहां उपर्युक्त नियमों को अपनाया गया है वहीं एक विशेष नियम का भी उल्लेख किया गया है । इस नियम के अनुसार कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि जो वस्तु जहां उत्पन्न हो वहां उसका विक्रय नहीं किया जाना चाहिए ।^५ कौटिल्य ने इस विषय में कुछ उदाहरण भी दिए हैं जो इस प्रकार हैं—पुष्प और फलों की बाटिका से फल-फूल क्रय-विक्रय करनेवाले मनुष्यों पर चौवन पण दण्ड होना चाहिए ।^६ शाक की बाडियों से शाक, मूल, कन्द आदि के क्रय-विक्रय करनेवाले पर पौने बावन पण दण्ड होना चाहिए ।^७ अन्न के क्षेत्रों से अन्न के क्रय करने पर त्रेपन पण दण्ड होना चाहिए ।^८

इस प्रकार शुल्क से विक्रय-वस्तु को बचाने के लिए व्यापारी गण जिन उपायों

१—भित्तमुद्राणामत्ययो घटिकाः स्थाने स्थानम् ॥

वार्ता ६ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

२—A room where persons are locked up for untimely walking in streets or roads. ॥ पृष्ठ १२१ अर्थशास्त्र ॥

३—राजमुद्रापरिवर्तने नामकृते वा सपादपणिकं वहं दापयेत् ॥

वार्ता ७ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

४—ध्वजमूलोपस्थितस्य प्रमाणमर्घं च वैदेहकाः पणस्य ब्रूयुः ॥

वार्ता ११ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

५—जातिभूमिषु च पणानाम विक्रयः श्लोक ६ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

६—पुष्पफलवाटेभ्यः पुष्पफलादाने चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः ॥

वार्ता ११ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

७—पण्डेभ्यः शाकमूलकन्दादाने पादोमं द्विपञ्चाशत्पणो दण्डः ॥

वार्ता १२ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

८—क्षेत्रेभ्यः सर्वसस्यादाने त्रिपञ्चाशत्पणः ॥

वार्ता १३ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

का आश्रय ले सकते थे उनके रोक-थाम के लिए कौटिल्य ने नियम निर्धारित करने का भरसक प्रयत्न किया है ।

शुल्क की दर—कौटिल्य ने शुल्क सम्बन्धी व्यापारिक माल को मुख्य तीन श्रेणियों में विभक्त किया है । प्रथम श्रेणी में वह माल रखा है जो उस राज्य के विभिन्न भूभागों से पुर में विक्रय हेतु आता था । दूसरा वह माल जिसका निर्माण अथवा उत्पत्ति पुर में ही हुई है और वह विक्रय हेतु बाजारों को भेजा जाता था । तीसरा वह माल जो अन्य राज्यों से विक्रय हेतु राज्य में आता था । प्रथम प्रकार के माल को बाह्य, दूसरे को आभ्यान्तर और तृतीय प्रकार के माल को आतिथ्य के नाम से सम्बोधित किया गया है ।^१ पुर में प्रवेश होनेवाले अथवा बाहर जानेवाले दोनों प्रकार के व्यापारिक माल पर शुल्क देनी पड़ती थी ।^२

शुल्क, विक्रय की सामग्री के प्रकार के अनुसार ही न्यून, अथवा अधिक लगायी जाती थी । इस विषय में एक नियम यह भी था कि बाहर से आनेवाले माल के मूल्य का पांचवा भाग शुल्क के रूप में लिया जाना चाहिए ।^३ फूल, फल, शाक, मूल, कन्द बेरी के फल, बीज, सूखी मछली और सूखे मांस पर उनके मूल्य का छठा भाग शुल्क ग्रहण करना चाहिए ।^४ क्षौम, दुकूल, क्रिमितान, कंकट, हरताल, मैन्सिल, हींगल, लोह, वर्णधातु, चन्दन, अगर, कटुक, मादकद्रव्य, सुरा, हाथीदन्त, चमड़ा, क्षौम-दुकूल बनाने का तन्तुसमूह, अस्तरण (bedding), आवरण (ओढ़ने का वस्त्र) अन्य रेशमी वस्त्र, बकरी तथा भेड़ के ऊनी वस्त्रों पर मूल्य का दसवां अथवा पन्द्रहवां भाग शुल्क लेना उचित होगा ।^५ साधारण वस्त्र, चौपाए, पक्षी, सूत, कपास, गन्ध, औषधि, लकड़ी, वांस, छाल, मट्टी के वर्तन, घी, तेल आदि क्षार, नमक, मद्य, पके अन्न, आदि पर उनके मूल्य का बीसवां अथवा पचीसवां भाग शुल्क के रूप में ग्रहण करना चाहिए ।^६ शुल्क कर के विशेष अध्ययन हेतु लेखक की शुक्र की राजनीति पुस्तक देखिए ।

१—शुल्कव्यवहारो वाह्यमाभ्यन्तरं चातिथ्यम् ॥ वार्ता १ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

२—निष्क्राम्यं प्रवेश्यं च शुल्कम् ॥ वार्ता २ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

३—प्रवेश्यानां मूल्यपञ्चभागः ॥ वार्ता ३ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

४—पुष्पफलशाकमूल कन्दवाल्लिक्यबीजशुक्रमत्स्यमांसाणां षड्भागं ग्रहणीयात् ॥ वार्ता ४ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

५—क्षौमदुकूलक्रिमितानकङ्कटहरितालमनःशिरादिङ्गलुहलोहवर्णधातूनां चन्दना-
गरुकटुकविषावराणां सुरादन्ताजिनक्षौमदुकूलनिकरास्तरणप्रावरणक्रिमि
जातानामजैलकस्य च दशभागः पञ्चदशभागो वा ॥

वार्ता ६ अ० २२ अधि० २ अर्थ० ॥

६—वस्त्रचतुष्पद्विपदसूत्रकार्पासगन्धभेषज्यकाष्ठवेणुवल्कलचर्मसृग्भाण्डानां

धान्यस्नेह क्षारलवणमण्यक्वाप्रादीनां च विंशति भागः पञ्चविंशतिभागो वा ॥

वार्ता ७ अ० २३ अधि० १ अर्थ० ॥

इस प्रकार कौटिल्य ने शुल्क की दर विभिन्न प्रकार की व्यापारिक सामग्री के अनुसार नियत की है।

शुल्क-मुक्त विक्रय-सामग्री—कौटिल्य ने कुछ ऐसी विक्रय वस्तुओं एवं सामग्री का भी उल्लेख किया है जिनको उन्होंने शुल्क-मुक्त रखने की व्यवस्था दी है। इस प्रकार की सामग्री में उन्होंने उन वस्तुओं को सम्मिलित किया है जो राजा के लिए महान उपकारक हैं परन्तु दुर्लभ हैं।^१ कुछ अन्य प्रकार की वस्तुओं एवं सामग्री को भी शुल्क-मुक्त रखने के लिए उन्होंने व्यवस्था दी है। यह वह वस्तुएँ एवं सामग्री थी जिनका सम्बन्ध मनुष्य के विशेष कृत्यों से था। इस प्रकार की वस्तुओं एवं सामग्री का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—जो सामग्री विवाह सम्बन्धी है, जो भेंट द्वारा प्राप्त हुई है, जो यज्ञ अथवा प्रसव के निमित्त हो और जो देव-पूजा, मुण्डन, उपनयन, गोदान धार्मिक व्रत विशेष आदि के निमित्त है उस पर शुल्क नहीं लेनी चाहिए।^२

इस प्रकार जनता की विशेष सुविधा को ध्यान में रखकर कतिपय क्रय-विक्रय की वस्तुओं एवं सामग्री को शुल्क-मुक्त रखने की व्यवस्था दी गयी है।

(ज) दण्ड—दुर्गन्ध का एक मार्ग दण्ड द्वारा प्राप्त धन भी बतलाया गया है। राज्य के नियमों को भंग करनेवाले व्यक्तियों को उनके अपराध के अनुसार दण्ड दिए जाते थे। इनमें अर्थ दण्ड भी एक प्रकार का दण्ड माना गया है। दोषी के अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड भी दिए जाते थे। अर्थ दण्ड के कतिपय उदाहरण अर्थशास्त्र में यत्र-तत्र दिए गए हैं। इनमें से कुछ का उल्लेख यहां किया जाएगा। चोर-डाकुओं के लिए दण्ड विधान करते हुए कौटिल्य ने उनके अपराध के अनुसार अर्थ दण्ड निर्धारित किए हैं जिनमें कुछ इस प्रकार हैं—पुष्प, फल, शाक, मूल, कन्द, पत्रवान्त, चर्म, वेणु, मट्टी के पात्र आदि छुद्र वस्तुओं के बलपूर्वक छीन लेने पर बारह पण से चौबीस पण तक दण्ड होना चाहिए।^३ लोहा, काष्ठ, रस्सी, छुद्रपशु, वस्त्र आदि एवं स्थूल द्रव्यों के बलपूर्वक अग्रहण करने पर चौबीस पण से अड़तालीस पण तक दण्ड होना चाहिए।^४ ताँबा, पीतल, काँसी, काँच और दान्त की बनी स्थूल वस्तुओं के

१—महोपकारमुच्छुल्कं कुर्याद्बीजं तु दुर्लभम् ॥

वार्ता ३६ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

२—वैवाहिकमन्वायनमौपायनिकं यज्ञकृत्यप्रसवनैमित्तिकं देवेय्याचौलोपनयन-

गोदानव्रतदीक्षणादि पुत्रियाविशेषेषु भाण्डमुच्छुल्कं गच्छेत् ॥

वार्ता २२ अ० २१ अधि० २ अर्थ० ॥

३—पुष्पफलशाकमूलकन्दपत्रान्तचर्मवेणुसूद्रभाण्डादीनां छुद्रकद्रव्याणां द्वादशपणावर-
श्चतुर्विंशतिपणवरो दण्डः ॥

वार्ता ६ अ० १७ अधि० ३ अर्थ० ॥

४—तानासतकाष्ठजुह्वनपशुवाद्यादीनां स्थूलकद्रव्याणां चतुर्विंशतिपणवरो

दण्डश्चाग्निपणवरो दण्डः ॥

वार्ता ७ अ० १७ अधि० ३ अर्थ० ॥

अपहरण करने पर अड़तालीस पण से छियातवे पण तक पूर्वसाहस दण्ड देना चाहिए ।^१

इसी प्रकार अन्य कोटि के अपराधों के निमित्त भी अर्थदण्ड देने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है । अर्थदण्ड के रूप में जो धन इस प्रकार एकत्र किया जाता था वह राजकोष में संचय हेतु भेजा जाता था ।

(झ) पौतव कर—कौटिल्य ने राज्य में तौल-नाप के साधनों में एक रूपता की स्थापना हेतु एवं जनता को बंचकों के दांव-पेच से सुरक्षित रखने के लिए पौतवाध्यक्ष की नियुक्ति की व्यवस्था दी है । पौतवाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य राज्य में विभिन्न प्रकार के नाप-तौल के साधनों का ठीक-ठीक निर्माण कराना, उनके उचित प्रयोग की व्यवस्था करना, उनका समय-समय पर निरीक्षण करना, इस क्षेत्र से राजांश का संचय करना एवं इन नाप-तौल के साधनों का दुरुपयोग करनेवालों को नियमानुसार दण्ड की व्यवस्था करना बतलाया गया है ।

प्रति चार मास के उपरान्त कम से कम एक बार नाप-तौल के साधनों का निरीक्षण पौतवाध्यक्ष को अवश्य करना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का आदेश है ।^२ उनके मतानुसार जो व्यक्ति प्रयोग में लाए जानेवाले अपने नाप-तौल के साधनों का निर्धारित समय पर निरीक्षण कराने में प्रमाद करता है उस पर सवासत्ताइस पण दण्ड होता चाहिए ।^३ इन नाप-तौल के साधनों की इस प्रकार की व्यवस्था के निमित्त व्यापारियों को एक प्रकार का कर देना पड़ता था । कौटिल्य ने इस विषय में यह व्यवस्था दी है कि व्यापारी के प्रति दिन की एक काकणी (सिक्रा विशेष) की दर से पौतवाध्यक्ष के लिए कर देना चाहिए ।^४ इस प्रकार पौतवाध्यक्ष के द्वारा कर के रूप में जो राजांश एकत्र किया जाता था वह भी राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है और जो दुर्ग आय के अन्तर्गत परिगणित किया गया है ।

नागरिक द्वारा प्राप्त राजांश—जिस प्रकार समाहर्ता समस्त राष्ट्र से राजांश का संचय करने का प्रमुख अधिकारी माना गया है उसी प्रकार सम्पूर्ण नगर से राजांश का संचय करना नागरिक का प्रधान कर्तव्य बतलाया गया है । नगर को सुव्यवस्थित एवं सुरक्षित रखने के लिए कतिपय नियमों (Municipal Laws) का निर्माण किया जाता है । इन नियमों का विधिवत पालन नगरवासियों एवं नगर में बाहर से आकर

१—ताम्रवृत्तकंसकाचदन्तभाण्डादीनां स्थूलद्रव्याणामष्टचत्वारिंशत्पणावरं पणवति-

परं पूर्वः साहसदण्डः ॥

वार्ता ८ अ० १७ अधि० ३ अर्थ० ॥

२—चातुर्मासिकं प्रातिवेधनिकं कार्येत् ॥ वार्ता ११ अ० १६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—अप्रतिविद्धस्यात्ययः सवादः सप्तविंशति पणः ॥

वार्ता १२ अ० १६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—प्रातिवेधनिकं काकणीकमहरहः पौतवाध्यक्षाय दद्यात् ॥

वार्ता १३ अ० १६ अधि० २ अर्थ० ॥

ठहरने वाले लोगों को करना चाहिए। नगरवासियों के पशु, पक्षी, घर तथा अन्य सम्पत्ति पर इन नियमों के अनुसार कतिपय कर लगाए जाते थे। इन करों के द्वारा जो धन राजांश के रूप में नागरिक द्वारा संचित किया जाता था राजकोष में संचित होता था। इसलिए कौटिल्य ने इस राजांश को नागरिक आयमार्ग के नाम से संबोधित किया है।

लक्षणाध्यक्ष, मुद्राध्यक्ष आदि द्वारा संचय किया जानेवाला राजांश—राज्य के निमित्त सिक्कों का निर्माण कराना एवं उनके राज्य में चलने को उचित व्यवस्था करना लक्षणाध्यक्ष का मुख्य कर्तव्य बतलाया गया है। इस प्रकार लक्षणाध्यक्ष की देख-रेख में जिन सिक्कों का निर्माण होता था उनमें से कुछ कोष में भी भेजे जाते थे एवं इनके निर्माण में जो नियंत्रण की व्यवस्था की जाती थी उससे भी कुछ राजांश प्राप्त होता था। इस प्रकार लक्षणाध्यक्ष के अधीन संचित होने वाला राजांश भी राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है।

इसी प्रकार मुद्राध्यक्ष मुद्रण-शुल्क द्वारा एकत्र किया हुआ धन राजकोष में संचय करता था। सुराध्यक्ष, सूनाध्यक्ष, सूत्राध्यक्ष, कुप्याध्यक्ष, पण्याध्यक्ष, गणिकाध्यक्ष सौवर्णिक, देवताध्यक्ष, वास्तुकलाध्यक्ष आदि के द्वारा अपने-अपने विभाग से जो राजांश संचित किया जाता था वह राजकोष में संग्रहीत किया जाता था और यह सब राजकोष की आय के मार्ग माने गये हैं जिनको कौटिल्य ने दुर्ग आय के अन्तर्गत परिगणित किया है।

राष्ट्र-आय के मार्ग

(क) सीता—राष्ट्र से जो आय राजकोष के निमित्त प्राप्त होती थी उसके अनेक मार्ग बतलाए गए हैं। इनमें सीता नाम की आय भी राष्ट्र की आय का एक मार्ग माना गया है। कौटिल्य के मतानुसार राज्य में कृषि कार्य राज्य के ही स्वामित्व में होना चाहिए। इसलिये उन्होंने एक विशेष पदाधिकारी की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। इस पदाधिकारी को उन्होंने सीताध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार सीताध्यक्ष के अधीन जो कृषि-कार्य सम्पन्न होता था उससे जो अन्न, तृण आदि की उपज होती थी वह राजकोष में संचित की जाती थी। राजकीय कृषि-क्षेत्रों (Crown fields) से जो उपज होती थी वह सीता कहलाती थी, ^१ और इसी को कौटिल्य राष्ट्र आय के अन्तर्गत मानते हैं।

(ख) भाग—राजकीय कृषि-क्षेत्रों (Crown fields) के अतिरिक्त जो कृषि-भूमि अवशेष रह जाती थी वह कृषि-कार्य हेतु अन्य कृषकों एवं श्रमजीवियों को दी जाती थी इस कृषि भूमि पर एक प्रकार का कर लिया जाता था। जो उपज का निर्धारित अंश (Share) होता था। उपज के आधार पर जो इस प्रकार उपज का अंश (Share) राजांश के रूप में राजकोष के निमित्त संचय किया जाता था उसको भाग नाम से सम्बोधित किया गया है। कौटिल्य ने संक्षेप में एक प्रसंग में भाग कर के विषय में

अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—जिस कृषि-भूमि में सीताध्यक्ष स्वयं कृषि कराने में असमर्थ हो उस भूमि को बटाई पर अन्य किसानों को कृषि हेतु दे देनी चाहिए।^१ जो किसान अपने परिश्रम से ही अपना निर्वाह करते हैं उन किसानों को उपज का चौथा अथवा पांचवाँ भाग देना चाहिए अथवा जितना भाग निर्धारित हो जाए राजकोष के लिये राजांश के रूप में देना चाहिए।^२ अपने ही हाथ से जल लाकर सीचने पर जो उत्पत्ति हो उसका पांचवाँ भाग कृषक को उदक भाग के रूप में राजकोष के निमित्त देना चाहिए।^३ यदि तालाब से कन्धों पर जल लाकर सिंचाई की जाए तो उपज का चौथा भाग, ^४ यदि छोटी-छोटी नहरों से क्षेत्रों में सिंचाई की गयी है तो उपज का तीसरा भाग, ^५ नदी, सरोवर, तालाब और कुओं से रहट द्वारा सिंचायी की गयी है तो उपज का चौथाई भाग मिलना चाहिए।^६

कौटिल्य द्वारा दी गयी यह व्यवस्थाएँ इस विषय की पुष्टि करती हैं कि जो कृषि भूमि राजकीय कृषि-क्षेत्रों (Crown fields) के अतिरिक्त होती थी वह स्वतन्त्र किसानों को कृषि-कार्य हेतु उपज में राजा का इतना भाग रहेगा इस प्रतिबन्ध के साथ दी जाती थी और इस प्रकार जो उपज का यह अंश राजकोष के निमित्त संग्रहीत किया जाता था भाग कहलाता था।

(ग) बलि—बलि भी एक विशेष प्रकार का कर था जो राजकोष की आय का एक मार्ग माना गया है। बलि के रूप में जो राजांश राजकोष में सञ्चित किया जाता था उसको कौटिल्य ने राष्ट्र आय के अन्तर्गत माना है। कौटिल्य ने बलि की स्पष्ट विवेचना नहीं की है अतः यह स्पष्ट नहीं है कि बलि से उनका क्या तात्पर्य रहा होगा। डा० शाम शास्त्री ने बलि को एक प्रकार का धार्मिक कर (Religious Tax) माना है। परन्तु मानवधर्मशास्त्र में बलि कर के विषय में जो वर्णन दिया गया है उसके अध्ययन करने से यह विदित होता है कि प्रजा के रक्षणार्थ राजा के द्वारा जो व्यवस्था की जाती थी उसके कार्यान्वित करने के लिए राजा को प्रजा से जो धन-धान्य अथवा अन्य आवश्यक सामग्री प्राप्त होती थी बलि नाम से सम्बोधित की जाती थी। यह कर विशेषरूप में ग्रामवासियों पर लगता था और जो मास-मास में अथवा वर्ष के अन्त में संग्रहीत कर राजकोष में सञ्चय हेतु भेजा जाता था।^७ महाभारत के शान्ति पर्व

१—वापातिरिक्तमर्धसीतिकाः कुर्युः ॥ वार्ता २० अ० २४ आध० २ अर्थ० ॥

२—स्ववीर्योपजीविनो वा चातुर्थपञ्चभागिका यथेष्टमनवसितं भागं द्युरन्यत्र कृच्छ्रेभ्यः ॥ वार्ता २१ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

३—स्वसेतुभ्यः हस्तप्रावर्तिममुदकभागं पञ्चमं द्युः ॥ वार्ता २२ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

४—स्वन्ध प्रावर्तिमं चतुर्थम् । वार्ता २३ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

५—स्वोतोयंत्रप्रावर्तिमं च तृतीयं ॥ वार्ता २४ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

६—चतुर्थं नदीसरस्तटाककूपोद्घाटम् ॥ वार्ता २५ अ० २४ अधि० २ अर्थ० ॥

७—अरक्षितारं राजानम् बलिषड्भागहारिणम् ।

तमाहुः सर्वलोकस्यसमग्रमलहारिकम् ॥ श्लोक ३०८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

में भी बलि के विषय में लगभग यही विचार प्रकट किए गये हैं जो कि इस विषय में मानवधर्मशास्त्र में दिए गये हैं । बलि के विषय में शान्ति पर्व में यह व्यवस्था दी गयी है कि राजा को अपनी प्रजा से बलि ग्रहण करनी चाहिये । यह पडांश होना चाहिए । बलि द्वारा प्राप्त धन, धान्य आदि का व्यय प्रजा-रक्षण कार्य में होना चाहिए ।^१ पुराणों में भी बलि के विषय में इसी प्रकार के विचार प्रकट किये गये हैं ।^२ बलि के विषय में शुक्र मौन है । ऐसा विदित होता है कि उन्होंने बलि वो भाग के ही अन्तर्गत माना है ।

(घ) कर—सशक्त राज्य के अधीन कुछ सामन्त भी होते थे ऐसी उस युग की विशेषता थी । सामन्तों को अपने स्वामी राजा को वार्षिक कर देना होता था । सम्भवतः इसी देयधन को कौटिल्य ने कर के नाम से सम्बोधित किया है । इस प्रकार से प्राप्त होने वाले धन को कौटिल्य ने राजकोष की आय का एक मार्ग माना है ।

(ङ) वणिक्कर—जिस प्रकार राज्य की राजधानी में क्रय-विक्रय हेतु आने वाली वस्तुओं एवं सामग्री पर कतिपय कर लगाए जाते थे और इस प्रकार करों द्वारा संग्रहीत धन पुर की आय का एक मुख्य अंश माना गया है इसी प्रकार राष्ट्र में व्यापारियों द्वारा क्रय-विक्रय हेतु वस्तुओं एवं सामग्री का व्यापार करने वालों पर कतिपय कर लगाए जाते थे । इन करों के द्वारा जो आय होती थी उसको कौटिल्य ने वणिक् आय के नाम से सम्बोधित किया है । इस आय में वह कर सम्मिलित थे जिनका भुगतान वणिकों को राष्ट्र में करना पड़ता था । वणिकों से किस दर से कर लेना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—अपने अपने नगर (पत्तन) के अनुरूप वणिक्जन को शुल्क देते रहना चाहिए ।^३

(च) नदीपाल—नदीपाल नाम का एक अधिकारी होना चाहिए जिसका कर्तव्य नदियों के पुल, घाट, नदीपार करके अन्य साधनों की सुव्यवस्था करना होना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है । इस सुव्यवस्था करने के कारण इन पुल, घाट, नदियों के पार करने के अन्य साधनों आदि के प्रयोग करने वालों से कर संग्रहीत किए जाते थे और इस प्रकार इन करों के रूप में प्राप्त धन नदीपाल द्वारा संचित किया जाता था और राजकोष में संग्रहीत किया जाता था ।

(छ) तर—नावों, डोंगियों आदि के द्वारा नदियों, नालों एवं अन्य जल के स्थानों के पार करने के लिए यात्रियों को उतराई देनी पड़ती थी जिसको कौटिल्य ने तर

१—आददीतर्बालं चापि प्रजाभ्यः कुतन्न्दन ।

सपट्भागमपि प्राज्ञस्तासामेवाभिगुप्तये ॥

श्लोक २५ अ० ६६ शान्ति० पर्व ॥

२—गृह्णातो बलिपट्भागं नृपतेर्नरको ध्रुवम् ॥

श्लोक १२६ अ० १६ मार्कण्डेय पुराण ॥

३—पत्तनानुवृत्तं शुल्कभागं वणिजो दद्युः ॥ वार्ता ४ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

नाम से सम्बोधित किया है। नावों, डोंगियों आदि से द्वारा नदियों, नालों एवं अन्य जल के स्थानों को पार करने की व्यवस्था एक राजकीय अधिकारी की संरक्षता में की जाती थी। इस राजकीय अधिकारी को कौटिल्य ने नावाध्यक्ष नाम से सम्बोधित किया है। इसी अध्यक्ष की देख-रेख में यात्रियों से उतराई ली जाती थी। यात्रियों से उतराये किस दर से ली जानी चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाएं दी हैं—छुद्र पशु (भेड़, बकरी आदि) और हाथ से उठ जाने वाले भार-युक्त मनुष्य से साधारण नदियों को पार करने के लिए मापक (सिक्का विशेष) उतराई लेनी चाहिए।^१ शीश और पीठ पर बहन करने योग्य भार से युक्त पुरुष, और गाय तथा भ्रश्व पर दो मापक;^२ ऊँट और भैंस आदि पर चार मापक;^३ छोटे-छोटे यानों पर पाँच मापक;^४ मध्यम प्रकार की वैलगाड़ी पर छः मापक;^५ बड़ी वैलगाड़ी पर सात मापक;^६ क्रय विक्रय की सामग्री के भार से युक्त व्यापारी पर चौथाई मापक उतराई (तर) लेनी चाहिए।^७ बड़ी नदियों के पार करने में दोगुनी उतराई लेनी चाहिए।^८

कौटिल्य ने कुछ ऐसे यात्रियों का भी उल्लेख किया है जिनसे उतराई (तर) लेने का निषेध किया गया है। इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—ब्राह्मण, सन्यासी, बालक, वृद्ध, रोगी, शासनहर (दूत) और गर्भिणी नावाध्यक्ष की मुद्रा से युक्त होने पर बिना उतराई दिए हुए नाव अथवा डोंगी द्वारा नदी पार कर सकते थे।^९

(ज) विव्रीतम्—राजकोष की आय का एक मार्ग विव्रीत को भी बतलाया गया है। विव्रीत से कौटिल्य का तात्पर्य राजकीय गोचारण भूमि से है। इस प्रकार पशुओं के चारण योग्य वन के अध्यक्ष को कौटिल्य ने विव्रीताध्यक्ष के नाम से सम्बोधित किया है। विव्रीताध्यक्ष के कर्तव्यों का बोध कराते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—हस्तिवन और उत्तम काष्ठ वन की रक्षा करना, राज्य के मार्गों को सुरक्षित रखना।

१—छुद्र पशुर्मनुष्यश्च सभारो मापकं दद्यात् ॥

वार्ता २७ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

२—शिरोभारः कायभारो गवाश्वं च द्वौ ॥ वार्ता २८ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

३—उष्ट्रमहिषं चतुरः ॥ वार्ता २९ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

४—पञ्चलघुयानम् ॥ वार्ता ३० अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

५—षड् गोलिङ्गम् ॥ वार्ता ३१ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

६—सप्त शकटम् ॥ वार्ता ३२ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

७—पण्यभारः पादम् ॥ वार्ता ३३ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

८—द्विगुणो महानदीपु तरः ॥ वार्ता ३४ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

९—ब्राह्मणप्रव्रजितबालवृद्ध व्याधितशासनहरगर्भिण्यो नावाध्यक्षमुद्राभिस्तरेयुः ॥

वार्ता २४ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

चोरों को पकड़वाना, व्यापारियों के माल एवं जान की रक्षा का प्रबन्ध करना, पशुओं की रक्षा करना एवं अन्य यात्रियों आदि के साथ उचित व्यवहार की व्यवस्था करना विवीताध्यक्ष का कर्तव्य बतलाया गया है।^१ उसके अतिरिक्त उसका यह कर्तव्य भी बतलाया गया है कि उसको यात्रियों एवं व्यापारियों आदि में से प्रत्येक (मुद्राध्यक्ष द्वारा लगायी गयी) मुद्रा का निरीक्षण करते रहना चाहिए।^२ कौटिल्य ने इस विषय का भी उल्लेख किया है कि विवीत किस स्थान पर स्थापित किए जाने चाहिए। इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—राष्ट्र में (मार्गों के समीप) जो भयजनक स्थान (वन) हों उन में विवीतों की स्थापना करनी चाहिए।^३ इन विवीतों के अतिरिक्त ग्राम के पशुओं की चरायी की व्यवस्था करते हुए उन्होंने यह भी आदेश दिया है कि प्रत्येक ग्राम के समीप विवीत की स्थापना होनी चाहिए।^४

अर्थशास्त्र में उपलब्ध उपयुक्त वर्णन से यह विदित होता है कि विवीताध्यक्ष विवीतों में होनेवाली उपज जैसे काष्ठ, तृणादि का संचय करता था और इस प्रकार संचित किए गए पदार्थों को वह राजकोष के निमित्त भेजता था। इसके साथ ही वह यात्रियों एवं व्यापारियों की सुव्यवस्था करने के कारण कुछ विशेष करों द्वारा धन इन यात्रियों एवं व्यापारियों से एकत्र करता था। इन करों में वर्तनी कर का उल्लेख भी किया गया है। इस प्रकार यात्रियों एवं व्यापारियों से विवीताध्यक्ष कतिपय करों के रूप में धन संचय कर राजकोष के निमित्त भेजता था जो विवीत आय के नाम से राजकोष में संग्रहीत किया जाता था।

(इ) नौकाध्यक्ष द्वारा संग्रहीत किया जाने वाला राजांश—समुद्र, छोटी और बड़ी नदियों, बड़ी-बड़ी झील एवं सरोवरों आदि में बड़ी एवं छोटी नावों आदि की व्यवस्था नौकाध्यक्ष द्वारा की जाती थी। उसके द्वारा यात्रियों एवं व्यापारियों आदि से उतरायी तौं संग्रहीत की जाती ही थी इसके अतिरिक्त वह कतिपय अन्य करों का भी संचय करता था। कौटिल्य ने इनका उल्लेख भी किया है। नौकाध्यक्ष नदियों के तट पर अथवा समुद्र की बेल पर बसे हुए ग्रामों से निर्धारितकर (क्लृप्त) एकत्र करता था।^५ मछलिहारों को नौका का उपयोग करने पर अपनी आय का छठा भाग इसी अधिकारी को देना पड़ता था।^६ शंख-मुक्ता निकालने वाले भी इसी प्रकार अपनी

१—द्रव्यहस्तिवनाजीवं वर्तिनीं चोररक्षणम् ।

सार्थातिवाह्यं गोरक्ष्यं श्वशरं च कारयेत् ॥ श्लोक १३ अ० ३४ अधि० २ अर्थ० ॥

२—विवीताध्यक्षो मुद्रां पश्येत् ॥ वार्ता ६ अ० ३१ अधि० २ अर्थ० ॥

३—भयान्तरेषु च विवीतं स्थापयेत् ॥ वार्ता ७ अ० ३४ अधि० २ अर्थ० ॥

४—पशुप्रचारार्थं विवीतमालवनेनोपजीवेयुः । वार्ता ३१ अ० १० अधि० ३ अर्थ० ॥

५—तद्वेलाकूलग्रामाः क्लृप्तं दद्युः ॥ वार्ता २ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

६—मत्स्यबन्धका नौकाभाटकं षड्भागं दद्युः ॥ वार्ता ३ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

आय का छठा भाग देते थे ।^१ समुद्र अथवा नदी के समीप नगरों में बसनेवाले वणिक्-जन भी नगर के अनुसार कर देते थे ।^२ इस प्रकार नोकाध्यक्ष कर के रूप में जो धन संचय करता था वह भी राजकोष की आय का एक मार्ग बतलाया गया है ।

(व) रज्जु-रज्जु कर से कौटिल्य का क्या तात्पर्य है स्पष्ट नहीं है । सम्भवतः रज्जु एक प्रकार के राजकर्मचारी रहे होंगे जिनका काम भूमि की नाप-जोख करना था और जिनका उल्लेख जातक गाथाओं में आया है । रज्जुकों द्वारा भूमि की नाप-जोख करने के बदले में एक प्रकार की शुल्क मिलती होगी सम्भवतः इसी का उल्लेख यहाँ पर कौटिल्य ने किया है । अशोक के शिला लेखों में राजुक शब्द का प्रयोग जिलाधीशों (District magistrates) के लिए हुआ है । परन्तु प्रसंग से विदित होता है कि रज्जु का सम्बन्ध यहाँ पर राजुक (District magistrate) से प्रतीत नहीं होता ।

(ट) रज्जुचोर--रज्जुचोर का शाब्दिक अर्थ है चोरों के बांधने के लिए रस्सी । परन्तु यहाँ पर कौटिल्य का तात्पर्य रज्जुचोर से क्या है स्पष्ट नहीं है !

(ठ) वर्तनी--यह एक प्रकार का मार्ग-कर था जो यात्रियों एवं व्यापारियों को देना होता था । इसका संग्रह विशेषरूप में अन्तपाल करता था । यदि कोई यात्री इस कर का बिना भुगतान किए हुए अन्तपाल की आँख चुराकर खिसक जाता तो ऐसे यात्रियों की जाँच विवीताध्यक्ष करता था और वह ऐसे यात्रियों से वर्तनी कर का भुगतान कराता था ।^३

आयमुख—कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि के कतिपय अन्य साधन भी बतलाए हैं जिनको उन्होंने आयमुख नाम से सम्बोधित किया है । मूल, भाग, व्याजी, परिघ, वलृप्त, रूपिक और अत्यय के रूप में जो धन अथवा सामग्री राजकोष में सञ्चित की जाती थी कौटिल्य ने उसको आयमुख के अन्तर्गत परिगणित किया है ।^४ आयमुख के इन विभिन्न मार्गों का कौटिल्य ने विशेष वर्णन नहीं किया है । केवल यत्र-तत्र सूत्ररूप में कुछ व्यवस्थायें दी हैं जो इनके विषय में पाठक को अल्प परिचय देती हैं । इसलिए इनके वास्तविक स्वरूप के ज्ञान प्राप्ति में विशेष कठिनाई का अनुभव करना पड़ता है । अर्थशास्त्र में उपलब्ध इस अल्प प्रामाणिक सामग्री के आधार पर आयमुख के इन विभिन्न मार्गों का वर्णन नीचे दिया जाएगा ।

१—शङ्खमुक्ताग्राहिणो नौभाटकं दद्युः ॥ वार्ता ६ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

२—पत्तनानुवृत्तं शुल्कभागं वणिजो दद्युः ॥ वार्ता ४ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

३—द्रव्यहस्तिवनाजीवं वर्तिनीं चोररक्षणम् ।

सार्थातिवाह्यं गोरक्ष्यं व्यवहारं च कारयेत् ॥

श्लोक १३ अ० ३४ अधि० २ अर्थ० ॥

४—मूलं भागो ब्राजी परिघः वलृप्तं रूपिकमत्ययश्चायमुखम् ॥

वार्ता १० अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

(क) मूल—इस पुस्तक के पिछले एक अध्याय में यह वर्णन किया जा चुका है कि राज्य के महत्त्वपूर्ण उद्योग राज्यनियंत्रण एवं राज्य-स्वामित्व के अन्तर्गत संव-
ठित एवं संचालित होने चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है। इन उद्योगों (Industries)
में समस्त पूंजी एवं श्रम राज्य का ही लगना चाहिए। इन उद्योगों से जिस सामग्री
का उत्पादन होता था वह सरकारी दुकानों (राजपण्यानि) पर बेची जाती थी। इस
प्रकार विक्रय से जो मूल्य लागत (Capital) के रूप में प्राप्त होता था वह राजकोष
में संचित किया जाता था। इसी धन को कौटिल्य मूल नाम से सम्बोधित करते हैं
और जिसको वह आयमुख का एक अङ्ग मानते हैं।

(ख) भाग—राज्य में अनेक प्रकार की सामग्री का क्रय-विक्रय व्यापारी लोग
किया करते थे। इस सामग्री का कुछ भाग राजकोष की वृद्धि हेतु भी निर्धारित रहता
था और जो राजकोष में संचित किया जाता था भाग कहलाता था। कौटिल्य ने
लवण उद्योग का वर्णन करते हुए भाग कर की दर भी निर्धारित की है। उन्होंने इस
विषय में यह व्यवस्था दी है कि राज्य से बाहर से आनेवाले लवण का छठवां भाग राज-
कोष के निमित्त भाग के रूप में प्राप्त होना चाहिए।^१ यह स्मरण रहना चाहिए कि
राष्ट्राय के अन्तर्गत जिस भाग कर का उल्लेख है उसका सम्बन्ध भूमि की उपज से
है और इस भाग का सम्बन्ध उद्योगों (Industries) की उपज से है। अतः इन
दोनों प्रकार के भाग करों में अन्तर है।

(ग) व्याजी—राजकोष के निमित्त जो वस्तुएं अथवा सामग्री व्यापारियों अथवा
अन्य जनता से प्राप्त की जाती थी उसकी गणना एवं नाप तोल में सामान्य गणना
एवं नाप-तोल से कुछ अन्तर रखा जाता था। राजकोष के लिए जो वस्तुएं अथवा
सामग्री आदि इस प्रकार सञ्चित की जाती थी उसकी गणना एवं नाप-तोल में पाँच
प्रतिशत अधिक रहता था।^२ इस प्रकार गणना एवं नाप-तोल में अधिक लिया हुआ
अंश व्याजी शुल्क नाम से सम्बोधित किया जाता था। उदाहरण के लिए यदि किसी
व्यक्ति को राजकोष के लिए एक सौ पण देने हैं तो उसको सौ पणों के स्थान में एक
सौ पाँच पण देने होंगे। यह पाँच अधिक पण व्याजी शुल्क कहलाएंगे। व्याजी शुल्क
को स्पष्ट करते हुए कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है। वह वस्तुएं अथवा सामग्री
जो गणना एवं नाप तोल के सामान्य साधनों से गिनी गयी अथवा नापी-तोली गयी
हैं अथवा मुट्ठियों द्वारा नापी-तोली गयी हैं उन वस्तुओं एवं सामग्री की गणना
एवं नाप-तोल की घटी-बढी (Compensation) के रूप में जो वस्तुएं अथवा
सामग्री अधिक दी जाती है व्याजी कहलाती है।^३ अर्थदण्ड के रूप में जो धन अप-
राधियों से ग्रहण किया जाता था उसके साथ में व्याजी धन लेने की प्रथा का भी

१—आगन्तुलवणं पट्टभागां दद्यात् ॥ वार्ता ३८ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

२—पञ्चकं शतं व्याजीम् ॥ वार्ता ३६ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

३—तुलामानान्तरं हस्तपूरणमुकरो व्याजी ॥ वार्ता ११ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

उल्लेख कौटिल्य ने किया है। इस प्रसंग में भी व्याजी शुल्क पाँच प्रतिशत बतलायी गयी है।^१ इसके अतिरिक्त लक्षण (mint) के सघठन एवं संचालन का वर्णन करते हुए कौटिल्य ने प्रसंगवश व्याजी शुल्क का भी उल्लेख किया है। यहाँ भी व्याजी शुल्क की दर पाँच प्रतिशत बतलायी गयी है।^२ इन उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राजकोष के निमित्त जो वस्तुएं, सामग्री अथवा धन सञ्चय होता था उसकी गणना एवं नाप-तोल में पाँच प्रतिशत अधिक लिया जाता था और जो व्याजी कहलाता था।

(घ) परिघ :—परिघ भी एक प्रकार का विशेष कर था। परिघ कर का सम्बन्ध खनि उद्योग से विशेष रूप में बतलाया गया है।^३ परिघ का स्वरूप क्या था इस विषय में कौटिल्य मौन हैं। अतः परिघ के वास्तविक स्वरूप का वर्णन नहीं किया जा सकता। डा० शामशास्त्री परिघ उस शुल्क को मानते हैं जो रूपदर्शक नाम का राज्य का कर्मचारी सिक्कों की परीक्षा हेतु ग्रहण करता था।^४

(ङ) क्लृप्त—क्लृप्त नाम के एक विशेषकर का उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में किया है। नदी-तट, समुद्रवेला एवं झीलों आदि के किनारे पर स्थित ग्रामों के निवासियों को इस कर का भुगतान करना पड़ता था।^५ क्लृप्त नाम के कर का संश्रय नावाध्यक्ष करता था और वही राजकोष के निमित्त इस धन को भेजा करता था। क्लृप्त कर की दर के विषय में कौटिल्य मौन हैं।

(च) रूपिक—कौटिल्यने लक्षण (Mint) को राज्यके स्वामित्व एवं राज्य नियंत्रण में रखने का आदेश दिया है। राज्य में सिक्कों का निर्माण करने एवं राज्य में उनके प्रयोग किए जाने की सम्पूर्ण व्यवस्था राज्य के अधिकार के अन्तर्गत होनी चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है। जो धन सिक्कों के रूप में राजकोष में संचय हेतु जनता द्वारा दिया जाता था उस पर एक विशेष प्रकार की शुल्क ली जाती थी। यह शुल्क रूपिक नाम से प्रसिद्ध थी और आठ प्रतिशत प्राप्त की जाती थी। अर्थात् जितने सिक्के राजकोष में संग्रहीत किए जाने के निमित्त दिए जाते थे उनसे आठ प्रतिशत अधिक शुल्क

१—शतात्परे तु व्याजीं च विद्यात्यञ्चपणं शतम् ॥

श्लोक १२ अ० १७ अधि० ३ अर्थ० ॥

२—पञ्चकशतं व्याजीम्

॥ वातो ३१ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

३—एवं मूल्यं विभागं च व्याजीं परिघमप्यम् ।

शुल्कं वैधरणं दण्डं रूपं रूपिकमेव च ॥

खनिभ्यो द्वादशविधं धातुं पण्यं च संहरेत् ॥

श्लोक ४७ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

४—Page 83 Kautilya's Arthashastra by Dr. Sham Sastri
(fourth edition)

५—तद्वेलाकूलग्रामाः क्लृप्तं दधुः ॥

वार्ता २ अ० २८ अधि० २ अर्थ० ॥

रूप में लिए जाते थे ।^१ कौटिल्य ने दूसरे प्रसंग में यह बतलाया है कि अपराधी को दण्ड रूप में जो सिक्रे राजकोष के निमित्त देने पड़ते थे उनके साथ आठ प्रतिशत अधिक सिक्रे देने पड़ते थे और इस प्रकार जो अधिक सिक्रे दिए जाते थे वह रूपिक शुल्क कहलाती थी ।^२

(छ) अत्यय—अत्यय एक प्रकार का अर्थ-दण्ड था जो उन व्यक्तियों से प्राप्त किया जाता था जो राज्य द्वारा निर्धारित विक्रय स्थानों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर विक्री हेतु लायी गयी सामग्री का क्रय करता था । कौटिल्य ने इस दण्ड के विषय में एक प्रसंग में इस प्रकार व्यवस्था दी है । राजकीय पण्यों के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर लवण के क्रय करने वाले व्यक्ति पर छः सौ पण अत्यय रूप में दण्ड के देने पड़ेंगे ।^३ इसी प्रकार जो व्यक्ति राजकीय टकसाल सम्बन्धी राज्य के नियमों का उल्लंघन करता है उस पर पचीस पण अत्यय (दण्ड) होना चाहिए ।^४

इस प्रकार राज्य द्वारा निर्धारित विक्री के स्थानों के अतिरिक्त क्रयकर्ता अथवा सरकारी टकसाल के अतिरिक्त अन्य स्थान पर गुप्तरिति से सिक्रों के निर्माण-कर्ता आदि पर अत्यय नाम का दण्ड होता था । अत्यय दण्ड के द्वारा जो धन राजकोष के निमित्त संग्रह किया जाता था वह आयमुख का एक अंग बन जाता था ।

राज-कोष के व्यय के मार्ग—कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उन मार्गों का भी उल्लेख किया है जिन के लिए राजकोष में संचित किया जाने वाला धन एवं तत्सम्बन्धी सामग्री का व्यय किया जाता था । उन्होंने इन मार्गों का उल्लेख इस प्रकार किया है—देवपूजा, पितृ-पूजा, दान, स्वस्तिवाचन, अन्तः पुर, राजकीय रसोई, दूत, कोष्ठागार, शस्त्रागार, पण्यगृह, कुप्यगृह, उद्योगों में कार्य करने वाले, बेगार (Free-Labourers), पैदल, अश्वारोही, हस्तारोही और रथारोही, गोमण्डल, पशु, मृग, पक्षी तथा सर्प आदि जन्तुओं का संग्रह, काष्ठ, तृण, वनोच्चों आदि की रक्षा आदि मार्गों में राजकोष का धन व्यय होना चाहिए । व्यय के इन मार्गों को कौटिल्य ने व्यय शरीर नाम से सम्बोधित किया है ।^५

१—रूपिकमष्टकं शतम् ॥ वार्ता ३० अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

२—दण्डकर्मसु सर्वेषु रूपमष्टपणं शतम् ।

शतात्परे तु व्याजीं चविद्यात्पञ्चपणं शतम् ॥ श्लोक १५ अ० १७ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—अन्यत्र क्रेता षट्छतमव्ययं च ॥ वार्ता ४१ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

४—पञ्चविंशति पणमव्ययं च × × ॥ वार्ता ३३ अ० १२ अधि० २ अर्थ० ॥

५—देवपितृपूजादानार्थं स्वस्तिवाचनमन्तः पुरं महानसं दूतप्रवर्तनं कोष्ठागारमायु-
धानां पण्यगृहं कुप्यगृहं कर्मान्तो विष्टिः पत्यश्वरथद्विपपरिग्रहो गोमण्डलं
पशुमृगपक्षि व्यालवाटाः काष्ठतृणवाटाश्चेति व्ययशरीरम् ॥

वार्ता ११ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य के आय व्यय के लेखा (Budget) का उल्लेख अर्थशास्त्र में किया है ।

राजकर्मचारियों के वेतन—राज्य में शासन-व्यवस्था के विधिवत संचालन हेतु अनेक छोटे-बड़े कर्मचारियों की आवश्यकता होती है । इन राजकर्मचारियों एवं उनके आश्रितों के भरण-पोषण का भार राज्य पर ही आश्रित होता है । इसलिए इन राजकर्मचारियों के पदों के अनुसार इन्हें राज्य की ओर से वेतन दिए जाने चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है । इन राजकर्मचारियों के यह वेतन किन सिद्धान्तों के अनुसार निर्धारित किए जाने चाहिए इस विषय का उल्लेख कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में सूत्र रूप में किया है । इन सिद्धान्तों का उल्लेख नीचे किया जाएगा ।

वेतन के सिद्धान्त—कौटिल्य के मतानुसार राज्य के कर्मचारियों के वेतन एवं भत्ते उनके द्वारा किए जानेवाले कार्य के लाघव एवं गौरव तथा उनकी विद्या के अनुसार निर्धारित किए जाने चाहिए ।^१ जिस कर्मचारी में कार्य करने की अधिक क्षमता होगी एवं वह विशेष गुणी होगा उसको राज्य में विशेष पद पर नियुक्त करना चाहिए और उसके इस विशेष पद के अनुरूप ही विशेष वेतन एवं भत्ता निर्धारित किये जाने चाहिए । इस सिद्धान्त के अनुसार राज्य में छोटे-बड़े अनेक पदों का निर्माण होता है और इन पदों पर काम करने वाले राज्य - कर्मचारियों के वेतनों में भी उनके पदों के अनुसार अन्तर रहना चाहिये । इसीलिये कौटिल्य ने भी राज्य में छोटे-बड़े विभिन्न कर्मचारियों के वेतन में अन्तर रखना उचित समझा है ।

इस विषय में दूसरा मुख्य सिद्धान्त यह बतलाया गया है कि राज-कर्मचारियों के वेतन इतने पर्याप्त होने चाहिए कि उनको अपने एवं अपने आश्रितों के भरण-पोषण के निमित्त दूसरे का मुँह ताकना न पड़े और उनको इसके लिए दूसरे साधनों को अपनाना न पड़े । कौटिल्य ने भी इसी सिद्धान्त के अपनाने की पुष्टि की है । उन्होंने ने राज्य के कतिपय कर्मचारियों एवं पदाधिकारियों के वेतन निर्धारित करते हुए ऐसा स्पष्ट कहा है कि इतना वेतन पाने से यह कर्मचारी एवं पदाधिकारी अपना एवं अपने आश्रितों का भरण-पोषण सुख पूर्वक कर सकते हैं और (वेतन की न्यूनता के अभाव के कारण) कुपित नहीं होते ।^२

वेतन के साथ में भत्ता भी दिया जाता था । सम्भवतः यह भत्ता उस परिस्थिति में दिया जाता होगा जब राजकर्मचारी अपने स्थान (Head quarter) से कहीं दूसरे स्थान को कार्यवश भेजा जाता होगा । कर्मचारियों का भत्ता किस दर से दिया जाना चाहिए । इस विषय में कौटिल्य ने यह नियम बतलाया है कि जिस

१—एतेन भृतानामभृतानां च विद्याकर्मभ्यां भक्तवेतनविशेषं च कुर्यात् ॥

वार्ता ३६ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

२—एतावता भरणे नानास्वाद्यस्वमकोपकं चैषां भवति ॥

वार्ता ५ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

कर्मचारी का वेतन साठ पण है उसको एक आढक (अन्न) भत्ता के रूप में दिया जाना चाहिए। इसी प्रकार जिसका जितना वेतन हो उसके अनुसार उसके भत्ता में घटी बढ़ी होनी चाहिए।^१ अर्थात् जो कर्मचारी जितना कम वेतन पाता है उतना ही कम उसका भत्ता भी होगा। अधिक वेतन पानेवाले कर्मचारी का भत्ता भी उसके वेतन के अनुसार ही अधिक होना चाहिए।

वेतन के विषय में कौटिल्य इस नियम के पालन करने की भी व्यवस्था देते हैं कि यदि कोई राजकर्मचारी कार्य करता हुआ (On duty) मृत्यु को प्राप्त हो जाए तो उसका वेतन और भत्ता उसके पुत्र अथवा पत्नी को मिलना चाहिए।^२ राज-कर्मचारियों एवं सेवकों के आश्रितों में किसी की मृत्यु पर, अथवा उसके रोगी होने पर या सन्तान उत्पन्न होने के अवसर पर उस सेवक को धन द्वारा सहायता देकर राजा को उसका मान प्रदर्शित करना चाहिए।^३ कर्मचारी की मृत्यु हो जाने पर उस कर्मचारी के आश्रित बालक, वृद्ध एवं रोगियों पर राजा को विशेष कृपा कर उनके निर्वाह हेतु वेतन निर्धारित कर देने चाहिए।^४ इस प्रकार राजा को अपने राज्य में राजकर्मचारियों एवं सेवकों पर अनुग्रह कर उनके आश्रितों के भरण-पोषण हेतु आर्थिक सहायता (गुजारा) का प्रबन्ध करते रहना चाहिए।

वेतन के निर्धारित करने में इस विशेष सिद्धान्त का पालन करना कौटिल्य परमावश्यक समझते हैं कि राजा को दुर्ग और जनपद (Capital and Country) की आवश्यकता के अनुसार राज्य की समस्त आय का एक चौथाई धन राजकर्मचारियों एवं सेवकों पर व्यय करना चाहिए।^५ अर्थात् राज्य की आय के अनुसार ही इनके वेतन नियत किए जाने चाहिए जिससे राज्य इस भार के वहन करने में सदैव समर्थ बना रहे उसको धनाभाव का अनुभव कभी भी न करना पड़े।

वेतन के विषय में इस सिद्धान्त का भी अनुसरण करने की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है कि कर्मचारियों से त्यौहार एवं पर्वों आदि सार्वजनिक अवकाशवाले दिनों में कार्य नहीं लेना चाहिए। यदि आवश्यकता पड़ने पर उनसे इन अवसरों पर कार्य लिया जाए तो उनको उन दिनों का अतिरिक्त वेतन दिया जाना चाहिए।^६ इस प्रकार

१—पष्ठिवेतनस्याढकं कृत्वा हिरण्यानुरूपं भक्तं कुर्यात् ॥

वार्ता ३७ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

२—कर्मसु मृतानां पुत्रद्वारा भक्तवेतनं लभेन् ॥

वार्ता २६ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

३—प्रेतध्यायितमृतिकाश्रयेषु चैवामर्यमानकर्म कुर्यात् ॥

वार्ता ३१ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

४—बालवृद्धश्राधिताश्चैवामनुग्राह्याः ॥

वार्ता ३० अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

५—दुर्गजनपदं शक्त्या भृत्यकर्म समुदयपादेन स्थापयेत् ॥

वार्ता १ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

६—तिथिप्रतिपादनमनैश्च कर्मकारयितव्याः ॥ वार्ता ६अ० २३अधि० २ अर्थ० ॥

कोटिल्य ने अतिरिक्त कार्य के लिए अतिरिक्त वेतन देने के सिद्धान्त की स्थापना की है।

कोटिल्य इस सिद्धान्त में विशेष अस्था रखते थे कि कर्मचारियों को उनके वेतन निर्धारित समय पर ही मिल जाने चाहिए। वेतन के देने में विलम्ब नहीं करना चाहिए। कोटिल्य ने वेतन देने में विलम्ब करने वाले व्यक्ति को दण्ड का भागी बतलाया है।^१

कोटिल्य ने राज्य में विभिन्न कर्मचारियों के वेतन में जो अन्तर रखा है वह आधुनिक समाजवादी सिद्धान्त का विरोधी है। उन्होंने राज्य के सर्वोच्च कर्मचारियों के लिए अड़तालीस हजार पण वार्षिक वेतन निर्धारित किया है।^२ परन्तु राज्य के सबसे छोटे कर्मचारियों के लिए केवल साठ पण वार्षिक वेतन नियत किया है।^३ इन छोटे और बड़े कर्मचारियों के वेतन में बहुत बड़ा अन्तर है जो समाजवादी राज्य के लिए सर्वथा असह्य समझा जाएगा परन्तु इतना स्मरण रहना चाहिए कि अर्थशास्त्र के रचना-काल में खाद्य सामग्री का मूल्य आधुनिक काल की तत्सम्बन्धी सामग्री के मूल्य की अपेक्षा अत्यन्त न्यून था। इसलिए पाँच पण मासिक वेतन उसकी सामान्य दैनिक आवश्यकताओं की पूर्ति हेतु पर्याप्त कहा जा सकता है। इसके अतिरिक्त भत्ता देने की भी प्रथा थी। अतः इस दृष्टि से वेतन की दर समयानुसार उचित ही समझी जाएगी।

वेतन की दर—कोटिल्य ने अपने आदर्श राज्य के कर्मचारियों एवं सेवकों के निमित्त दिए जाने वाले वेतनों की दर भी निर्धारित की है। उनके मतानुसार वेतन नकद दिए जाने चाहिए। कोटिल्य ने अर्थशास्त्र में एक स्थल पर राज्य के कतिपय कर्मचारियों को उनकी सेवा के निमित्त भूमि-दान (जागीरों के) देने की भी व्यवस्था की है। परन्तु उनको इस भूमि के बेचने अथवा गिरवी रखने के अधिकार देने का कोटिल्य ने निषेध किया है।^४ उन्होंने वेतन दर निर्धारित करते हुए इस प्रकार व्यवस्था दी है—ऋत्विक्, आचार्य, मंत्री, पुरोहित, सेनापति, युवराज, राजमाता और राजममहिषी इन में प्रत्येक को अड़तालीस हजार (पण वार्षिक वेतन) मिलना चाहिए।^५ द्वारपाल, अन्तःपुर रक्षक, प्रशास्ता, समाहर्ता, सन्निधाता में प्रत्येक को चौबीस हजार पण वार्षिक वेतन देना चाहिए।^६ इतने वेतन से वह (राज्य की)

१—वेतनकालातिपातने मध्यमः ॥

वार्ता १६ अ० २३ अधि० २ अर्थ० ॥

२—× × × अष्टचत्वारिंशत्साहस्राः ॥

वार्ता ४ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

३—षष्टिवेतनाः ॥

वार्ता १६ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

४—अध्यक्षसंख्यायकादिभ्योगोपस्थानिकानीकस्थचिकित्साश्वदमकजंधकारिके-

भ्यश्च विक्रयाधानवर्जम् ॥

वार्ता ६ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

५—ऋत्विगाचार्यमंत्रिपुरोहितसेनापतियुवराजराजमातृराजमहिष्यो अष्टचत्वारिं-

शत्साहस्राः ॥

वार्ता ४ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

६—द्वौवारिकान्तर्वांशकप्रशास्तुसमाहर्तृसन्निधातारश्चतुर्विंशतिसाहस्राः ॥

वार्ता ६ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

सेवा करने के योग्य बने रहते हैं ।^१ कुमार, कुमारों की मातां, नायक, पौरव्यावहारिक (Superintendent of Law or Commerce), कर्मन्तिक (Superintendent of Factories) मंत्रिपरिषद् के सदस्य और राष्ट्र की सीमाओं के रक्षक (राष्ट्रान्तपाल) में प्रत्येक को बारह हजार वार्षिक वेतन दिया जाना चाहिए ।^२ इतना वेतन पाने से यह कर्मचारी राजा के भक्त और राजकीय सेना के सहायक बने रहेंगे । ऐसा कौटिल्य का मत है ।^३ श्रेणीमुख्य (Chief of the Sreni Forces), हस्तिमुख्य (Chief of Elephants), अश्वमुख्य (Chief of the Horses), रथमुख्य (Chief of Chariots) और प्रदेष्टा इनमें प्रत्येक को आठ हजार वार्षिक वेतन दिया जाना चाहिए ।^४ इतना वेतन पाने से यह कर्मचारी अपने अपने वगं के लोगों को राजा का अनुचर बनाए रखते हैं ।^५ पैदल सेना के अध्यक्ष, अश्वारोही सेना के अध्यक्ष, हस्ति सेना के अध्यक्ष, रथ सेना के अध्यक्ष, मूल्यवान काष्ठ और हस्तिवन के रक्षकों में प्रत्येक को चार हजार वार्षिक वेतन दिये जाने चाहिए ।^६ सारथी, सेना में रहनेवाले चिकित्सक, अश्वशिक्षक, बढी और पशु पालकों में प्रत्येक का वेतन दो हजार वार्षिक होना चाहिए ।^७ भविष्य की बातें बतलाने वालों, शकुन के फल को बतलाने वालों, मुहूर्त बतलाने वालों, पौराणिकों, सूतों (Chroniclers), मागधों (Bards), पुरोहितों के समस्त सहायकों और विभिन्न विभागों के समस्त अध्यक्षों में प्रत्येक का वार्षिक वेतन एक हजार होना चाहिए ।^८ अशिक्षित सिपाहियों, सांख्यिक, लेखक आदि कर्मचारियों में प्रत्येक को पाँच सो वार्षिक वेतन मिलना चाहिए ।^९ नटनर्तकों को ढाई सौ पण,^{१०} परन्तु तूर्य बजाने वालों को इससे दूना

- १—एतवता कर्मण्य भवन्ति ॥ वार्ता ७ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 २—कुमारकुमारमानुनायकाः पौरव्यावहारिककर्मन्तिकमन्त्रिपरिषद्वाष्ट्रान्त-
 पालाश्च द्वादशसाहस्राः ॥ वार्ता ८ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ३—स्वामिपरिवन्धवलसहाय्यो तावता भवन्ति ॥ वार्ता ९ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ४—श्रेणीमुख्याहस्त्यश्वरथमुख्याः प्रदेष्टारश्चाष्टसाहस्राः ॥
 वार्ता १० अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ५—स्ववर्गानुकर्मिणो ह्येतावता भवन्ति ॥ वार्ता ११ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ६—पत्यश्वरथ हस्त्यश्वक्षा द्रव्यहस्तिवनपालाश्चतुः साहस्राः ॥
 वार्ता १२ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ७—रथिकानीकचिकित्सकाश्चदमकवर्धकयो योनिपोषकाश्च द्विसाहस्राः ॥
 वार्ता १३ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ८—कार्तान्तिकनैमित्तिकमौहूर्तिकपौराणिकसूतमागधाः पुरोहितपुरुषाः सर्वाध्यक्षाश्च
 साहस्राः ॥ वार्ता १४ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ९—शिल्पवन्तः पादाताः संस्थाप्रक लेखकादिवर्गः पञ्चशताः ॥
 वार्ता १५ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 १०—कुशीलवास्त्वर्धन्तीयशताः ॥ वार्ता १६ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

वेतन मिलना चाहिए ।^१ कारीगरों और शिल्पियों में प्रत्येक का वार्षिक वेतन एक सौ बीस होना चाहिए ।^२ चौपायों और द्विपायों की सेवा में लगे हुए सेवकों, राजा की परिचर्या हेतु नियुक्त सेवकों, राजा के रक्षक (Body guards) और बेगारी सेवकों के संग्रह करने वाले सेवकों में से प्रत्येक को साठ पण वार्षिक वेतन मिलना चाहिए ।^३ राजा के साथ मनोरंजन के खेल खेलने वाले, फीलवान (Elephant driver), जादूगर (Soccerer), पत्थरों पर नक्काशी करनेवाले, अथवा पर्वत में खान खोदनेवाले समस्त प्रकार के सहायक, अध्यापक, और विद्वानों में प्रत्येक को एक हजार से पाँच हजार पण तक उनकी योग्यतानुसार वेतन दिया जा सकता है ।^४ मध्यमकोटि के दूत (सन्देशवाहक) को प्रतियोजन की यात्रा पर दस पण वार्षिक दिए जाने चाहिए ।^५ परन्तु यदि उसको दस योजन से सो योजन दूर की यात्रा करनी पड़े तो उसको दस योजन के ऊपर प्रतियोजन निर्धारित वेतन से दो गुना वेतन दिया जाना चाहिए ।^६ कापाटिक उदास्थित, गृहपतिक, वैदेहक, तापस, व्यञ्जन नाम के चरों (Spies) में प्रत्येक को एक सहस्र पण वार्षिक वेतन होना चाहिए ।^७ ग्रामभृतक (नाई, धोबी, आदि) और सत्त्रि, तीक्ष्ण, रसद, भिक्षुकी नाम के चरों को पाँच सौ पण वार्षिक वेतन मिलना चाहिए ।^८ चरों के सहायक सेवकों को ढाई सौ पण प्रतिवर्ष मिलना चाहिए । अथवा उनके द्वारा किए गए कार्य के अनुसार उनको वेतन मिलना चाहिए ।^९

इस प्रकार कौटिल्य ने राज्य में विधिवत शासन के संचालन हेतु विविध प्रकार के कर्मचारियों एवं सेवकों की नियुक्ति का विधान करके उनके पदों के अनुरूप ही अल्प एवं अधिक वेतन निर्धारित किए हैं :

-
- १—द्विगुणवेतनाश्चैषां तूर्यकराः ॥ वार्ता १७ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 २—कारुशिरिपनो विंशतिशतिकाः ॥ वार्ता १८ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ३—चतुष्पदद्विपदपरिचारक पारिकर्मिकोपस्थादिक पालकविष्टिवन्धकाः षष्ठिवेतनाः ॥ वार्ता १९ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ४—कार्ययुक्तारोहकमाणवकशैलखनकाः सर्वोपस्थायिन आचार्या विद्यावन्तश्च पूजावेतनानियथाहं लभेरन्पञ्चशतावरं सहस्रपरम् ॥ वार्ता २० अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ५—दशपणिको योजने दूतः मध्यमः ॥ वार्ता २१ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ६—दशोत्तरेद्विगुणवेतन आयोजनशतादिति ॥ वार्ता २२ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ७—कापाटिकोदास्थित गृहपतिकवैदेहकतापसव्यञ्जनाः साहस्राः ॥ वार्ता २४ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ८—ग्रामभृतकसत्रितीक्ष्णरसदभिक्षुक्यः पञ्चशताः ॥ वार्ता २५ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥
 ९—चारसंचारिणोऽध्वनृतीयशताः प्रयासवृद्धवेतना वा ॥ वार्ता २६ अ० ३ अधि० ५ अर्थ० ॥

कोष-वृद्धि के आधार—कौटिल्यने राजकोषकी वृद्धिके उपर्युक्त अनेक साधनों का उल्लेख किया है परन्तु यह समस्त मार्ग राज्य की आर्थिक स्थिति पर ही निर्भर माने गए हैं। यदि राज्य की आर्थिक स्थिति, सन्तोषजनक नहीं है तो राजकोष की स्थिति भी उसी प्रकार असन्तोषजनक रहेगी। इसलिए कौटिल्य ने कतिपय ऐसे साधनों का उल्लेख किया है जिन से राज्य की स्थिति ऐसी हो जाती है जिससे राजकोष की अनायास ही वृद्धि हो जाती है। इन साधनों अथवा कोष की वृद्धि के इन मूल आधारों का कौटिल्य ने इस प्रकार उल्लेख किया है—

कौटिल्य का मत है कि कोष-वृद्धि तभी हो सकती है जब कि राज्य के निवासी सब प्रकार से सम्पन्न एवं समृद्ध हों। उनकी सम्पन्नता एवं समृद्धि के कारण ही जनता कर के रूप में राजकोष की वृद्धि हेतु धन देने में समर्थ हो सकती है। निर्धन जनता से कर द्वारा धन प्राप्त नहीं हो सकता। इसलिए राजकोष की वृद्धि का सर्वप्रथम मूल आधार राज्य के निवासियों की सर्वांगिणी समृद्धि एवं सम्पन्नता (प्रचार समृद्धि:) बतलायी गयी है।

इस विषय में दूसरा मूल आधार राज्य के निवासियों के आचरण एवं व्यवहार की शुद्धता के लिए विशेष प्रकार से अनुग्रह प्रकट करना (चरित्रानुग्रह:) बतलाया गया है। कौटिल्य इस प्रकार इस सिद्धान्त में अस्था रखते थे कि राज्य में आचरणवान जनता होनी चाहिए। आचरणवान जनता से युक्त देश में अधिक विघ्नवाधाएँ उपस्थित नहीं होने पाती। इसलिए राज्य को जनता के नियन्त्रण हेतु अधिक धन-व्यय करने की आवश्यकता नहीं होती। इसके साथ ही ऐसी जनता राज-करों को ठीक समय पर और उचित मात्रा में राजकोष की वृद्धि हेतु निरन्तर प्रदान करना अपना कर्तव्य समझती रहती है। वह राज-करों से बचने का गुप्त-चुप प्रयत्न नहीं करती। चरित्रवान निवासियों वाले राज्य में अपराध-निरोध के उपायों के निमित्त राज्य को व्यय नहीं करना पड़ता। सम्भवतः इन्हीं कारणों से आचार्य कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि का दूसरा मूल आधार राज्य के निवासियों का चरित्रवान होना निर्धारित किया है।

राजकोष की वृद्धि का तीसरा मूल आधार चोर-निग्रह बतलाया गया है। चोर राजकोष एवं राज्य के निवासियों की सम्पत्ति का गुप्त रीति से अपहरण करते रहते हैं और इस प्रकार वह राज्य की सम्पत्ति का दुरुपयोग करते रहते हैं। इसलिए राष्ट्र की सम्पत्ति की रक्षा हेतु चोरों के दमन करने की परम आवश्यकता बतलायी गयी है। इसी सिद्धान्त के अनुसार कौटिल्य ने चोर-निग्रह राजकोष की वृद्धि का एक आधार माना है।

कभी-कभी ऐसा भी देखा गया है कि राज्य में आवश्यकता से अधिक कर्म-चारियों की नियुक्ति कर दी जाती है जिसका परिणाम यह होता है कि राजकोष रिक्त हो जाता है और इन कर्मचारियों के वेतन का भार जनपद एवं दुर्ग की आय वहन नहीं कर पाती। दूसरे यह कर्मचारी कार्य की कमी के कारण आलसी एवं कायर हो जाते

हैं और नित्य परस्पर व्यर्थ के विवादों में संलग्न रहते हैं जिससे राज्य की उन्नति नहीं होने पाती अपितु शनैः शनैः राज्य पतन की ओर बढ़ता जाता है। इसलिए राज्य में उतने ही कर्मचारियों की नियुक्ति की जानी चाहिए जितने कि राज्य के शासन-भार के वहन करने के लिए पर्याप्त हों। इसीलिए कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि का चौथा मूल आधार पर्याप्त से अधिक राजकर्मचारियों की नियुक्ति का प्रतिषेध (युक्तप्रतिषेधः) बतलाया है।

राज्य में अन्न की वृद्धि (सस्य-सम्पत्ति) का होना भी राजकोष की वृद्धि का एक आधार माना गया है। राज्य को अन्न की दृष्टि से स्वावलम्बी होना चाहिए। दूसरे राज्य के आश्रित रहने पर राज्य के निवासी समय पड़ने पर भूखों मर सकते हैं। राजकोष के लिए अन्न की परम आवश्यकता होती है। इस आवश्यकता की पूर्ति उसी दशा में हो सकती है जब कि राज्य सस्य की सम्पत्ति से सम्पन्न हो। इसीलिए कौटिल्य ने राजकोष की वृद्धि का एक मुख्य आधार सस्य-सम्पत्ति को माना है।

राज्य में उद्योगों एवं व्यापार (Industries and Commerce) की वृद्धि से राज्य के निवासी धन सम्पन्न होते हैं। धन की कुंजी व्यापार ही माना गया है। व्यापार एवं नाना प्रकार के उद्योगों के विकास से राज्य को विभिन्न प्रकार के कर लगाने का अवसर प्राप्त होता है। इन करों के द्वारा प्राप्त धन राजकोष की वृद्धि का कारण होता है। इसलिए उद्योगों एवं व्यापार की राज्य में वृद्धि को भी कौटिल्य राजकोष की वृद्धि का एक प्रमुख आधार मानते हैं।

राज्य में बाह्य और आन्तरिक आपदाएं बहुधा उपस्थित हो जाया करती है। यह आपदाएं राज्य में जन और धन का नाश करती हैं। इसलिए राज्य को इन आपदाओं से मुक्त रखना (उपसर्ग प्रमोक्षः) भी राजकोष की वृद्धि का एक प्रमुख आधार कौटिल्य द्वारा बतलाया गया है।

अवसर पड़ने पर राज्य की ओर से राज्य के निर्धन निवासियों को उनके उद्योग अथवा व्यवसाय को पनपाने के लिए कुछ आर्थिक सहायता दी जाया करती है। यह आर्थिक सहायता कृषक जन को हल-बैल आदि कृषि के उपकरणों अथवा व्यवसायों को व्यवसाय के उपकरणों के प्राप्त करने में सहायक होते हैं। राज्य द्वारा दी गयी यह आर्थिक सहायता इस प्रतिबन्ध के साथ की जाती है कि राज्य इस धन को धीरे-धीरे किसान अथवा व्यवसायी की सामर्थ्य के अनुसार वापस भी लेता जाएगा। यह धन वास्तव में एक प्रकार का ऋण होता है जो राज्य की ओर से प्रजा की आवश्यकता-नुसार दीन प्रजा को सहायता के रूप में दिया जाता है। वर्तमान समय में इस प्रकार की सहायता को तकाबी के नाम से सम्बोधित करते हैं। यह प्रणाली कौटिल्य के समय में भी प्रचलित थी। कौटिल्य का मत है कि इस प्रकार दिये हुए ऋण का प्रजा द्वारा धीरे-धीरे भुगतान हो जाना चाहिए। इसका भुगतान का न होना राजकोष को रिक्त कर देता है। इसलिए तकाबी के ऋण का प्रजा द्वारा धीरे-धीरे राज्य को पुनः लौटा

देना और इस धन का अवशेष न रहना (परिहारक्षयः) भी राजकोष की वृद्धि का एक प्रमुख आधार कौटिल्य द्वारा माना गया है ।

कोष की वृद्धि का अन्तिम आधार कौटिल्य ने द्रिण्यसंग्रह (हिरण्योपायनम्) बतलाया है । राज्य को सोना-संग्रह करने का निरन्तर प्रयत्न करते रहना चाहिए । सोने के अधिक संचय कर लेने से कोष-वृद्धि होती है ।

इस प्रकार कौटिल्य ने कोषवृद्धि के नौ मूल आधार माने हैं ।^१

कोष-क्षय के कारण—कौटिल्य ने उन कारणों का भी उल्लेख किया है जिन से कोष का क्षय हुआ करता है । यह आठ हैं । कौटिल्य ने इन आठ कारणों को प्रतिबन्ध, प्रयोग, व्यवहार, अवस्तार, परिहापण, उपभोग, परिवर्तन और अपहार के नाम से सम्बोधित किया है ।^२ कौटिल्य ने इन पदों को स्पष्ट भी किया है । सिद्धि की साधना न करना अर्थात् लाभ वाले किसी कार्य का प्रारम्भ न करना, अथवा ऐसे कार्यों से जो लाभ हो सकता हो उसका ग्रहण न करना अथवा इस प्रकार के लाभकारी कार्यों के द्वारा प्राप्त की गयी सम्पत्ति एवं सामग्री का राजकोषमें संग्रह न करना प्रतिबन्ध कहलाता है ।^३ कोष के क्षय का यह एक प्रधान कारण कौटिल्य द्वारा बतलाया गया है । कोष-क्षय के इस कारण के उच्छेदन हेतु कौटिल्य ने दण्ड निर्धारित किया है । उनका आदेश है कि जो भी राजकर्मचारी इस प्रकार की भूल करता है उससे (इस प्रकार के लाभ की हानि का) दस गुना धन दण्ड रूप में राजा को प्राप्त करना चाहिए ।^४ कोष-क्षय का दूसरा कारण कौटिल्य ने राजकोष के द्रव्य को अपने लाभ के कार्यों में प्रयोग करना और तीसरा कारण राजकोष के धन से निजी व्यापार करना बतलाया है जिनको उन्होंने क्रमशः प्रयोग और व्यवहार नाम से सम्बोधित किया है ।^५ इन कुप्रथाओं के रोक-थाम के लिए जिस कर्मचारी ने प्रयोग अथवा व्यवहार में राजकीय धन लगाकर लाभ उठाया है उस पर उम लाभ का दो गुना धन दण्ड रूप में प्राप्त करना चाहिए ।^६ राजकोष के क्षय का चौथा कारण अवस्तार बतलाया गया है ।

१—प्रचारसमृद्धिश्चरित्रानुग्रहश्चोरनिग्रहो युक्तप्रतिषेधः सस्यसम्पत्पण्यबाहुल्य-
मुपसर्गप्रमोक्षः परिहारक्षयो हिरण्योपायनमिति कौशलवृद्धिः ॥

वार्ता ३ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

२—प्रतिबन्धः प्रयोगो व्यवहारोऽवस्तारः परिहापणमुपभोगः परिवर्तनमपहारश्चेति
कोशक्षयः ॥

वार्ता ४ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

३—सिद्धिनामसाधनमनवतारणमप्रवेशनं वा प्रतिबन्धः ॥

वार्ता ५ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तत्र दशबन्धो दण्डः ॥

वार्ता ६ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

५—कोशद्रव्याणां वृद्धिप्रयोगाः प्रयोगः पण्यव्यवहारो व्यवहारः ॥

वार्ता ७ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

६—तत्र फलद्विगुणो दण्डः ॥

वार्ता ८ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

अवस्तार पद की व्याख्या करते हुए कौटिल्य यह बतलाते हैं कि राजकीय धन के भुगतान के निर्धारित समय पर राजकीय धन की उगाही (Realisation) न करना और जब भुगतान का समय न हो उस समय उस धन की उगाही करना अवस्तार कहलाता है।^१ इस दशा में ऐसे कर्मचारी पर उस धन का पांच गुना दण्ड होना चाहिए।^२ कलृप्त (नदीतट अथवा समुद्रवेला आदि पर बसे ग्रामों से कर रूप में प्राप्त धन) आय को घटा देना अथवा तत्सम्बन्धी व्यय को बढ़ा देना कोष-क्षय का पांचवां कारण बतलाया गया है और जिसको कौटिल्य परिहापण नाम से सम्बोधित करते हैं।^३ इस दोष के दूर करने के लिए कौटिल्य सम्बन्धित कर्मचारी से उक्त हानि का चार गुना धन दण्ड रूप में प्राप्त करना निर्धारित करते हैं।^४ राजा के द्रव्यों का कर्मचारी द्वारा स्वयं उपभोग किया जाना अथवा उनका दूसरों से उपभोग कराना राजकोष के क्षय का छठा कारण बतलाया गया है। राजकोष के क्षय के इस कारण को कौटिल्य उपभोग के नाम से सम्बोधित करते हैं।^५ इस दोष के निराकरण हेतु कौटिल्य ने इन द्रव्यों के महत्त्व के अनुरूप दण्ड निर्धारित किए हैं। राजा के रत्नों के उपभोग करने पर प्राण दण्ड दिया जाना चाहिए। मूल्यवान् वस्तुओं के उपभोग करने पर मध्यम साहस दण्ड और अन्य साधारण वस्तुओं के उपभोग करने पर उन वस्तुओं को पुनः प्राप्त कर उनके मूल्य के बराबर दण्ड देना चाहिए।^६ राजा के द्रव्यों को उसी प्रकार के अन्य द्रव्यों से बदल लेना राजकोष के क्षय का सातवां कारण बतलाया गया है जिसको कौटिल्य परिवर्तन नाम से सम्बोधित करते हैं।^७ इस दोष के मिटाने के लिए कौटिल्य ने वही दण्ड निर्धारित किए हैं जो कि उपभोग नाम के दोष के निराकरण हेतु उन्होंने निर्धारित किए हैं।^८ प्राप्त हुए धन को निबन्धपुस्तक (Acco-unt-book) में अंकित नहीं करना तथा व्यय किए जानेवाले धन को निबन्ध-पुस्तक में व्यय के कोष्ठ में अंकित तो कर देना परन्तु उस धन का व्यय नहीं करना और

१—सिद्धिं कालमप्राप्तं करोत्यप्राप्तं प्राप्तं वेत्यवस्तारः ॥

वार्ता ६ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

२—तत्र पञ्चवन्धो दण्डः

॥ वार्ता १० अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

३—कलृप्तमायं परिहापयति व्ययं वा विवर्धयतीति परिहापणम् ॥

वार्ता ११ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तत्र हीनचतुर्गुणो दण्डः ॥

वार्ता १२ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

५—स्वयमन्यैर्वा राजद्रव्याणामुपभोजनमुपभोगः ॥ वार्ता १३ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

६—तत्र रत्नोपभोगे घातः सारोपभोगे मध्यमः साहसदण्डः फलुकुप्योपभोगे तच्च

तावच्च दण्डः ॥

वार्ता १४ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

७—राजद्रव्याणामन्यद्रव्येणादानं परिवर्तनम् ॥

वार्ता १५ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

८—तदुपभोगेन व्याख्यतम् ॥

वार्ता १६ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

नीवीधन (व्यव से बचे हुए धन) को उलट-पलट कर उसको इधर-उधर कर देना अपहार कहलाता है।^१ राजकोष के क्षय का यह अन्तिम एवं आठवां कारण कौटिल्य द्वारा बतलाया गया है। इस दोष के दूर करने के लिए कौटिल्य ने सम्बन्धित कर्मचारी पर उस धन का वारहगुना दण्ड निर्धारित किया है।^२

इस प्रकार कौटिल्य ने राजकोष के क्षय के आठ कारणों तथा उनसे बचने के उपायों का वर्णन क्रमबद्ध किया है।

कौटिल्य ने राजद्रव्य के अपहरण (embezzlement) के लगभग चालीस प्रकार बतलाए हैं। उन्होंने इनसे बचने के उपाय भी बतलाए हैं।^३ राजधन के अपहरण के विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—जिस प्रकार जिह्वा पर रखा हुआ मधु अथवा विष (न खाने की इच्छा रखने पर भी) स्वाद लेने में आही जाता है इसी प्रकार राज्य में अर्थाधिकार पर नियुक्त पुरुष धन का कुछ-न-कुछ उपभोग करते ही हैं।^४ जिस प्रकार पानी में रहनेवाली मछली पानी पीती हुई दिखलायी नहीं पड़ती (वह पानी पीती अवश्य है) इसी प्रकार राजकर्मचारी (युक्ताः) अपने-अपने कार्य में लगे हुए राज्य के धन का अपहरण करते हुए भी जाने नहीं जा सकते।^५ आकाश में उड़नेवाले पक्षियों की गति का पता लगाया जा सकता है परन्तु गुप्त रूप में राजधन का अपहरण करनेवाले कर्मचारियों (युक्तः) के द्वारा धनहरण की गति का पता लगाया नहीं जा सकता।^६ इसलिए इन कर्मचारियों को राज्य के धन के अपहरण से राजकोष की रक्षा करने के लिए कौटिल्य ने सब से सुगम उपाय यह बतलाया है कि इस प्रकार के कर्मचारी का पता लग जानेपर उसकी समस्त सम्पत्ति का अपहरण (Confiscation) कर लेना चाहिए और उनको पदच्युत कर देना चाहिए जिससे वह भविष्य में धन अपहरण न कर सकें और उनके अपहरण किए गए धन की

१—सिद्धमायं न प्रवेशयति निबद्धं व्ययं न प्रयच्छति प्राप्तं नीवीं विप्रतिजानीत

इत्यपहारः ॥

वार्ता १७ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

२—तत्र द्वादशगुणो दण्डः ॥

वार्ता १८ अ० ८ अधि० २ अर्थ० ॥

३—

अध्याय ८ अधि० २ अर्थशास्त्र देखिये ॥

४—यथाह्यनास्वादयितुं न शक्यं, जिह्वातलस्थं मधु वा विषं वा ।

अर्थस्तथा ह्यर्थचरेण राज्ञः स्वरूपोऽध्यानास्वादयितुं न शक्यः ॥

श्लोक ३६ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—सत्त्वा यथान्तः सलिले चरन्तो, ज्ञातुं न शक्याः सलिलं पिबन्तः ॥

युक्तास्तथा कार्यविधौ नियुक्ताः, ज्ञातुं न शक्या धनमाददानाः ॥

श्लोक ३७ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—अपि शक्या गतिज्ञातुं पततां खे पतत्रिणाम् ।

न तु प्रच्छन्नभावानां युक्तानां चरतां गतिः ॥ श्लोक ३८ अ० ६ अधि० २ अर्थ० ॥

पुनः प्राप्ति हो सके ।^१ इस के विपरीत उन कर्मचारियों को जो राज्य के धन का अपहरण न करके न्यायानुसार अपनी और राजा की वृद्धि करते हैं राज्य में उच्च पदों पर स्थायी रूप से नियुक्त करता रहे क्योंकि वह राजा के प्रिय एवं हितकारी कार्यों के सम्पादन में संलग्न रहते हैं ।^२

इन शब्दों में कौटिल्य ने राजकर्मचारियों द्वारा राजधन के आहरण किए जाने वाले दोषों से शासन को शुद्ध करने की व्यवस्था दी है ।

१—आस्त्रावयेच्चोपचितान्विपर्यस्येच्च कर्मसु ।

यथा न भक्षयन्त्यर्थं भक्षितं निर्वमन्ति वा ॥ श्लोक ३१अ० १अधि० २अर्थ० ॥

२—न भक्षयन्ति ये त्वर्थान्न्यायतो वर्धयन्ति च ।

नित्याधिकाराः कार्यास्ते राज्ञः प्रियद्विते रताः ॥ श्लोक ४०अ० १अधि० २ अर्थ० ॥

दशम अध्याय

पुर और जनपद

राज्य के दो मुख्य भाग—प्राचीन भारत में राज्य के दो मुख्य भाग माने जाते थे। यह दो भाग दुर्ग अथवा पुर और जनपद हैं। सम्भवतः इसी लिए पुर और जनपद को सप्तांग अथवा सप्तात्मक राज्य के दो अलग-अलग अंग माने गए हैं। आचार्य कौटिल्य ने भी इसी परम्परा की पुष्टि की है। उन्होंने भी राज्य के दुर्ग और जनपद यह दो मुख्य भाग माने हैं। दुर्ग को वह पुर अथवा नगर का पर्यायवाची मानते हैं और जिससे उनका तात्पर्य राजधानी से है। इस दुर्ग अथवा पुर को वहिष्कृत करने के उपरान्त राज्य का जो भाग अवशेष रह जाता है उसको कौटिल्य ने जनपद नाम से सम्बोधित किया है।

दुर्ग अथवा पुर में नागरिक—दुर्ग अथवा पुर में शासन व्यवस्था को विधिवत संचालित करने के लिए कौटिल्य ने एक प्रमुख राजकर्मचारी की नियुक्ति की व्यवस्था दी है। इस राजकर्मचारी को कौटिल्य ने नागरिक नाम से सम्बोधित किया है और यह बतलाया है कि नागरिक को नगर (राजधानी) में शासन व्यवस्था के संचालन हेतु उसी प्रकार चिन्तन करना चाहिए जिस प्रकार कि जनपद में शासन-व्यवस्था के संचालन में समाहर्ता चिन्तन करता है।^१ इस प्रकार पुर के शासन का सम्पूर्ण दायित्व नागरिक पर ही आश्रित था।

दुर्ग अथवा पुर के शासन सम्बन्धी भाग—शासन की सुविधा के अनुसार दुर्ग अथवा पुर को छोटे-छोटे भागों में विभक्त किया जाना चाहिए और इस प्रकार किए गए शासन सम्बन्धी प्रत्येक भाग में एक मुख्य राजकर्मचारी होना चाहिए जिसकी देख-रेख में उसके अधीन इस प्रकार विभाजित किए गए पुर के छोटे अथवा बड़े भागों में शासन होता रहे। कौटिल्य ने इन छोटे-बड़े भागों में स्थानिक एवं गोपों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है।

स्थानिक—कौटिल्य के मतानुसार दुर्ग (राजधानी) के मुख्य चार भाग करना चाहिए। इनमें से प्रत्येक भाग में एक राजकर्मचारी की नियुक्ति करनी चाहिए। इस राजकर्मचारी को कौटिल्य ने स्थानिक नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार राजधानी में स्थानिक नाम के चार राजकर्मचारी होंगे जिनमें से प्रत्येक के अधीन राजधानी का चौथायी भाग रहेगा। स्थानिक का राजधानी के इस चौथायी भाग के प्रति क्या कर्तव्य होंगे इस विषय का बोध कराते हुए कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है कि

समस्त नगर के प्रति जो कर्तव्य नागरिक का बतलाया गया है स्थानिक का वही कर्तव्य उसके अधीन नगर के चौथायी भाग के प्रति होगा ।^१

गोप—प्रत्येक स्थानिक के अधीन गोप नाम के कतिपय राजकर्मचारी होने चाहिए । कौटिल्य के मतानुसार राजधानी का वह चौथायी भाग जोकि स्थानिक के अधीन होता है उसके भी कुटुम्बों के अनुसार दस, बीस और चालीस कुटुम्बों के संयोग से अलग-अलग संघठन किए जाने चाहिए । दस कुटुम्बों की देख-रेख के लिए दस कुटुम्बों पर गोप नाम के राजकर्मचारी की नियुक्ति होनी चाहिए । इसी प्रकार बीस कुटुम्बों और चालीस कुटुम्बों के अलग-अलग गोप नियुक्त किए जाने चाहिए ।^२ इन गोप नाम के राजकर्मचारियों के कर्तव्यों का निरूपण करते हुए कौटिल्य ने बतलाया है कि इन गोपों के अपने अधीन कुटुम्बों के स्त्री-पुरुषों की संख्या, उनकी जाति, गोत्र, नाम, काम, पशु आदि की गणना ही नहीं वरन् उन कुटुम्बों के पुरुषों की आय-व्यय का व्योरा भी अंकित करते रहना चाहिए ।^३ इन गोपों को इस समस्त व्योरे से अपने ऊपर के स्थानिकों को अवगत करते रहना चाहिए । इस प्रकार प्राप्त व्योरा को स्थानिक को नागरिक तक पहुँचाना चाहिए ।

नगर में शान्ति और सुरक्षा की व्यवस्था—नागरिक का प्रमुख कर्तव्य अपने अधीन नगर में शान्ति एवं सुरक्षा की व्यवस्था का स्थापित करना था । नगर में शान्ति एवं सुरक्षा के निमित्त कौटिल्य ने कतिपय साधनों के अपनाने की व्यवस्था दी है । इन साधनों में संदिग्ध आचरणधारी पुरुषों की रोक-थाम भी एक साधन बतलाया गया है ।

(क रात्रिमें पथिकों के ठहरने के नियम—प्रत्येक नगर में प्रति दिन बाहर से कुछ न कुछ पुरुष अवश्य आया करते हैं और रात्रि में धर्मशालों, गृहस्थों के घरों एवं इसी प्रकार के अन्य स्थानों पर ठहरा भी करते हैं । परन्तु इनके आचरण के विषय में क्यों कर जानकारी हो यह एक कठिन समस्या होती है । सम्भव है इन लोगों में कुछ ऐसे भी लोग हों जो चोर, डाकू, व्यभिचारी आदि हों और नगर में आकर गुप्तरिति से दुष्टता करते हों । इसके रोकथाम के लिए कौटिल्य ने कतिपय सावधानियों का उल्लेख किया है । बाहर से आए हुए पथिकों के ठहरने के लिए राजधानी में धर्मशाला होते थे । इन धर्मशालाओं के प्रबन्धकों का यह कर्तव्य था कि उनको धर्मशाला में आकर ठहरनेवाले समस्त पथिकों की सूचना गोप अथवा स्थानिक को देनी पड़ती

१—एवं दुर्गचतुर्भागं स्थानिकश्चिन्तयेत् ॥ वार्ता ४ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—दशकुलीं गोपो विंशतिकुलीं चत्वारिंशत्कुलीं वा ॥

वार्ता २ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—स तस्य स्त्रीपुरुषाणां जातिगोत्रनामकर्मभिः जघाप्रमायध्ययौ च विद्यात् ॥

वार्ता ३ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

थी । पाखण्डियों (साधु विशेष) को धर्मशाला में ठहरने का निषेध था ।^१ धर्मशाला के प्रबन्धक धर्मशाला में उन्हीं पथिकों को ठहरा सकते थे जिनको वह जानते हों अथवा वह तपस्वी या वेदपाठी ब्राह्मण हों ।^२ शिल्पी गण अपने-अपने घरों में जहाँ कि वह कार्य करते हैं काम करने वाले शिल्पियों की ठहरा सकते थे ।^३ व्यापारी लोग अभ्यागत व्यापारियों को अपनी दूकानों पर ठहरा सकते थे ।^४ परन्तु यदि बाहर से आकर ठहरे हुए व्यापारी देश-काल के विपरीत वस्तु को बेचनेवाले अथवा चोरी आदि का माल रखने वाले हों उनकी सूचना जिस व्यापारी की दूकान में वह व्यापारी ठहरा है उसको गोप अथवा नागरिक तक पहुँचानी अनिवार्य था ।^५ मद्य-विक्रेता एवं पक्वान्न या पका-मांस बेचनेवाले और वेश्याएँ अपने परिचित लोगों को ही अपने पास रात्रि में ठहरा सकती थी ।^६ इन व्यवसायियों को यह सूचना गोप अथवा स्थानिक को देना आवश्यक था कि उनके सम्पर्क में आनेवाले कौन ऐसे व्यक्ति हैं जो अधिक व्यय कर रहे हैं अथवा निषिद्ध कार्यों को करते हैं ।^७ यदि कोई चिकित्सक किसी घर में गुप्त रीति से किसी व्यक्ति के घाव की अथवा भोजन की कमी या मदिरापन के कारण होने वाले रोगों की चिकित्सा करता हो उस चिकित्सक एवं चिकित्सा होने के स्थान के स्वामी दोनों को इस विषय की सूचना गोप अथवा स्थानिक तक पहुँचाना अनिवार्य था अन्यथा वह चिकित्सक एवं गृहपति दोनों अपराधी समझे जाते थे ।^८ गृहस्थों को प्रतिदिन इस विषय की सूचना गोप अथवा स्थानिक के लिए देना अनिवार्य था कि उनके घरों से कौन व्यक्ति बाहर जा रहे हैं और कौन व्यक्ति बाहर से आकर रात्रि में ठहरे हैं ।^९ यदि ऐसा नहीं किया गया तो उक्त रात्रि में होनेवाले अपराध के दोषी वह गृहपति

१—धर्मावस्थिनः पापेण्डपथिकानावेद्य वासयेयुः ॥

वार्ता ५ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—स्वप्रत्यांश्च तपस्विनः श्रोत्रियांश्च ॥

वार्ता ६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—कारुशिल्पिनः स्वकर्मस्थानेषु स्वजनं वासयेयुः ॥

वार्ता ७ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—वैदेहकाश्चान्योन्यं स्वकर्मस्थानेषु पर्यानामदेशकालविक्रेतारमस्वकरणं च निवेदेयुः ॥

वार्ता ८ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—शौण्डिकपाक्वमांसिकौदनिरूपाजीवाः परिज्ञातमावासयेयुः ॥

वार्ता ९ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—अतिव्ययकर्तारमत्याहितकर्माणं च निवेदेयुः ॥

वार्ता १० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

७—चिकित्सकः प्रच्छन्नव्रणप्रतीकारकारपितारमपथ्यकारिणं च गृहस्वामी च निवेद्य गोपस्थानिकयोर्मुच्येतान्यथा तुल्यदोषः स्यात् ॥

वार्ता ११ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

८—प्रस्थितागतौ च निवेदेयुः ॥

वार्ता १२ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

समझा जाएगा।^१ यदि रात्रि में कोई घटना भी नहीं हुई परन्तु इनके रात्रि में ठहरने की सूचना गृहपति ने नहीं दी है तब भी उस गृहपति पर सूचना न देने के अपराध के निमित्त तीन पण दण्ड दिया जाना चाहिए—कौटिल्य ने इस प्रकार की व्यवस्था दी है।^२

इस प्रकार नगर में बाहर से आकर रात्रि में ठहरने वाले एवं नगर के कुटुम्बों से रात्रि को बाहर ठहरनेवाले अथवा इधर-उधर जाने वाले लोगों के आचरण एवं व्यवहार के विशेष प्रकार से निरीक्षण करने और उनके द्वारा नगर में किसी प्रकार के भी अपराध एवं दोष न होने पाए इस ओर विशेष सतर्क रहने की व्यवस्था की जाने का प्रबन्ध किया गया है।

(ख) रात्रि के समय नगर में आवागमन सम्बन्धी कतिपय नियम—चोर, डाकुओं एवं व्यभिचारियों आदि से नगर की जनता की रक्षा होती रहे इस विचार से रात्रि के समय नगर में लोगों का इधर-उधर आना जाना कतिपय प्रतिबन्धों के अनुसार होना चाहिए—ऐसा कौटिल्य का मत है। मनुष्य बुरे काम छिप कर ही करता है। रात्रि का समय बुरे कामों के करने में विशेष सहायक होता है। इसी लिए कौटिल्य ने कतिपय ऐसे नियमों का आश्रय लेने का सुझाव दिया है जिससे दुष्ट लोग रात्रि में दुष्टता करने का अवसर न पा सकें। उनका आदेश है कि सूर्योदय के छः नालिक (छः घड़ी) पूर्व और सूर्यास्त के छः नालिक पश्चात् के बीच का जो रात्रि का समय है इसके संकेत करने के लिए तुरी का शब्द होना चाहिए।^३ तुरी के शब्द हो जाने के उपरान्त रात्रि के इस निषिद्ध समय में प्रारम्भ के तीन याम अथवा अन्त के तीन याम के समय जो व्यक्ति राजकीय भवनों के पास-पड़ोस घूमता हुआ पाया जाए उस पर सवा पण दण्ड होना चाहिए।^४ यदि इन दोनों समयों के मध्य भाग अर्थात् अर्ध-रात्रि के आस-पास राजकीय भवनों के समीप कोई व्यक्ति घूमता हुआ पाया जाए तो उस पर दो गुना और नगर के बाहर घूमने वाले पर चार गुना दण्ड-विधान किया गया है।^५ शंका के योग्य स्थान पर पकड़े हुए शस्त्र आदि किसी चोरी आदि के साधन से सम्पन्न अथवा पूर्व में चोरों के अपराध में पकड़े गए पुरुष से वहाँ आने के विषय में पूछ-ताछ करनी चाहिए।^६ यदि कोई पुरुष राजकोष, कार्यालयों या नगर

१—अन्यथा रात्रिदोषं भजेत ॥ वार्ता १३ अ० ३६ अधि० २ अर्थ ॥

२—क्षेमरात्रिषु त्रिपणं दद्यात् ॥ वार्ता १४ अ० ३६ अधि० २ अर्थ०

३—विपरनालिकमुभयतोरान्नं यामतृथम् ॥ वार्ता ४२ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तृथशब्दे राज्ञो गृहाभ्यांशे सपादपणमक्षयताडनं प्रथमपरिचमयामिकम् ॥

वार्ता ४३ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—मध्यमयामिकं द्विगुणं बहिश्चतुर्गुणम् ॥ वार्ता ४४ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—शङ्कनीये देशे लिङ्गं पूर्वापदाने च गृहीतमनुयुञ्जीत ॥

वार्ता ४५ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

की रक्षा की भीत पर चढ़ता हुआ पकड़ा जाए तो ऐसे पुरुष को मध्यम साहस दण्ड का विधान किया गया है ।^१

इन प्रतिबन्धों के होते हुए भी आवश्यक कार्य के लिए आवागमन करनेवाले व्यक्तियों को स्वतंत्रता दी गयी है । इस विषय में कौटिल्य ने कतिपय व्यवस्थाएं इस प्रकार दी हैं—यदि इस निषिद्ध समय में कोई पुरुष सूतिका (बच्चा के उत्पत्ति के समय दायी आदि के लाने के हेतु), वैद्य (रोगी के लिए), प्रेत (मुर्दा उठाने), दीपक हाथ में लेकर चलते हुए, नागरिक के पास जाने, बाजा बजवाने, नाटक देखने अथवा अग्नि बुझाने के हेतु आते-जाते पाए जाएं अथवा जो पुरुष मुद्रा (Permit) के साथ आ-जा रहे हों उनको स्वतंत्रतापूर्वक आने-जाने की आज्ञा होनी चाहिए ।^२ कुछ ऐसे अवसर भी बतलाए गए हैं जब रात भर लोग वे रोक-टोक आ-जा सकते थे । सम्भव है यह रात्रि राष्ट्रीय उत्सव आदि से सम्बन्धित होंगी । परन्तु इन रातों में भी जो लोग छिपे-छिपे वेश बनाकर घूमते हुए, सन्यासी अथवा दण्ड शस्त्र हाथ में धारण किए हुए पकड़े जाएं तो उनके अपराध के अनुसार उनको दण्ड मिलना चाहिए ।^३

(ग) रक्षकों के प्रति कतिपय नियम—रात्रि के समय इस प्रकार के आवागमन के नियंत्रण करने के लिए नगर में रक्षक (Watch-men) होते थे उनको इन नियमों का कठोरता पूर्वक पालन करना पड़ता था । जो रक्षक (Watch man) नहीं रोकने वाले पुरुषों को रात में रोक दे और रोकने योग्य पुरुषों को रोकता नहीं है तो ऐसे रक्षक पर निषिद्ध समय के नियत दण्ड से दो गुना दण्ड होना चाहिए ।^४ यदि रक्षक किसी दासी के साथ व्यभिचार के अपराध में पकड़ा जाए तो उस पर प्रथम साहस दण्ड होना चाहिए ।^५ यदि वह अदासी साधारण स्त्री के साथ व्यभिचार करता है तो मध्यम साहस दण्ड,^६ किसी रोकी हुई (arrested) स्त्री के साथ व्यभिचार करने

१—राजपरिग्रहोपगमने नगररक्षारोहणे च मध्यमः साहसदण्डः ॥

वार्ता ४६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—सूतिकाचिकित्सकप्रेतप्रदीपयाननागरिकतूर्यप्रेक्षाग्निनिमित्तं मुद्राभिरचाम्राह्याः ॥

वार्ता ४७ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—चाररात्रिषु प्रच्छन्नविपरीतवेवाः प्रव्रजिता दण्डशस्त्रहस्ताश्च मनुष्या दीपतो दण्डयाः ॥

वार्ता ४८ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—रक्षिणामवार्यं वारयतां वार्यं चावारयतामक्षणाद्विगुणो दण्डः ॥

वार्ता ४९ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—स्त्रियं दासीमधिमेहयतां पूर्वः साहसदण्डः ॥

वार्ता ५० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—अदासी मध्यमः ॥

वार्ता ५१ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

पर उत्तम साहस दण्ड का विधान किया गया है।^१ परन्तु यदि वह किसी कुल-स्त्री को भ्रष्ट कर देता है तो उसको वध दण्ड दिया जाना चाहिए।^२

(घ) दुष्टचरित्र व्यक्तियों पर निगरानी—पथिक वेश में मार्ग में घूमने वाले तथा ग्वाले आदि के वेश में मार्ग का त्याग कर वन में घूमने वाले गुप्तचर, नगर के बाहर अथवा नगर के देवालय, धर्मशाला, वन अथवा शमशान में किसी ब्रह्म-युक्त, विपशस्त्र आदि अनुचित साधन से युक्त, भारी भार-धारी, घबड़ाए हुए, अधिक सोने वाले, मार्ग की थकावट से युक्त एवं अद्भुत ढंग के पुरुष को देखकर उसकी सूचना नागरिक को देनी चाहिए।^३ इसी प्रकार नगर में शून्य स्थान, शिल्प-शाला, मद्य की दूकान, पक्वान्न एवं पके मांस की दूकान, द्यूतगृह एवं पाखण्डी साधुओं के स्थानों की भी यह लोग खोज करते रहें।^४ इस प्रकार दुष्ट पुरुषों के विषय में नागरिक को जानकारी रखने के लिए कौटिल्य ने आदेश दिया है।

(ङ) खोई हुई वस्तु के पाने की व्यवस्था—यदि किसी व्यक्ति की कोई वस्तु कहीं खो जाए तो वह वस्तु नागरिक के पास लायी जानी चाहिए और नागरिक को उस वस्तु की तबतक रक्षा करनी चाहिए जबतक कि उस खोयी हुई वस्तु का स्वामी नागरिक से लेने के लिए उसके पास न आए। इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—यदि कोई वस्तु खोई हुई, भूली हुई अथवा गिरी हुई पड़ी मिल जाए तो उसके स्वामी के आने तक उसकी रक्षा करनी चाहिए।^५

(च) अग्नि से रक्षा के निमित्त सावधानी—अग्नि-प्रकोप के प्रतिकार हेतु कौटिल्य ने कतिपय सावधानियों से काम लेने के लिए कतिपय व्यवस्थाएं दी हैं जो इस प्रकार हैं—ग्रीष्म ऋतु में दिन के आठ भागों में मध्य के चार भागों में अग्नि जलाने का निषेध रहना चाहिए।^६ यदि कोई व्यक्ति इस नियम का उल्लंघन करता हुआ पाया जाए तो उस पर पण का आठवां भाग दण्ड होना चाहिए।^७ इस निषिद्ध समय में यदि किसी को अग्नि जलाने की आवश्यकता पड़ जाय तो उसको घर के

१—कृतावरोधामुत्तमः ॥

वार्ता ५२ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—कुलस्त्रियं वधः ॥

वार्ता ५३ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—पथिकोत्पथिकाश्च बहिरन्तश्चनगरस्यदेवगृहपुण्यस्थानवनशमशानेषु

सव्रणमनिष्टोपकरणमुद्भाण्डीकृतमाविग्नमतिस्वप्नमध्वक्लान्तमपूर्वं वा

गृहीयुः ॥

वार्ता १५ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—एवमभ्यन्तरे शून्यनिवेशावेशनशौण्डिकौदनिकपाक्वर्मांसिक द्यूतपापण्डावासेषु

विचर्यं कुर्युः ॥

वार्ता १६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—नष्टप्रमृतापस्तुतानां च रक्षणम् ॥

वार्ता ५६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—अग्निप्रतीकारं च ग्रीष्मे मध्यमयोरह्मश्चतुर्भागयोः ॥

वार्ता १७ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

७—अष्टभागोऽग्निदण्डः ॥

वार्ता १८ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

बाहर अग्नि जलाकर अपना काम कर लेना चाहिए ।^१ जो गृहस्थी अपने घर में ग्राह्म ऋतु में, घड़ा, नांद, सीढ़ी, कुल्हाड़ी, सूप (winnowing basket), अंकुश कच-गृहणी (Pincers) और चमड़े की मशक का प्रबन्ध न रखे उस पर चौथाई पण दण्ड होना चाहिए ।^२ इस अवधि में घास-फूस और चटाई की बनी हुई झोपड़ियाँ हटवा देनी चाहिए ।^३ अग्नि के द्वारा जीविका कमानेवाले (लोहार आदि) मनुष्यों को नगर के एक ओर एक ही स्थान पर काम करने की व्यवस्था की जानी चाहिए ।^४ गृहस्वामी रात्रि में अपने घर के द्वार पर ही शयन करें ।^५ नगर की गलियों एवं बाजारों में सहस्रों की संख्या में जल से भरे घड़ों का प्रबन्ध रहना चाहिए ।^६ इसी प्रकार नगर में चौराहों, मुख्य द्वारों और राज्य के कार्यालयों पर भी जल से भरे घड़ों का प्रबन्ध होना चाहिए ।^७

कौटिल्य ने उस मनुष्य को भी दोषी बतलाया है जो नगर के किसी स्थान में आग लग जाने पर उदासीनता प्रकट करता है अथवा अग्नि दाह में सहयोग देता है । इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्थाएं दी हैं—घर में आग लग जाने पर गृह-स्वामी जानबूझ कर उसके बुझाने के लिए दोड़-धूप नहीं करता है तो ऐसे गृह-स्वामी पर बारह पण दण्ड विधान किया गया है ।^८ घर में आग लग जाने पर उस घर में रहनेवाला किराएदार उस अग्नि के बुझाने के लिए दोड़-धूप नहीं करता है तो उस पर छः पण दण्ड होना चाहिए ।^९ जिस व्यक्ति की असावधानी से आग लग जाए उसपर चौवन पण दण्ड होना चाहिए ।^{१०} यदि कोई व्यक्ति जानबूझ कर आग लगाता हुआ पाया जाए तो उसको उसी अग्नि में डाल दिया जाना चाहिए ।^{११}

इस प्रकार कौटिल्य ने अग्नि के प्रकोप के प्रतिकार हेतु अनेक सावधानियों एवं उपायों का उल्लेख किया है ।

१ - बहिरधिभ्रयणं वा कुर्युः ॥ वार्ता १६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—पादः पञ्चघटीनां कुम्भद्रोणीनिश्रेणीपरशुशूर्पाङ्कुशकचग्रहणीद्वितीनां चाकरणे ॥ वार्ता २० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

३—तृणकटच्छन्नान्यपनयेत् ॥ वार्ता २१ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

४—अग्निजीविन एकस्थान् वासयेत् ॥ वार्ता २२ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

५—स्वगृहप्रद्वारेषु गृहस्वामिनो वसेयुरसंपातिनो रात्रौ ॥ वार्ता २३ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

६—रथ्यासु कटवजाः सहस्रं तिष्ठेयुः ॥ वार्ता २४ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

७—चतुष्पथद्वारा राजपरिग्रहेषु च ॥ वार्ता २५ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

८—प्रदीप्तमनभिधावतो गृहस्वामिनो द्वादश पणो दण्डः ॥ वार्ता २६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

९—पट्पणोऽवक्रयिणः ॥ वार्ता २७ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

१०—प्रमादादीप्तेषु चतुष्पञ्चाशत्पणो दण्डः ॥ वार्ता २८ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

११—प्रदीपिकोऽग्निं वध्यः ॥ वार्ता २९ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

नगर में स्वच्छता का प्रबन्ध—कौटिल्य ने स्वच्छता पर विशेष महत्त्व दिया है। वह नगर को स्वच्छ और स्वस्थ रखने के पक्ष में थे। इसीलिए उन्होंने नगर में स्वच्छता रखने के लिए कतिपय व्यवस्थाएं दी हैं। नगर की गलियों एवं सड़के स्वच्छ रहने के लिए उन्होंने इस प्रकार व्यवस्थाएं दी हैं—जो व्यक्ति गलियों एवं सड़कों में कूड़ा-करकट डालता हुआ पाया जाए उस पर पण का आठवां भाग दण्ड होना चाहिए।^१ जो व्यक्ति पानी अथवा कीचड़ से गलियों को गन्दा करता है उस पर पण का चौथाई भाग दण्ड होना चाहिए।^२ राजमार्ग को गन्दा करनेवाले व्यक्ति पर आधा पण दण्ड होना चाहिए।^३ राजमार्ग, धर्मशाला तीर्थ आदि पवित्र स्थान, जलस्थान, देवालया और राजकीय कार्यालयों के पास जो व्यक्ति मलोत्सर्ग कर दे उस पर क्रमशः एक-एक पण बढ़ाते हुए दण्ड होना चाहिए।^४ इन स्थानों के समीप मलोत्सर्ग करने पर इसका आधा दण्ड निर्धारित किया गया है।^५ ओषध, रोग, भय आदि के कारण इन स्थानों पर किसी व्यक्ति का मल अथवा मूत्र निकल पड़े तो ऐसे व्यक्ति को दण्ड नहीं देना चाहिए।^६

नगर में मरी बिल्ली, कुत्ता, न्यौला और साँप के डालने वाले व्यक्ति पर तीन पण दण्ड निर्धारित किया गया है।^७ यदि मरे गधा, ऊँट, खच्चर, घोड़े आदि पशुओं को कोई व्यक्ति डाल देता है तो उस पर छः पण दण्ड निर्धारित किया है।^८ यदि कोई व्यक्ति अपने मृतक को नगर में पड़ा सड़ने देता है तो उस व्यक्ति पर पचास पण दण्ड होगा।^९ मृतक को निर्धारित मार्ग से श्मशान को न ले जाने तथा उसको नियत द्वार से न ले जानेवाले व्यक्ति पर पूर्वसाहस दण्ड विधान किया गया है।^{१०} जो द्वार रक्षक इस प्रकार ले जाते हुए शव को रोकता नहीं है उस पर दो सौ पण का दण्ड निर्धारित किया गया है।^{११} श्मशान के अतिरिक्त अन्य किसी स्थान पर यदि

- १—पांसुन्यासे रथ्यायामष्टभागो दण्डः ॥ वार्ता ३० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 २—पङ्कोदकसन्निरोधे पादः ॥ वार्ता ३१ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ३—राजमार्गे द्विगुणः ॥ वार्ता ३२ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ४—पुण्यस्थानोदकस्थानदेवगृहराजपरिग्रहेषु पणोत्तरा विष्टादण्डाः ॥ वार्ता ३३ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ५—मूत्रेष्वर्यदण्डाः ॥ वार्ता ३४ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ६—भैषज्यव्याधिभयनिमित्तमदण्डयाः ॥ वार्ता ३५ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ७—मार्जारश्वनकुलसर्पप्रेतानां नगरस्यान्तरुत्सर्गे त्रिपणो दण्डः ॥ वार्ता ३६ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ८—खरोष्ट्राश्वतराश्वपशुप्रेतानां षट्पणः ॥ वार्ता ३७ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ९—मनुष्यप्रेतानां पञ्चाशत्पणः ॥ वार्ता ३८ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 १०—मार्गं विपर्यसि शवद्वारादन्यतः शवनिर्णयने पूर्वः साहसदण्डः ॥ वार्ता ३९ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥
 ११—द्वाः स्थानां द्विषातम् ॥ वार्ता ४० अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

कोई व्यक्ति शव को जलाता है अथवा भूमि में गाड़ता है तो उस पर बारह पण दण्ड होना चाहिए।^१ इस प्रकार कौटिल्य ने नगर की स्वच्छता एवं नगरनिवासियों के स्वास्थ्य लाभ के लिए व्यवस्था की है।

इस प्रकार कौटिल्य ने पुर अथवा नगर में सुशासन की स्थापना हेतु एक योजना अर्थशास्त्र में दी है और जिसकी रूप-रेखा का उल्लेख ऊपर दिया गया है।

उत्तम जनपद के लक्षण—कौटिल्य ने राज्य की सात प्रकृतियों में एक प्रकृति जनपद को भी माना है।^२ महाभारत के शान्तिपर्व में भीष्म ने भी जनपद को राज्य का एक अंग माना है।^३ परन्तु मनु और शुक्र ने जनपद के स्थान में राष्ट्र शब्द का प्रयोग किया है।^४

कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में उत्तम जनपद के कतिपय विशेष लक्षण भी दिए हैं जो इस प्रकार हैं—जनपद के मध्य और अन्त में दुर्ग होने चाहिए, जो आपत्काल में अपने जनपद के निवासियों और बहार से आनेवाले व्यक्तियों के भोजन के लिए पर्याप्त धान्य प्रदान करने की सामर्थ्य रखता हो। इस जनपद में ऐसी नदियां और ऐसे पर्वत होने चाहिए जिनसे बाहरी आक्रमणकारियों से जनपद की रक्षा भली भांति हो सकती हो। जहां अल्प परिश्रम से ही अन्न की उपज हो सकती हो। उस जनपद में जनपद के शत्रुओं से द्वेष करनेवाली जनता वास करती हो। उसमें शक्ति सम्पन्न सामन्त होने चाहिए। कीचड़, पथर, ऊपर, विषम भूमि, कण्टकश्रेणी, सर्प, मृग आदि जन्तु और वन से रहित, नदी और सरोवरों से सम्पन्न, कृषि के योग्य भूमि, खान, उत्तम काष्ठ वाले वनों एवं हस्तिवन से संयुक्त, जहां का जलवायु गो और मनुष्यों के लिए उपयोगी, सुरक्षित गोचरभूमि से युक्त, पशुओं से सम्पन्न, सारयुक्त, विचित्र वस्तुओं से युक्त, परिश्रमी किसानों से युक्त, दण्ड कर को सहन कर लेने वाला, बुद्धिमान राजा से परिपालित, उत्तम वर्ण के लोगों से आवासित, भक्त (राजभक्त) एवं पवित्र आचरण वाले पुरुषों से युक्त जनपद उत्तम माना गया है। और इसी को

१—श्मशानादन्यत्रन्यासे दहने च द्वादशपणो दण्डः ॥

वार्ता ४१ अ० ३६ अधि० २ अर्थ० ॥

२—स्वाम्यमात्यजनपददुर्गकोशदण्डमित्राणि प्रकृतयः ॥

वार्ता १ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—आत्माऽमात्याश्चक्रोपाश्चदण्डोमित्राणि चैव हि ।

तथा जन पदाश्च पुरं च कुरुनन्दन ॥

एतत्सप्तात्मकं राज्यं परिपालयं प्रयत्नतः ॥ श्लोक ६५-६६ अ० ६६ शा० पर्व ॥

४—स्वाम्यमात्यौ पुरं राष्ट्रं कोपदण्डौ सुहृत्तथा ।

सप्तप्रकृत्यो ताः सप्ताङ्गं राज्यमुच्यते ॥ श्लोक २६४ अ० ६ मनुस्मृति ॥

स्वाम्यमात्यसुहृत्कोपराष्ट्रदुर्गबलानि च ।

सप्तांगमुच्यते राज्यं × × ॥

श्लोक ६१ अ० १ शुक्रनीति ॥

कौटिल्य ने जनपद सम्पद नाम से सम्बोधित किया है ।^१ इस प्रकार कौटिल्य ने इन शब्दों में उत्तम जनपद के मुख्य लक्षणों का उल्लेख किया है ।

जनपद का संघठन—जनपद किस प्रकार बसाया जाना चाहिए इस विषय पर कौटिल्य ने अपना मत प्रकट किया है और जो इस प्रकार है—पुराने अथवा नए जनपद के बसाने के लिए राजा को दूसरे जनपदों के लोगों को बुलाकर अथवा अपने ही जनपद के प्रान्तों को उलट-पलट कर बसा लेना चाहिए ।^२ जनपद की सब से छोटी बस्ती ग्राम माना है । ग्राम के उपरान्त कौटिल्य शासन की सुविधा हेतु दस ग्रामों के एक छोटे क्षेत्र के बनाने के पक्ष में हैं । दस ग्रामों के क्षेत्र को संघठित कर उसके मध्य में राजांश के संचय की सुविधा हेतु संग्रहण नाम के स्थान की स्थापना होनी चाहिए ।^३ ऐसा प्रतीत होता है कि संग्रहण नाम का एक कार्यालय होता होगा जहां दस ग्रामों से संचित किया हुआ राजांश का संग्रह किया जाता होगा । इसीलिए इस स्थान को कौटिल्य ने संग्रहण नाम से सम्बोधित किया है । दस-दस ग्रामों के इस प्रकार संघठित किए गए क्षेत्रों के ऊपर दो-दो सौ ग्रामों को एक सूत्र में गूँथकर एक क्षेत्र का निर्माण करना चाहिए । इस क्षेत्र के मध्य में खरवटक नाम की बस्ती बसानी चाहिए-ऐसा कौटिल्य का मत है ।^४ इस स्थान से इन दो सौ ग्रामों पर शासन किया जाना चाहिए और इन ग्रामों में संचित हुआ राजांश यहीं संग्रहीत होता होगा । इसके उपरान्त चार सौ ग्रामों का संघठन किया जाना चाहिए । इन चार सौ ग्रामों के मध्य में कौटिल्य द्रोणमुख नाम की बस्ती की स्थापना करने की व्यवस्था देते हैं ।^५ द्रोण-मुख नाम की बस्ती खरवटक नाम की बस्ती से अवश्य बड़ी रही होगी । इसके उपरान्त आठ सौ ग्रामों के संघठन के लिए कौटिल्य ने आदेश दिया है । इन आठ सौ ग्रामों के बीच में भी एक बस्ती बसायी जानी चाहिए जहाँ से इन ग्रामों पर शासन किया जा सके । इस बस्ती को कौटिल्य स्थानीय नाम से सम्बोधित करते हैं ।^६

१—मध्ये चान्ते च स्थानवानात्मधारणः परधारणश्चापदि स्वारक्तः स्वाजीवः
शत्रुद्वेषी शत्र्यसामन्तः पङ्कपाषाणोपरविषमकण्टकश्रेणीग्न्यालमृगाटवीहीनः
कान्तः सीताखनिद्रव्यहरितवनवान् रव्यः पौरुषेयो गुप्तगोचरः पशुमानदेवमातृ-
को वारिस्थलपथाभ्यामुपेतः सारचित्रबहुपण्यो दण्डकरसहः कमंशीलकर्मको-
ऽवाल्लिशस्वाम्रवरवर्णप्रायो भक्तशुचि मनुष्य इति जनपदसंपत् ॥

वार्ता ८ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—भूतपूर्वमभूतपूर्व वा जनपदं परदेशापवाहनेन स्वदेशाभिष्यन्दवमनेन वा
निवेशयेत् ॥

वार्ता १ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

३—दशग्रामीसंग्रहेण संग्रहणं स्थापयेत् ॥ वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

४—द्विशतग्राम्याखर्वटिकं × × × स्थापयेत् ॥ वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

५—चतुःशतग्राम्याद्रोणमुखं × × × स्थापयेत् ॥ वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

६—अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं × × स्थापयेत् ॥ वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

ऐसा प्रतीत होता है कि कौटिल्य ने जनपद के चार भाग करके एक-एक भाग में स्थानिक नाम के अध्यक्ष के नियत किए जाने का जो आदेश दिया है उस स्थानिक की राजधानी इसी बस्ती में होती थी। यही स्थानिक जनपद के चौथाई भाग पर शासन करता था और राजांश को अपने अधीन ग्राम से संग्रहीत करवा कर यहाँ संग्रहीत करता था और फिर समाहर्ता के पास भेजा करता था।^१

जनपद के सीमान्त पर दुर्ग बनवाने चाहिए जिनमें अन्तपाल नाम के अधिकारी (सीमारक्षक) नियुक्त करने चाहिए।^२ इन अन्तपालों का मुख्य कर्तव्य कौटिल्य के शब्दों में जनपद के शत्रुओं से जनपद की रक्षा करनी है। जनपद में प्रवेश के लिए द्वार निर्धारित हों और वह द्वार इन्हीं अन्तपालों के दुर्गों के पास से होने चाहिए—इस प्रकार की व्यवस्था होनी चाहिए।^३ अन्तपालों के दुर्गों के मध्य जनपद की सीमाओं पर व्याध, शबर, पुलिन्द, चाण्डाल तथा अन्य बनचर जाति के लोगों को बसाकर उन्हें जनपद की सीमाओं की रक्षा का भार सौंप देना चाहिए।^४ इस प्रकार कौटिल्य ने जनपद की रक्षा एवं जनपद में बसनेवाले लोगों की विभिन्न वस्तियों की स्थापना की योजना दी है।

मनु और भीष्म ने जनपद (राष्ट्र) के संघटन के विषय में जो योजना दी है उसमें और कौटिल्य द्वारा दी गयी तत्सम्बन्धी योजना में कुछ अन्तर है। मनु और भीष्म दोनों ने ग्राम, दस ग्राम, बीस ग्राम, सौ ग्राम और सहस्र ग्रामों के संघटनों के निर्माण का आदेश दिया है और तदनुसार इनके क्रमशः ग्रामिक, दश ग्रामाधिपति, विंशत्याधिपति, शतग्रामाधिपति एवं सहस्रग्रामाधिपतियों की नियुक्ति की व्यवस्था दी है।^५ जो कौटिल्य द्वारा दिये गए जनपद-संघटन सम्बन्धी क्षेत्रों एवं उनके अधिपतियों से कुछ भिन्न है।

ग्राम—कौटिल्य जनपद की इकाई ग्राम मानते हैं। ग्राम किस प्रकार, कहाँ और कैसे बसाए जाने चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने संक्षेप में वर्णन दिया है। ग्रामों के बसाने में उनकी रक्षा और कृषिकार्य की सुविधा की ओर विशेष ध्यान दिया गया है। कौटिल्य का मत है कि जनपद में एक अथवा दो कोस के अन्तर पर ग्राम

१—जनपदवतुर्भागं स्थानिकः चिन्येत् ॥ वार्ता ७ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

२—अन्तेष्वन्तपालदुर्गाणि ॥ वार्ता ५ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

३—जनपदद्वाराण्यन्तपालाधिपतिष्ठानि स्थापयेत् ॥ वार्ता ६ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

४—तेषामन्तराणिवागुरिकशबरपुलिन्दचण्डालारण्यचरा रक्षेयुः ॥

वार्ता ७ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

५—ग्रामस्याधिपतिं कुयादृशग्रामपतिं तथा विंशतीशं शतेशं च सहस्रपतिरेव च ॥

श्लोक ११५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

ग्रामस्याधिपतिः कार्यं दशग्रामास्तथापरः ।

द्विगुणायाः शतस्यैवं सहस्रस्य च कारयेत् ॥ श्लोक ३ अ० ८७ शा० पर्व ॥

की स्थापना करनी चाहिए जिससे ग्राम पारस्परिक रक्षा करने में समर्थ रहें।^१ उनके मतानुसार ग्राम में शूद्र वर्ण के लोगों और किसानों की संख्या अन्य लोगों से अधिक होनी चाहिए। इसका हेतु कौटिल्य यह मानते होंगे कि ग्राम कृषि-प्रधान वस्ती होती है इस लिए इस प्रकार की वस्ती में कृषि कार्य करने वाले एवं इस कार्य से सम्बन्धित अन्य कार्यों के करनेवालों तथा उनमें सहायता देनेवालों की संख्या का अन्य लोगों की संख्या से अधिक होना ही न्यायसंगत होगा। कौटिल्य के आदर्श ग्राम में कम से कम एक सौ और अधिक से अधिक पाँच सौ कुल (Families) होने चाहिए।^१ प्रत्येक ग्राम की सीमाएँ निर्धारित होनी चाहिए। नदी, पर्वत, वन, बेर के वृक्ष, खाई, सेतु, सेमर, शमी, बट अथवा गूलर आदि वृक्षों के द्वारा ग्राम सीमा निर्धारित कर देना चाहिए।^२

ग्राम की सीमा के निर्धारित करने के विषय में मनु ने भी लगभग कौटिल्य के समान ही विचार प्रकट किए हैं। उन्होंने ग्राम सीमा के निर्धारित करने के विषय में मानवधर्मशास्त्र में इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—ग्राम सीमा को बट, पीपल, पलाश, सेमर, शाल तथा अन्य दूधवाले वृक्षों के द्वारा चिह्नित कर देना चाहिए।^३ गुल्म, नाना प्रकार के बाँस, शमी, बेलि के स्थल, जलाशय, कुंज आदि स्थापित करने चाहिए जिससे ग्राम सीमाएँ नष्ट न होने पाएँ।^४ तडाग, पीनेवाले जल की प्राप्ति के उपयुक्त अन्य साधन, बावली, झरने, देवस्थान आदि ग्रामों की सीमा-सन्धि पर बनवा देने चाहिए।^५ इस प्रकार ग्रामसीमा के निर्धारित करने के विषय में कौटिल्य और मनु दोनों समान मत रखते हैं।

ग्राम में शासन व्यवस्था—ग्राम में शासन व्यवस्था के विधिवत संचालन हेतु कौटिल्य ने ग्रामिक नाम के ग्राम के एक अधिकारी की नियुक्ति की ओर संकेत किया है। अर्थशास्त्र में जो ग्राम सम्बन्धी वर्णन दिया है उससे यह स्पष्ट नहीं होता कि ग्रामिक नाम का ग्राम का अधिकारी राजकीय कर्मचारी होता था अथवा ग्राम की

१—शूद्रकर्षकप्रायं कुलशतावरं पञ्चशतकुलपरं ग्रामं क्रोशद्विक्रोशसीमानमन्योन्यारक्षं निवेशयेत् ॥
वार्ता २ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

२—नदीशैलवनगृष्टिद्वीसेतुबन्धशालमलीशमीक्षीरवृक्षानन्तेषु सीमां स्थापयेत् ॥
वार्ता ३ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

३—सीमावृक्षाश्च कुर्वीत न्यग्रोधाश्चैव किशुकान् ।

शालमलीन्शालतालांश्च क्षीरिणारक्षैव पादपान् ॥

श्लोक २४६ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

४—गुल्मान्वेषूश्च विविधान्क्षमीबलीस्थलानि च ।

शरान्कुञ्जगुल्मश्च तथासीमाननश्यति ॥ श्लोक २४७ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—तडागान्युदपाननिवाप्यः प्रलवणानि च ।

सीमासन्धिषु कार्याणिदेवतायतनानि च ॥ श्लोक २४८ अ० ८ मानवधर्मशास्त्र ॥

जनता की ही प्रतिनिधि होता था। परन्तु ऐसा अनुमान किया जाता है कि यह राजकीय कर्मचारी अवश्य रहा होगा। मनु, भीष्म और शुक्र ने भी ग्राम के अधिकारी को ग्रामिक नाम से सम्बोधित किया है और उन्होंने यह आदेश दिया है कि इस अधिकारी की नियुक्ति राजा द्वारा होनी चाहिए।

ग्राम में ग्रामिक का पद बड़ा महत्वपूर्ण माना जाता था। कौटिल्य ने यह आदेश दिया है कि यदि ग्रामिक ग्राम के कार्य के निमित्त ग्राम से बाहर जाए तो ग्राम के लोगों (मुख्य व्यक्तियों) को उसके साथ जाना चाहिए।^१ ग्रामिक ग्राम-वृद्धों की सहायता से ग्राम में शासन करता था। यदि ग्राम के निवासियों में किसी प्रकार का विवाद खड़ा हो जाए तो उसका निर्णय ग्राम-वृद्धों को कर देना चाहिए।^२ इसी प्रकार ग्राम में यदि कोई ऐसा बालक है जिसके पास सम्पत्ति है परन्तु उसके माता-पिता कोई नहीं हैं, ऐसी दशा में उस बालक की सम्पत्ति ग्राम-वृद्धों के पास रहनी चाहिए। वह ग्रामवृद्ध उस सम्पत्ति को बढ़ाते रहें और जब वह बालक प्रास्तव्यवहार (major) हो जाए तो ग्राम-वृद्धों को उसकी समस्त सम्पत्ति को उसे सौंप देना चाहिए।^३ इसी प्रकार देव-सम्पत्ति (मन्दिरों आदि में लगी सम्पत्ति) भी ग्राम-वृद्धों के अधिकार में ही होनी चाहिए।^४ कौटिल्य द्वारा दी गयी उपर्युक्त व्यवस्थाओं से यह स्पष्ट विदित होता है कि ग्राम के सुशासन का प्रबन्ध ग्रामिक एवं ग्राम-वृद्धों के द्वारा संचालित होता था। परन्तु इसका यह अर्थ कभी नहीं है कि ग्रामिक ग्राम में मनमानी करने का अधिकारी था। उसको भी निर्धारित नियमों के अनुसार ही ग्राम के शासन कार्य का सम्पादन करना होता था। कौटिल्य यह व्यवस्था देते हैं कि यदि ग्रामिक अपने अधीन ग्राम से चोर अथवा व्यभिचारी के अतिरिक्त किसी अन्य व्यक्ति (भले मनुष्य) को बाहर निकाल दे तो उस ग्रामिक पर चौबीस पण दण्ड होना चाहिए।^५

इस प्रकार ग्राम के शासन का भार ग्रामिक नाम के पदाधिकारी पर आश्रित था और वह ग्राम-वृद्धों की सहायता से ग्राम का शासन करता था।

पञ्चग्रामी—अर्थशास्त्र में पञ्चग्रामी नाम के राजकर्मचारी का भी उल्लेख है। इससे ऐसा ज्ञात होता है कि कौटिल्य ने पाँच ग्रामों के सामूहिक जीवन को संघठित करने के लिए पाँच-पाँच ग्रामों को एक-एक सूत्र में गूँथ कर जनपद में पाँच-पाँच ग्रामों

१—ग्रामार्थेन ग्रामिकं व्रजन्तमुपवासाः पर्यायेणानुगच्छेयुरननुगच्छन्तः पर्यार्धपणिकं

योजनं दशुः ॥

वार्ता २६ अ० १० अधि० ३ अर्थ० ॥

२—क्षेत्रविवादं सामन्तग्रामवृद्धाः कुर्युः ॥ वार्ता १६ अ० १ अधि० ३ अर्थ० ॥

३—बालद्रव्यं ग्रामवृद्धा वर्धयेयुस्त्यवहारप्रापणात् ॥

वार्ता ३२ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

४—देवद्रव्यं च ॥

वार्ता ३१ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

५—ग्रामिकस्य ग्रामादस्तेनपारदारिकं निरस्यश्चतुर्विंशतिपण्यो दण्डः ॥

वार्ता २७ अ० १० अधि० ३ अर्थ० ॥

के शासन क्षेत्रों के निर्माण की भी योजना की थी। उन्होंने एक प्रसंग में यह आदेश दिया है कि यदि दो अथवा दो से अधिक ग्रामों में पारस्परिक सीमा सम्बन्धी विवाद खड़ा हो जाए तो इस प्रकार के विवाद का निर्णय पञ्चग्रामी अथवा दशग्रामी नाम के पदाधिकारी को कर देना चाहिए।^१ इसी प्रकार जनपद में राजांश के सञ्चय हेतु व्यवस्था की स्थापना करते हुए कौटिल्य ने यह आदेश दिया है कि समाहर्ता (Collector-General) द्वारा नियुक्त किया हुआ पञ्चग्रामी अथवा दशग्रामी गोप नाम के पदाधिकारी अपने अपने अधीन ग्रामों की देख-रेख करते रहें। इससे यह स्पष्ट विदित होता है कि पाँच और दश ग्रामों के सुशासन हेतु पञ्चग्रामी एवं दशग्रामी गोप नाम के पदाधिकारी होते थे जिनकी नियुक्ति समाहर्ता के परामर्श से राजा द्वारा होती थी।^२

खार्वटिक—कौटिल्य के मतानुसार दो सौ ग्रामों के मध्य इन ग्रामों के शासन हेतु केन्द्र स्थान होता चाहिए जिसको उन्होंने खार्वटिक नाम से सम्बोधित किया है।^३ खार्वटिक का स्वरूप कौटिल्य के मतानुसार क्या रहा होगा इस विषय के बोध कराने के लिए अर्थशास्त्र में प्रामाणिक सामग्री का सर्वथा अभाव है अतः खार्वटिक के वास्तविक स्वरूप के विषय में कुछ भी सप्रमाण कहा नहीं जा सकता। मार्कण्डेय पुराण में जनपद की विभिन्न वस्तियों का उल्लेख करते हुए खार्वटिक का भी संक्षिप्त वर्णन दिया गया है। इस वर्णन के आधार पर खार्वटिक उस बस्ती को माना गया है जो खेटक की आधी या पुर की चौथाई हो।^४ यह बस्ती प्राकार और परिखा रहित नगरी बतलायी गयी है।^५ इस प्रकार मार्कण्डेय पुराण के अनुसार खार्वटिक से तात्पर्य उस बस्ती से है जो प्राकार और परिखा रहित हो और पुर की चौथाई बस्ती हो।

द्रोणमुख—खार्वटिक बस्ती के ऊपर इससे अधिक महत्त्वपूर्ण बस्ती बतलायी गयी है जो चार सौ ग्रामों का शासन केन्द्र थी और जिसको कौटिल्य ने द्रोणमुख नाम से सम्बोधित किया है।^६ द्रोणमुख बस्ती के स्वरूप के विषय में भी कौटिल्य मौन हैं। अतः कौटिल्य के मतानुसार द्रोणमुख का जो भी स्वरूप रहा हो उसको स्थिर नहीं

- १—सीमाविवादं ग्रामयोरुभयोः सामन्ताः पञ्चग्रामी दशग्रामी वा सेतुभिः स्थावरैः कृत्रिमैर्वा कुर्यात् ॥
वार्ता ११ अ० ६ अधि० ३ अर्थ० ॥
- २—तत्प्रदिष्टः पञ्चग्रामीं दशग्रामीं वा गोपश्चिन्तयेत् ॥
वार्ता २ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥
- ३—द्विशतग्राम्या खार्वटिकं × × × स्थापयेत् ॥
वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥
- ४—तत्पादेन च खर्वटम् ॥
श्लोक ४५ अ० ४६ मार्कण्डेय पुराण ॥
- ५—प्राकारपरिखाहीनं पुरम् खर्वटमुच्यते ॥
श्लोक ४६ अ० ४६ मार्कण्डेय पुराण ॥
- ६—चतुःशतग्राम्या द्रोणमुखं × × × स्थापयेत् ॥
वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

किया जा सकता। परन्तु इतना निश्चित है कि द्रोणमुख नाम की वस्ती खार्वाटिक वस्ती से आकार एवं महत्त्व दोनों की दृष्टि से बड़ी अवश्य रही होगी।

स्थानीय—जनपद में आठ सौ ग्रामों के शासन केन्द्र को कौटिल्य ने स्थानीय नाम से सम्बोधित किया है।^१ इस वस्ती का सबसे बड़ा अधिकारी स्थानिक बतलाया गया है।^२ अर्थशास्त्र में एक प्रसंग में इस अधिकारी के विषय में यह बतलाया है कि जनपद के चतुर्थांश की देख-रेख स्थानिक को करनी चाहिए।^३ इस प्रकार यह स्पष्ट है कि स्थानीय नाम की वस्ती जनपद के चतुर्थांश का शासन-केन्द्र होती थी और जिसका सबसे बड़ा पदाधिकारी स्थानिक होता था।

कौटिल्य ने एक प्रसंग में यह भी व्यवस्था दी है कि जनपद के इन कर्मचारियों को इनकी सेवाओं के लिए वेतन के स्थान में भूमि प्रदान करनी चाहिए। परन्तु उनको इस भूमि (जागीर) के विक्रय एवं गिरवी रखने का अधिकार नहीं दिया गया है। इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—राजा को जनपद में विभिन्न अध्यक्षों एवं सांख्यिक आदि तथा गोप, स्थानिक, सेनापति (अनीकस्थ), चिकित्सक, अश्वशिक्षक और दूत कर्म करनेवाले एवं सैनिक को भी भूमि प्रदान करना चाहिए। परन्तु उनको इस भूमि के बेचने अथवा गिरवी रखने (विक्रयाधान) का अधिकार नहीं होना चाहिए।^४

१—अष्टशतग्राम्या मध्ये स्थानीयं × × × स्थापयेत् ॥

वार्ता ४ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

२—× × गोपस्थानिक × × × वर्जम् ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

३—एवं च जनपद चतुर्भागे स्थानिकः चिन्त्येत् ॥ वार्ता ७ अ० ३५ अधि० २ अर्थ० ॥

४—अथयत्संख्यायकादिभ्यो गोपस्थानिकानीकस्थ चिकित्साश्वदमकजङ्घाकरिकेभ्यश्च विक्रयाधानवर्जम् ॥

वार्ता १ अ० १ अधि० २ अर्थ० ॥

एकादश अध्याय

लोकतन्त्रात्मक राज्य

कौटिल्य और लोकतन्त्रात्मक राज्य—कौटिल्य के अर्थशास्त्र के अध्ययन कर लेने के उपरान्त यह स्पष्ट ज्ञात हो जाता है कि इस ग्रन्थ के रचयिता नृपतन्त्रात्मक राज्य के पोषक थे। उनके जीवन का उद्देश्य समस्त भारत में एक सशक्त एवं सम्पन्न राज्य का निर्माण करना था। वह लोकतन्त्रात्मक राज्यों को अच्छा नहीं समझते थे। यही कारण है कि उन्होंने अर्थशास्त्र में लोकतन्त्रात्मक राज्य एवं उनकी सरकारों की ओर उपेक्षा की है। परन्तु इतना होने पर भी उन्हें अपने इस ग्रन्थ में यह तो स्वीकार करना ही पड़ा है कि अर्थशास्त्र के रचना काल एवं उसके पूर्व भारत में कुछ ऐसे भी राज्य थे जिनमें लोकतन्त्रात्मक सिद्धान्तों के आधार पर शासन कार्य सम्पादित होता था।

यूनानी राजदूत मेगास्थनीज ने भी अपनी इण्डिका नाम की पुस्तक में ऐसा उल्लेख किया है जिससे ज्ञात होता है कि उसके समय में भारत में कतिपय गणराज्य (Republics) भी थे।

वैराज्य (प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य)—अर्थशास्त्र में एक प्रसंग में द्वैराज्य और वैराज्य के कतिपय विशेष लक्षणों का उल्लेख किया गया है। इन दोनों प्रकार के राज्यों में किस राज्य को अच्छा माना जाए इस विषय में कौटिल्य ने अपने से पूर्व के कतिपय आचार्यों के मत देते हुए अपना मत प्रकट किया है। इन मतों का गम्भीरता पूर्वक अध्ययन करने के उपरान्त इन राज्यों के वास्तविक स्वरूप का स्थिर कर लेना सरल काम हो जाता है। इस प्रसंग में आचार्य कौटिल्य अन्य आचार्यों के मत देते हुए लिखते हैं—द्वैराज्य और वैराज्य में द्वैराज्य शीघ्र नष्ट हो जाता है क्योंकि एक ही राज्य में दो राजा होने से उन दोनों पक्षों में पारस्परिक राग-द्वेष से अथवा पारस्परिक संघर्ष के कारण द्वैराज्य शीघ्र नाश को प्राप्त होता है।^१ परन्तु वैराज्य प्रजा के चित्त के अनुकूल चलता हुआ सबके भोगने योग्य होता है—ऐसा आचार्य गण मानते हैं।^२

इस प्रकार इन आचार्यों के वैराज्य सम्बन्धी विचारों की भली-भांति विवेचना कर लेने पर यह निष्कर्ष निकलता है कि वैराज्य राजारहित राज्य थे। वैराज्य शब्द अराजकता के अर्थ में यहाँ प्रयुक्त नहीं हुआ है। क्योंकि अराजकता में प्रजा में सुख और

१—द्वैराज्यवैराज्ययोर्द्वैराज्यमन्योन्यपक्षे पापुरागाभ्यां परस्परसंघर्षेण वा

विनश्यति ॥

वार्ता ६ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

२—वैराज्यं तु प्रकृतिचित्तग्रहणपेक्षि यथास्थितमन्यैर्भुज्यत इत्याचार्याः ॥

वार्ता ७ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

शान्ति नहीं रहती। अराजकता लोकप्रिय नहीं हो सकती। अराजक भूभाग में राज्य नहीं होता।^१ परन्तु इस प्रसंग में दो प्रकार के राज्यों की तुलना की गयी है और तुलना करते हुए इन आचार्यों ने वैराज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की है। उन्होंने वैराज्य को अच्छा राज्य इस हेतु बतलाया है कि ऐसा राज्य जनता के चित्त के अनुकूल होता है। इस दृष्टि से वैराज्य राजा रहित लोकप्रिय समस्त जनता के उपभोग की क्षमता रखने वाला राज्य था। दूसरे शब्दों में इस राज्य में राज्य की प्रभुता का भोग जनता करती है। इस प्रकार ऐसे राज्यों को लोकसत्तात्मक अथवा लोकतन्त्रात्मक राज्य कहना ही न्यायसंगत होगा क्योंकि इस प्रकार के राज्यों में राजसत्ता अथवा राज्य की प्रभुता का भोग व्यक्ति विशेष अथवा व्यक्तिमूह विशेष न करता था परन्तु राज्य के समस्त निवासी उसके भोगने का अधिकार रखते थे। ऐसी परिस्थिति में यह मानना ही पड़ेगा कि कौटिल्य के अर्थशास्त्र में जिस वैराज्य का उल्लेख किया गया है वह लोक-तन्त्रात्मक राज्य था और जो नृपतन्त्रात्मक राज्यों से नितान्त भिन्न था।

आचार्य कौटिल्य ने इन आचार्यों के मतों का खण्डन करते हुए अपने मत की पुष्टि इस प्रकार की है—वैराज्य की कलह पिता-पुत्र अथवा दो भायियों के मध्य होती है। यह कलह एक ही कुल की होने के कारण इनका एक ही स्वार्थ होता है इस लिए मंत्रियों के द्वारा इसका शीघ्र निर्णय किया जा सकता है।^३ वैराज्य को समग्ररूप में छीन कर विजयी राजा अपना न मानकर क्षीण कर देता है और अपने राज्य में मिला लेता है,^४ अथवा उसका विक्रय कर देता है।^५ यदि इस राज्य (वैराज्य) के निवासी विरक्त हो गए तो वह ऐसे राज्य को त्याग कर चला जाता है।^६

उपर्युक्त कथन से ज्ञात होता है कि द्वैराज्य एक ही कुटुम्ब के दो व्यक्तियों द्वारा शासित राज्य होते थे। चाहे वह व्यक्ति पिता-पुत्र हों अथवा भाई-भाई जिनके मध्य होने वाली कलह कुटुम्बिक कलह होने के कारण उनके मंत्रियों के द्वारा सरलता पूर्वक निपटायी जा सकती थी। ऐसे राज्यों पर बाह्य शत्रुओं के द्वारा इतनी सरलता पूर्वक विजय प्राप्त नहीं की जा सकती थी जितनी सरलता से वैराज्यों पर विजय प्राप्त की जा सकती थी। विजेता राजा वैराज्य को अपना नहीं समझता था—ऐसा कौटिल्य ने माना है। यह कथन इस सिद्धान्त की स्थापना करता है कि वैराज्य नृप-तन्त्रात्मक राज्य से भिन्न राज्य होता था। अतः विजेता राजा वैराज्य को अपना न

१—अराजकं हि नो राष्ट्रम् ॥

इलोक ८ अ० ६७ अयोध्या काण्ड ॥

२—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता ८ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

३—पितापुत्रयोर्भाओर्वा द्वैराज्यं तुल्ययोगक्षेमममात्यावग्रहं वर्तयेतेति ॥

वार्ता ६ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

४—वैराज्ये तु जीवतः परस्याच्छिद्य नैतन्ममेति मन्यमानः कर्शयत्यपवाहयति ॥

वार्ता १० अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

५—पण्यं वा करोति ॥

वार्ता ११ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

६—विरक्तं वा परित्यज्यापगच्छतीति ॥

वार्ता १२ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

समझकर उस राज्य को क्षीण कर देता था अर्थात् उसके साथ क्रूरता का व्यवहार करता था। कौटिल्य का यह कथन स्वाभाविक है। दो असमान सिद्धान्तों के आधार पर संघठित किए जानेवाले राज्यों में इस प्रकार का व्यवहार होना ही चाहिए। विजेता राजा यह प्रयत्न करता ही है कि विजित राज्य में उसी प्रकार की शासन प्रणाली स्थापित की जानी चाहिए जैसी कि विजेता राजा के राज्य में प्रचलित होती है। इस उद्देश्य की पूर्ति के निमित्त वह विजित राज्य के प्रति क्रूरता-पूर्ण व्यवहार भी करता है। इतिहास इस बात का साक्षी है। योरोप में आधुनिक युग में सबसे बड़ी समस्या यही रही है। विश्व का प्रत्येक राज्य इस ओर निरन्तर प्रयत्नशील दिखलाया पड़ता है कि विश्व के विभिन्न भू-भागों में ऐसे राज्यों की स्थापना होनी चाहिए जो कि शासन प्रणाली की दृष्टि से समान हो। इसी उद्देश्य के लिए विश्वव्यापी युद्ध भी होते रहे हैं। संयुक्त राज्य अमरीका और साम्यवादी रूस राज्य में जो आज पारस्परिक प्रति द्वन्द्वता एवं कलह के चिन्ह दिखलाया पड़ रहे हैं उसका मूल कारण यही है कि इन दोनों राज्यों के मूल सिद्धान्तों में असमानता है। इसलिए कौटिल्य के उपर्युक्त कथन से विदित होता है कि वैराज्य नृपतन्त्रात्मक राज्यों से भिन्न राज्य अवश्य रहे होंगे। इस विषय में कौटिल्य दूसरी बात यह कहते हैं कि इस प्रकार के राज्यों (वैराज्यों) को विजेता राजा अपने राज्य में सम्मिलित कर लेता है। परन्तु कौटिल्य ने अपने इसी ग्रन्थ में एक स्थल पर पराजित राजा के प्रति विजेता राजा का कैसा व्यवहार होना चाहिए इस विषय में अपना मत प्रकट करते हुए इस प्रकार लिखा है—इस (पराजित राजा) की भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा को कभी अधिकार नहीं करना चाहिए किन्तु पराजित राजा के वंशजों को उनकी योग्यता के अनुसार उचित पद पर नियुक्त कर देना चाहिए। यदि युद्ध में शत्रु राजा मारा जाए तो उस राजा के पुत्र को ही उसके राज्य पर आसीन कर देना चाहिए।^१ परन्तु कौटिल्य के इन दोनों मतों में बड़ा अन्तर है। इस का समाधान तभी हो सकता है जब कि ऐसा मान लिया जाए कि वैराज्य लोकतन्त्रात्मक राज्य थे अन्यथा कौटिल्य इन राज्यों को विजेता राजा के राज्य में सम्मिलित करने का आदेश कदापि न देते।

वैराज्य के विषय में कौटिल्य तीसरी विशेष बात यह बतलाते हैं कि इन राज्यों की जनता को विजेता राजा के प्रति विरक्त हो जाने की भी सम्भावना रहती थी और उनकी यह वृत्ति इस पराकाष्ठा तक भी पहुँच जाती थी कि उन पर विजेता राजा द्वारा शासन किया जाना असम्भव हो जाता था। इसका परिणाम यह होता था कि इस राज्य के लोगों को विजेता राजा अपने नियंत्रण में ले आने में असमर्थ समझ कर उसको इस पराजित राज्य को त्याग कर चले जाने के लिए विवश हो जाना पड़ता

१—न च हतस्य भूमिद्रव्य पुत्रद्वाराभिगम्यते ॥

वार्ता ४२ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

कुल्यानप्यस्य श्वेषु पात्रेषु स्थापयेत् ॥ वार्ता ४३ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

कर्मणि मृतस्य पुत्रं राज्ये स्थापयेत् ॥ वार्ता ४४ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

था। इस वर्णन से भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है कि वैराज्य लोकतन्त्रात्मक राज्य थे जिनमें राज्य की प्रभुता राज्य के निवासियों के अधीन थी और वहाँ के निवासी नृपतन्त्रात्मक राज्यों के नितान्त विरोधी थे।

इस प्रकार इस सिद्धान्त की स्थापना हो जाती है कि कौटिल्य के समय में कुछ ऐसे राज्य अवश्य रहे होंगे जो जनतन्त्रात्मक शासन विधान के आधार पर संघठित एवं संचालित थे और जिनको उन्होंने आदर की दृष्टि से न देखकर उपेक्षा की दृष्टि से देखा है। इन राज्यों के प्रति कौटिल्य द्वारा इस प्रकार का व्यवहार उचित ही था क्योंकि वह लोकतन्त्रात्मक राज्यों के पोषक न थे। साम्राज्यवादी प्रत्येक व्यक्ति लोकतन्त्रात्मक राज्यों के प्रति इसी प्रकार का व्यवहार करेगा इसमें लेश मात्र भी सन्देह नहीं है।

वैराज्य शब्द की व्युत्पत्ति करने पर भी इसी सिद्धान्त की पुष्टि होती है। वैराज्य संस्कृत के विराज शब्द से बना है जिसकी प्राप्ति “वि” और “राज” के संयोग से होती है। “वि” उपसर्ग है जिसका अर्थ यहाँ “विगत” है। इस प्रकार वैराज्य की व्युत्पत्ति विगत राजकं वैराज्यं होगी जिसके अनुसार वैराज्य वह राज्य होगा जिसमें राजा नहीं होगा। इस प्रकार संस्कृत भाषा के व्याकरण शास्त्र के अनुसार वैराज्य को राजा रहित राज्य के अर्थ में लेना न्यायसंगत होगा। महाभारत में भी वैराज्य को एक विशेष प्रकार का राज्य माना है जिसका अधिपति राजा नहीं होता।^१ ऐतरेय ब्राह्मण में भी वैराज्य को एक विशेष प्रकार का राज्य बतलाया गया है और जो नृपतन्त्रात्मक राज्य से भिन्न माना गया है।^२ इस प्रकार यह निश्चय पूर्वक कहा जा सकता है कि वैराज्य लोकतन्त्रात्मक राज्यों में एक विशेष प्रकार के राज्य थे जिनको प्रत्यक्ष लोकतन्त्रात्मक राज्य (Direct Democratic State) से समानता दी जा सकती है।

संघनीति—कौटिल्य ने वैराज्य के अतिरिक्त कतिपय अन्य प्रकार के लोकतन्त्रात्मक राज्यों का भी उल्लेख किया है। इन राज्यों के विषय में उल्लेख करते हुए उन्होंने संघनीति पर विशेष प्रकाश डाला है। इसलिए इन लोकतन्त्रात्मक राज्यों के विषय में वर्णन देने के पूर्व कौटिल्य द्वारा प्रतिपादित संघनीति का संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जायगा।

प्रत्येक राज्य के समक्ष सबसे जटिल समस्या उसकी रक्षा का प्रश्न होता है। इस समस्या को सफलतापूर्वक सुलझाने के लिए राज्य को अनेक प्रकार की शक्तियों का संचय करना आवश्यक होता है। इन शक्तियों में सैन्यबल और मित्रबल प्रमुख स्थान

१—न वैराज्यं न राजा ऽऽसीन्न न च दण्डः न दारिद्र्यकः ॥

श्लोक १४ अ० ५६ शा० पर्व ॥

२—तानहमनु राज्याय साम्राज्याय भौज्याय स्वाराज्याय वैराज्याय × × × ॥

ऐतरेय ब्राह्मण ॥

रखते हैं। परन्तु कौटिल्य ऐसा नहीं मानते हैं। उन्होंने सैन्यबल और मित्रबल की अपेक्षा संघलाभ अधिक उपयोगी माना है।^१ उनका मत है कि जो राज्य संघवृत्त नियम के आधार पर संघठित होकर संघ बना लेते हैं उनका संघठन स्थायी होता है और वह शत्रु द्वारा दबाए नहीं जा सकते।^२ उन्होंने संघवृत्त सिद्धान्त के आधार पर संघठित राज्यों के लिए साम और दान की व्यवस्था दी है।^३ संघवृत्त सिद्धान्त के आधार पर संघठित राज्यों में शान्ति और उदारता का व्यवहार होना चाहिए। ऐसे राज्यों में एक दूसरे को समझा बुझाकर एवं पारस्परिक सहयोग की नीति का पालनकर कार्य करना चाहिए। यदि संघ में किसी प्रकार भेद उत्पन्न हो जाय तो ऐसी दशा में कौटिल्य के मत से दण्ड और भेद नीति का आश्रय लेना उचित होगा।^४ कौटिल्य के इस कथन से ऐसा विदित होता है कि वह ऐसे अवसरों पर संघवृत्त सिद्धान्त के आधार पर संघठित राज्यों में भेद उत्पन्न कर संघ से वियुक्त होने की इच्छा रखने वाले राज्यों को संघठित न होने दें इस प्रकार की व्यवस्था देखकर संघ से वियुक्त होनेवाला राज्य अपने को असहाय समझकर पुनः उसी संघ में संयुक्त रहने के लिए बाध्य हो जाएगा। यदि वियुक्त होनेवाला राज्य संघ-नियम को तोड़ता है और भेद नीति से भी वह संघ-नियम के पालन करने में असमर्थता प्रकट करता हुआ संघविच्छेद करता है तो ऐसी दशा में संघ के अन्य राज्य उसे दण्डित करें और उसे संघ के नियम पालन करने के लिए विवश करें। सम्भवतः इसी दृष्टिकोण से कौटिल्य ने भेद और दण्डनीति का विधान इस प्रकार के संघराज्यों के लिए किया है।

संघराज्य—कौटिल्य के समय में राज्यों के कतिपय संघ थे। जो राज्य इन संघराज्यों में संघीभूत हुए थे वह क्षेत्र की दृष्टि से बहुत छोटे थे। इनके समक्ष सब से गहन समस्या इनकी रक्षा का प्रश्न था। इन में से कुछ राज्यों ने अपनी रक्षा सम्बन्धी इस गहन समस्या को संघवृत्तनीति को अपनाकर सुलझाने का प्रयत्न किया था। कौटिल्य के अर्थशास्त्र में इस प्रकार के संघों की ओर संकेत किया गया है। इन में से कुछ ऐसे संघ थे जिनमें वह गणराज्य सम्मिलित थे जिनकी जनता कृषि और व्यापार (वार्ता) एवं शस्त्रों के द्वारा अपनी जीविका कमाती थी। सम्भव है इन राज्यों की जनता को सैनिक शिक्षा की प्राप्ति अनिवार्य रही होगी क्योंकि छोटे राज्यों की रक्षा के लिए यह सम्भव नहीं कि वह इतनी बड़ी सेना राज्य की ओर से रख सकें जिसके द्वारा वह बाह्य आक्रमणों से अपनी रक्षा कर सकते। ऐसी परिस्थिति में सब से सुगम साधन यही सम्भव था कि ऐसे राज्यों में राज्य की ओर से ऐसी व्यवस्था की जाती कि राज्य के प्रत्येक प्राप्त व्यवहार (Major) व्यक्ति के लिए सैनिक शिक्षा की प्राप्ति अनिवार्य कर दी जाती जिससे समय पड़ने पर राज्य का प्रत्येक नागरिक अपने राज्य की

१—संघलाभो दण्डमित्रबलमाभानामुत्तमः ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० ११ अर्थ० ॥

२—संघा हि संहतत्वादधृष्याः परेयाम् ॥ वार्ता २ अ० १ अधि० ११ अर्थ० ॥

३—ताननुगुणान्मुञ्जीत सामदानाभ्याम् ॥ वार्ता ३ अ० १ अधि० ११ अर्थ० ॥

४—त्रिगुणान्भेददण्डाभ्याम् ॥ वार्ता ४ अ० १ अधि० ११ अर्थ० ॥

रक्षा के निमित्त सन्नद्ध रहता । ऐसे राज्यों में स्थायी सेना नाम के लिए ही होती होगी । युद्ध काल में समस्त नागरिक सैनिक रूप में परिणत होकर अपने राज्य की रक्षा के लिए कटिबद्ध होकर रणक्षेत्र में उपस्थित हो जाते होंगे । यूनान देश के सुप्रसिद्ध वीर योद्धा सिकन्दर महान को भारत में आक्रमण करते समय कई ऐसे राज्यों से युद्ध करना पड़ा था जहाँ राज्य के नागरिकों ने युद्धस्थल में सिकन्दर के वीर सिपाहियों के दान्त खट्टे कर दिए थे । इस प्रकार के राज्यों का उदाहरण देते हुए कौटिल्य ने इसी प्रकार के चार राज्यों के नाम अपने अर्थशास्त्र में दिए हैं । यह काम्बोज, सुराष्ट्र, क्षत्रिय और श्रेणी नाम के राज्य थे जिनको कौटिल्य ने शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया है ।^१ ऐसा ज्ञात होता है कि अर्थशास्त्र में वर्णित यह शस्त्रोपजीवि संघ पाणिनि के वाहीक देश में स्थित आयुधजीवि सत्रों के समान ही थे जिनमें प्रत्येक प्राप्तव्यवहार (Major) नागरिक को सैनिक शिक्षा अनिवार्य रूप से प्राप्त करनी पड़ती थी ।

(अ) काम्बोज—अर्थशास्त्र में काम्बोज राज्य शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना गया है । पाणिनि ने भी अष्टाध्यायी ग्रन्थ में कतिपय देशों एवं क्षत्रियपरक शब्दों के अन्त में प्रत्यय लगाकर उन देशों अथवा क्षत्रिय जाति से सम्बन्धित शब्दों के बनाने के नियमों को बतलाया है । इसी प्रसंग में उन्होंने लिखा है कि काम्बोज शब्द में प्रत्यय कालुक हो जने से कोम्बोजाः एवं कम्बोजः दो शब्द समान अर्थबोधक प्राप्त होते हैं ।^२ परन्तु इतने संकेत मात्र से यह स्पष्ट नहीं होता कि काम्बोज राज्य किस प्रकार के शासन विधान के अनुसार शासित होता था । परन्तु इस ग्रन्थ में पाणिनि ने यह व्यवस्था दी है कि गण और संघ शब्द पर्यायवाची हैं ।^३ इससे यह सिद्ध हो चुका है कि गणराज्य लोकतंत्र राज्य थे जिनमें राज्य के नागरिकों के प्रतिनिधियों द्वारा शासन होता था और यह राज्य नृपतंत्रात्मक राज्य से नितान्त भिन्न था । इससे यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है, कि कौटिल्य ने जिन संघ राज्यों का यहाँ उल्लेख किया है वह भी गणराज्य ही थे । इसलिए काम्बोज, सुराष्ट्र आदि संघराज्य गणराज्य ही रहे होंगे ।

महाभारत में भी काम्बोज राज्य को गण राज्य बतलाया गया है ।^४ महाभारत के अनुसार परमकाम्बोज नाम का एक और गणराज्य था ।^५ यह दोनों राज्य महाराज युधिष्ठिर के राज्याभिषेक के अवसर पर अर्जुन के द्वारा पराजित होकर युधिष्ठिर के

१—काम्बोजसुराष्ट्रक्षत्रियश्रेण्यादौ वार्ताशस्त्रोपजीविनः ॥

वार्ता ५ अ० १ अधि० ११ अर्थ ॥

२—काम्बोजालुक ॥ सूत्र १७५ अ० १ पाद ४ अष्टाध्यायी ॥

३—सङ्घोद्धौ गण प्रशंसयोः ॥ सूत्र ८६ अ० ३ पाद ३ अष्टाध्यायी ॥

४—गृहीत्वा तु बलं सारं फाल्गुनः पाण्डुनन्दनः ।

दरदन्तसह काम्बोजैरजयत्पाकशासनिः ॥ श्लोक २३ अ० २७ सभापर्व ॥

५—लोहान्परमकाम्बोजान्पिकानुत्तरानपि ।

सहितांस्तान्महाराजं व्यजयत्पाकशासनिः ॥ श्लोक ३५ अ० २७ सभापर्व ॥

अधीन करद-राज्य बनाए गए थे। सम्राट अशोक मौर्य के शिला-लेखों के अवलोकन करने से भी ज्ञात होता है कि उनके समय में काम्बोज नाम का एक गणराज्य था जो गान्धार राज्य के समीप, आधुनिक अफगानिस्तान के पूर्वी भाग में स्थित था।

(आ) मुराट्ट—अर्थशास्त्र में मुराट्ट राज्य को भी शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया गया है। यह राज्य आधुनिक गुजरात प्रान्त में था। गुजरात प्रान्त का कुछ भूभाग ऐसा है जो इस समय भी मुरठ कहलाता है। ऐसा ज्ञात होता है कि मुरठ मुराट्ट का ही अवशेष है और अर्थशास्त्र में वर्णित मुराट्ट गणराज्य इसी भूभाग में स्थित होगा।

(इ) क्षत्रिय—क्षत्रिय राज्य भी एक गण राज्य था जिसको अर्थशास्त्र में शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना गया है। इसलिए इस राज्य के निवासी भी अनिवार्य रूप से सैनिक शिक्षा प्राप्त करते थे। यह राज्य आधुनिक सिन्ध प्रान्त में था। यूनानी लेखकों ने क्षत्रिय राज्य को क्षतरोई नाम से सम्बोधित किया है। इस राज्य के नाम से ऐसा प्रतीत होता है कि यहां के निवासी बहुसंख्यक क्षत्रिय रहे होंगे। इसी लिए अर्थशास्त्र में इस राज्य को क्षत्रिय राज्य के नाम से सम्बोधित किया गया है।

(ई) श्रेणी—श्रेणीनाम का एक गणराज्य था। यह भी सिन्ध प्रान्त में था। यूनानी लेखकों ने अग्रश्रेणी नाम के राज्य की ओर संकेत किया है। ऐसा अनुमान किया जाता है कि अग्रश्रेणी को ही कोटिल्य ने श्रेणी राज्य के नाम से पुकारा है अथवा श्रेणी राज्य इसी अग्रश्रेणी राज्य के आस-पास कहीं स्थित होगा। कोटिल्य ने श्रेणी राज्य को भी शस्त्रोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया है।

राजशब्दोपजीवि संघ—शस्त्रोपजीवि संघ राज्यों के अतिरिक्त कुछ अन्य संघराज्य थे जिनको अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघ के नाम से सम्बोधित किया है। यह संघ उन राज्यों के संबन्धित होने से बने थे जो शस्त्रोपजीवि गणराज्यों से भिन्न थे। यहां के निवासियों के लिए सैनिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य न था। इन राज्यों में स्थायी सेना होती थी। अर्थशास्त्र के अन्तर्गत वर्णित राजशब्दोपजीवि संघ में कई गणराज्य सम्मिलित थे जो इस प्रकार हैं—

(क) लिच्छिवि—कोटिल्य ने अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत जो राज्य सम्मिलित किए हैं इन में लिच्छिवि भी एक राज्य था। बौद्ध एवं जैन साहित्य में इस राज्य का उल्लेख है। बौद्ध और जैन साहित्य में लिच्छिवि राज्य को गणराज्य के रूप में वर्णन किया गया है। इस राज्य के विषय में बौद्ध एवं जैन ग्रन्थों में ऐसा वर्णन प्राप्त है कि इस राज्य के समस्त नागरिक राज्य की प्रभुता का भोग करते थे और राज्य के शासन सम्बन्धी कार्यों में भाग लेने का अधिकार रखते थे। इस राज्य में एक सभा होती थी जिसके द्वारा राज्य का शासन कार्य सम्पादित होता था। इस सभा का एक अध्यक्ष और एक उपाध्यक्ष होता था जो क्रमशः राजा और उपराजा कहलाते थे। यह राज्य चिरकाल तक गणराज्य के रूप में ही संचालित होता रहा।

शुभ्रत साम्राज्य के उदय काल में लिच्छिवि राज्य ने गुप्तराज्य के विकास में बड़ी सहायता की थी। लिच्छिवि राज्य ने गुप्त राज्य के नरेश चन्द्रगुप्त प्रथम से वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कर गुप्तराज्य के विकास में बड़ी सहायता दी थी। कुछ समय के उपरान्त लिच्छिवि राज्य गुप्त साम्राज्य का ही एक अंग बन गया था। इस प्रकार लिच्छिवि गणराज्य का अस्तित्व गुप्त काल में मिट गया।

(ख) वृजि—अर्थशास्त्र में वृजिक (वृजि) राज्य को राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया है।^१ पाणिनि ने भी वृजिक राज्य को आयुधजीवि संघ के बाहर ही माना है। पाणिनि ने वृजि शब्द के अन्त में कन प्रत्यय को जोड़ कर वृजिक शब्द की प्राप्ति की व्यवस्था दी है।^२ इस प्रकार पाणिनि का वृजिक संघ और कौटिल्य के वृजिक संघ एक ही रूप में दिए हुए हैं। इन घटनाओं के आधार पर यह स्पष्ट है कि अर्थशास्त्र में वर्णित वृजिक राज्य गणराज्य था।

बौद्धकाल में वृजिक (वृजिक) राज्य अपने समय के प्रधान गणराज्यों में से एक गणराज्य था जो उस युग में गणतन्त्रात्मक शासन प्रणाली के संचालन में अग्रगण्य समझा जाता था।

(ग) मद्र—अर्थशास्त्र के रचनाकाल में मद्र राज्य भी एक गणराज्य था। यह राज्य भी राजशब्दोपजीवि संघ में सम्मिलित किया गया है। पाणिनि ने भी ऐसा ही माना है। उन्होंने भी मद्र राज्य को आयुधजीवि संघ से बाहर माना है। उन्होंने मद्र शब्द में कन प्रत्यय लगाकर मद्रक शब्द सिद्ध किया है।^३ अर्थशास्त्र में भी इस राज्य का यही रूप प्राप्त है। इससे विदित होता है कि मद्रक राज्य भी कौटिल्य के समय में गण राज्य था।

(घ) मल्ल—मल्ल राज्य को भी अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना गया है। पाणिनि ने भी इसी सिद्धान्त की ओर संकेत किया है। काशिका में पाणिनि के आयुधजीवि संघों की व्याख्या की गयी है। काशिकाकार ने पाणिनि के आयुधजीवि संघ राज्यों की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अमुक सूत्र मल्लक शब्द पर लागू नहीं होता जिसका तात्पर्य यह है कि मल्ल राज्य पाणिनि के आयुधजीवि संघ के बाहर था। बौद्ध और जैन साहित्य में मल्लक का वर्णन गणराज्य के रूप में प्राप्त है। बौद्ध काल में मल्ल एक प्रसिद्ध गण राज्य था।

(ङ) कुकुर—कुकुर राज्य को भी अर्थशास्त्र में राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत वर्णन किया गया है। महाभारत में भी कुकुर राज्य का उल्लेख है। अन्धक, वृष्णि, भोज, यादव और कुकुर इन पांच गणराज्यों का एक संघ था और जो प्रभास देश

१—लिच्छिविक × × × राजशब्दोपजीविनः ॥ वार्ता ६ अ० १ अ० ११ अर्थ० ॥

२—मद्रक वृज्योः कन् ॥

सूत्र १३१ अ० २ पाद ४ अष्टाध्यायी ॥

३—मद्रक वृज्योः कन् ॥

सूत्र १३१ अ० २ पाद ४ अष्टाध्यायी ॥

में स्थित थे । प्रभास देश आधुनिक गुजरात प्रान्त में था ।^१ इस प्रकार यह ज्ञात होता है कि यह पाँचो गणराज्य भी राजशब्दोपजीवि कोटि के अन्तर्गत संघठित थे ।

(च) कुरु—अर्थशास्त्र में कुरु राज्य को भी राजशब्दोपजीवि संघों की श्रेणी में ही परिगणित किया है । पाणिनि ने भी अपने एक सूत्र में कुरु राज्य की ओर संकेत किया है ।^२ परन्तु यह सूत्र इस विषय पर लेश मात्र भी प्रकाश नहीं डालता कि कुरु राज्य पाणिनि के समय में नृपतन्त्रात्मक राज्य था अथवा गण राज्य । महाभारत में कुरु राज्य नृपतन्त्रात्मक राज्य माना गया है । विष्णु पुराण में कुरुवंश की तालिका दी गयी है जिसके अनुसार पिता के उपरान्त उसका पुत्र ही राजा बनाया गया था ऐसा स्पष्ट ज्ञात होता है । बौद्ध काल में कुरु वंश महत्त्वपूर्ण वंश नहीं माना गया है । ऐसा प्रतीत होता है कि बौद्ध काल में कुरुवंश निर्दल हो गया होगा और उसके कुछ समय के पश्चात् कुरु राज्य गणराज्य में परिगणित हो गया होगा और जो कौटिल्य के समय में गण राज्य के रूप में चल रहा होगा ।

(छ) पाञ्चाल—कौटिल्य ने पाञ्चाल राज्य को भी राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत माना है । महाभारत में पाञ्चाल राज्य को नृपतन्त्रात्मक कोटि के राज्यों में परिगणित किया गया है । ऐसा विदित होता है कि कौटिल्य के समय में पाञ्चाल गणराज्य में बदल गया होगा ।

इस प्रकार अर्थशास्त्र में संघवृत्त अधिकरण में ग्यारह गण राज्यों की ओर संकेत किया गया है जिनमें प्रथम चार राज्यों को शस्त्रोपजीवि संघ और शेष सात राज्यों को राजशब्दोपजीवि संघ के अन्तर्गत परिगणित किया गया है । इसके अतिरिक्त दोनों प्रकार के संघों के अन्त में आदि शब्द का प्रयोग किया गया है जो इस ओर संकेत करता है कि इन राज्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य गणराज्य भी थे जो इन्हीं संघों की श्रेणी में आते होंगे ।

१—यादवाः कुकुराः भोजाः सर्वे च अन्धक वृष्णयः ।

त्वयासक्ता महाबाहो लोका लोकेश्वराश्च ॥

श्लोक ३० अ० ८१ शान्ति पर्व ॥

२—अप्यन्धकवृष्णि कुरुभ्यश्च ॥

सूत्र ११४ अ० १ पाद ४ अष्टाध्यायी ॥

द्वादश अध्याय

अन्तराज्य सम्बन्ध

राज्य-मण्डल—कौटिल्य ने इस विषय की विशेष विवेचना की है कि विभिन्न राज्यों के प्रति किस प्रकार का सम्बन्ध स्थापित किया जाना चाहिए। यह सम्बन्ध राज्य की वाह्य-नीति का प्रमुख आधार माना गया है। कौटिल्य एक ऐसे देश की कल्पना करते हैं जिसमें छोट-बड़े अनेक राज्य हों। इन राज्यों के प्रति सम्बन्ध स्थापित करने के लिए उन्होंने मण्डल सिद्धान्त का आश्रय लिया है। इस सिद्धान्त के अनुसार उन्होंने राज्यों को चार श्रेणियों में परिगणित किया है और जिनको शत्रु, मित्र, मध्यम और उदासीन राज्यों के नाम से सम्बोधित किया है। इन राज्यों में से प्रत्येक राज्य का एक मण्डल होता है जिसमें राजा, राजा का शत्रु राज्य, राजा का मित्र राजा, मध्यम राजा और उदासीन राजा सम्मिलित माने गए हैं।

मानवधर्मशास्त्र में भी मण्डल सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है। मनु ने भी राज्यों को चार मुख्य श्रेणियों में परिगणित किया है जिन्हें उन्होंने भी मित्र, शत्रु, मध्यम और उदासीन राज्यों के नाम से सम्बोधित किया है। इस प्रकार मनु ने भी राज्य की नीति का प्रमुख आधार मण्डल-सिद्धान्त माना है।^१

शत्रु राज्य—जिन राज्यों की सीमाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं वह राज्य स्वभावतः परस्पर शत्रु होते हैं ऐसा कौटिल्य का मत है।^२ जिन राज्यों की सीमाएँ परस्पर सम्बद्ध होती हैं उन राज्यों में परस्पर शत्रुता रहना स्वाभाविक है। इस प्रकार के राज्यों में समान हित होने के कारण उनकी प्राप्ति हेतु प्रतिद्वन्द्वता एवं पारस्परिक स्पर्धा की भावना जाग्रत रहती है। सीमा सम्बन्धी समस्याएँ प्रतिक्षण, उपस्थित ही रहती हैं, विशेष कर ऐसे युग में जब कि राजाओं की विजयाकांक्षा बहुत बड़ी चढ़ी हो। ऐसे युग में प्रत्येक राजा अपने राज्य विस्तार के लिए अपने पड़ोसी राज्य की भूमि छीनने के लिए किसी न किसी प्रकार का पड्यंत्र करता ही रहता है। कौटिल्य ऐसे युग में रहे हैं जब कि विश्व के सुदूर भू-भागों में आवागमन इस सुविधा और सुगमता से नहीं हो सकता था जैसा कि आधुनिक युग में हो रहा है। अतः उस युग में ऐसी संस्थाओं अथवा संघों के निर्माण की आशा नहीं की जा सकती है जिनका

१—मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषं च चेष्टितम् ।

उदासीन प्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ श्लोक १५५ अ० ७ मानवधर्म शास्त्र ॥

एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ॥

श्लोक १५६ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

२—भूयन्तं च अरिप्रकृतिः ॥

वार्ता १७ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

निर्माण संसार के विभिन्न राज्यों के मध्य शान्ति की स्थापना हेतु हुआ हो। इसलिए उस युग में पड़ोसी राज्य की विजयाकांक्षा के दमन करने के निमित्त आधुनिक युग की अपेक्षा कम अवसर होने के कारण इन राज्यों में वैर भावना की जाग्रति स्वाभाविक थी। सम्भवतः ऐसे ही कारणों से कौटिल्य ने पड़ोसी राज्यों को परस्पर शत्रु माना है।

मनु ने भी उन राज्यों को परस्पर शत्रु राज्य माना है जिन राज्यों की सीमाएं परस्पर सम्बद्ध होती हैं।^१ शत्रु राजा के प्रति किस प्रकार का व्यवहार होना चाहिए इस विषय में कौटिल्य का यह मत है कि शत्रु राजा की परिस्थिति, शक्ति, एवं उसके आचरण तथा व्यवहार आदि को देखकर समयानुसार यथा योग्य व्यवहार करना चाहिए। विपत्ति (व्यसन) से ग्रसित राजा आक्रमण किए जाने योग्य होते हैं।^२ आश्रयहीन अथवा दुर्बल आश्रय-वाला शत्रु राजा उच्छेदन योग्य माना गया है।^३ यदि शत्रु राजा न तो आश्रय हीन हो न दुर्बल आश्रय हो और न व्यसन ग्रस्त ही हो तो ऐसे समय में सबल शत्रु राजा को पीड़ित कर उसका कर्षण करना उचित होगा।^४

कौटिल्य ने शत्रु राजा को भी तीन प्रकार का माना है। वह प्रकृति शत्रु, सहजः शत्रु और कृत्रिम शत्रु के नाम से सम्बोधित किए गए हैं। राज्य की सीमा से सम्बद्ध राज्य प्रकृति अरिराज्य और उनके राजा प्रकृति अरि राजा माने गए हैं।^५ राजा के अपने ही वंश में उत्पन्न दायभागी सहजः अरि होते हैं।^६ स्वयं विरुद्ध होने अथवा विरोध करने पर जो शत्रु होता है वह कृत्रिम शत्रु कहलाता है।^७

माघ कवि ने शिशुपालवध नाम के स्वप्रणीत काव्य में इन्हीं तीन प्रकार के शत्रुओं का उल्लेख किया है। उन्होंने शत्रु और मित्र को प्रकृति शत्रु अथवा प्रकृति मित्र, सहज शत्रु अथवा सहज मित्र और कृत्रिम शत्रु अथवा कृत्रिम मित्र इन तीन श्रेणियों में विभक्त कर कौटिल्य के तत्सम्बन्धी मत की पुष्टि की है। माघ कवि का मत है कि प्रकृति एवं सहजः शत्रुओं की अपेक्षा कृत्रिम शत्रु अधिक भयकारी होता है।^८

मित्र-राज्य—कौटिल्य के मतानुसार मित्र राजा भी तीन प्रकार के होते हैं

१—अनन्तरमर्ति विद्यात ॥

श्लोक १५८ अ० ७ मानवधर्म शास्त्र ॥

२—व्यसनी यातव्यः ॥

वार्ता २० अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—× × × अनपाश्रयो दुर्बलाश्रयो वोच्छेदनीयः ॥

वार्ता २० अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—विपर्ययो पीडनीयः कर्षणीयौ वा ॥

वार्ता २१ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

५—भूम्यनन्तरः प्रकृत्य मित्रः ॥

वार्ता २५ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—× × × तुल्याभिजन सहजः ॥

वार्ता २५ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

७—विरुद्धो विरोधयिता वा कृत्रिमः ॥

वार्ता २६ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

८—सखा गरीयाच्छत्रुश्चकृत्रिमस्तोहि कार्यतः ।

स्याताममित्रौ मित्रे चसहजप्राकृतावपि ॥ श्लोक ३६ सर्ग २ शिशुपालवध ॥

प्रकृति मित्र, सहजमित्र और कृत्रिम मित्र कहलाते हैं। राजा के अपने राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमा वाले अरिराज्य की दूसरी ओर अरिराज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमावाले राज्य को कौटिल्य प्रकृति मित्र के नाम से सम्बोधित करते हैं।^१ उदाहरण के लिए भारत राज्य का प्रकृति अरिराज्य पाकिस्तान और प्रकृति मित्र राज्य अफगानिस्तान कौटिल्य के मतानुसार होगा। इस सिद्धान्त के अनुसार पाकिस्तान राज्य भारत और अफगानिस्तान दोनों का अरिराज्य माना जाएगा। इस लिए भारत और अफगानिस्तान राज्यों में मित्र भाव का होना स्वाभाविक होगा। माता और पिता से सम्बन्धित राजा सहजः मित्र माना गया है।^२ राजा के माता अथवा पिता का जिन राज्यों के राजाओं से विशेष सम्बन्ध होता है वह राजा उस राजा के हितू होंगे ऐसा न्यायसंगत ही है इसलिए इस प्रकार के राज्य सहज मित्र राज्य होंगे ही। धन और जीवन हेतु जो राजा किसी दूसरे राजा का आश्रय ग्रहण करता है तो इस प्रकार आश्रय ग्रहण करने वाला राजा आश्रय देने वाले राजा का कृत्रिम मित्र कहलाएगा।^३ इस प्रकार का मित्र कृत्रिम मित्र इस लिए कहलाता है कि ऐसा मित्र बनाया हुआ होता है। वह धन अथवा जीवन रक्षा हेतु मित्रता ग्रहण करता है। स्वभाव से वह मित्र हो ऐसा सदैव सम्भव नहीं।

मनु भी शत्रु राज्य की दूसरी ओर उसके राज्य की सीमा से सम्बद्ध सीमावाले राज्य को कौटिल्य की भांति ही मित्र राज्य की स्थापना मानते हैं।^४

इस प्रकार कौटिल्य ने मित्र राजाओं के प्रकृतिमित्र, सहजमित्र और कृत्रिम-मित्र तीन भेद मानकर उनकी व्याख्या की है। इसी प्रकार राजा के राज्य के सम्मुख और उसके पृष्ठ में राज्यों का क्रम होता है जो अरि और मित्र राज्य होते हैं। इन राज्यों को कौटिल्य पाणिग्रह, आक्रन्द, पाणिग्रहासार और आक्रन्दसार नाम से सम्बोधित करते हैं।^५ यह चारों प्रकार के राज्य विजयाभिलाषी राजा के क्रमशः पीछे का शत्रु, पीछे का मित्र, पीछे के शत्रु का मित्र और पीछे के मित्र का मित्र राज्य होते हैं।

मध्यम राजा—मध्यम राजा की परिभाषा करते हुए कौटिल्य बतलाते हैं कि विजयाभिलाषी राजा और उसके अरि राजा दोनों के राज्यों की सीमा पर स्थित राज्य का शक्तिशाली राजा जो उन दोनों राजाओं को एक ही साथ अथवा अलग-अलग सहायता देने एवं उनको निग्रह करने में समर्थ हो मध्यम राजा कहलाता है।^६ इस

१—भूमेकातरं प्रकृति मित्रं ॥ वार्ता २७ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—× × × मातापितृसम्बन्धं सहजम् ॥ वार्ता २७ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—धन जीवितहेतोरशितं कृत्रिममिति ॥ वार्ता २८ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—अरिरेन्तन्तरं मित्रम् × × × ॥ श्लोक १५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

५—पञ्चाप्याणिग्रहः, आक्रन्दः पाणिग्रहासार आक्रन्दसार इति ॥

वार्ता २४ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

प्रकार कौटिल्य द्वारा वर्णित मध्यम राजा की विशेषता यह है कि वह विजयाभिलाषी राजा और उसके अरि दोनों के राज्यों की सीमा पर स्थित होता है। दूसरी विशेषता यह है कि मध्यम राजा को इतना शक्तिशाली होना चाहिए कि अवसर पड़ने पर इन दोनों प्रकार के राज्यों पर एक साथ अथवा पृथक-पृथक अनुग्रह करने और उन्हें निग्रह करने में समर्थ हो। इसलिए मध्यम राजा को विजयाभिलाषी और उसके शत्रु राजा दोनों से कहीं अधिक बलशाली होना चाहिए। यहाँ तक कि वह इन दोनों प्रकार के राजाओं की संयुक्त शक्ति से भी अधिक शक्तिशाली होना चाहिए जिससे समय पड़ने पर वह इन दोनों राजाओं को एक ही साथ दमन करने में समर्थ हो सके। कौटिल्य का यह सिद्धान्त न्यायसंगत प्रतीत होता है। आधुनिक काल में भी यह देखा जाता है कि यदि दो राज्यों में किसी कारण वर उत्पन्न हो जाता है तो उन दोनों में समझौता कराने में वही राजा सफल होता है जो उन दोनों राज्यों में से प्रत्येक अथवा दोनों राज्यों को दण्ड देने अथवा उन्हें सक्रिय सहायता देने की सामर्थ्य रखता है। क्योंकि ऐसा राज्य ही उन दोनों प्रकार के राज्यों पर अपना आतंक जमा कर उनके मध्य समझौता कराने में समर्थ हो सकता है। अन्यथा निर्बल राज्य की बात से उन दोनों राज्यों पर कोई महत्वपूर्ण प्रभाव नहीं पड़ सकता। इस हेतु इस प्रकार के सबल राजा की मध्यस्थता वास्तविक मध्यस्था मानी जा सकती है।

उदासीन—कौटिल्य ने चौथे प्रकार के राज्यों को उदासीन राज्य और उसके राजा को उदासीन राजा के नाम से सम्बोधित किया है। विजयाभिलाषी और मध्यम राजा से परे अपनी बलिष्ठ सप्त-प्रकृतियों से सम्पन्न बलवान राजा उपर्युक्त तीनों प्रकार के राजाओं (अरि, विजयाभिलाषी और मध्यम) को पृथक-पृथक अथवा उन सबको एक साथ सहायता देने (अनुग्रह करने) अथवा उनको निग्रह करने में समर्थ हो ऐसा राजा उदासीन नाम से सम्बोधित किया गया है, और इस राजा के राज्य को उदासीन राज्य कहा गया है।^१ इस प्रकार कौटिल्य द्वारा उदासीन राज्य की जो परिभाषा की गयी है वह परिभाषा तत्सम्बन्धी आधुनिक राज्य की परिभाषा से नितान्त भिन्न है। आधुनिक युग के उदासीन राज्य (Neutral states) के लिये यह आवश्यक नहीं कि वह अपनी शक्ति एवं प्रभाव की अधिकता के महत्व के कारण उदासीन कोटि में परिगणित किए जाते हों। आधुनिक काल के उदासीन राज्य बड़े से बड़े और छोटे से छोटे दोनों कोटि के हो सकते हैं। शक्ति एवं प्रभाव की न्यूनता एवं अधिकता उनके उदासीन होने के लिए किसी प्रकार से भी बाधक अथवा साधक सिद्ध नहीं होती। इस प्रकार कौटिल्य का उदासीन राज्य विशेष राज्य है जिसकी समानता इस युग के उदासीन राज्यों से नहीं की जा सकती।

इस प्रकार यह चार प्रकार के राज्य राज्य-मण्डल के घटक माने गये हैं। इन घटक राज्यों में प्रत्येक राज्य का भी एक अलग राज्य-मण्डल बनता है। विजया-

भिलाषी राजा, उसका मित्र राजा और उसके मित्र का मित्र राजा इन तीनों राज्यों के क्रमशः तीन राजा तीन प्रकृति कहलाते हैं ।^१ इन तीनों राज्यों में से प्रत्येक राज्य की छः-छः प्रकृतियाँ (राजा, मन्त्री, कोष, दण्ड और जनपद) मिलकर अठारह प्रकृतियाँ हुई जो एक राज-मण्डल बनाती हैं ।^२ इसी प्रकार अरिमण्डल, मध्यम-मण्डल और उदासीन-मण्डल बन जाते हैं ।^३ इसी प्रकार एक बृहद् राजमण्डल बनता है जिसमें बारह राजप्रकृति (बारह राज्यों के बारह राजा) और प्रत्येक राज्य की पाँच अन्य प्रकृतियाँ होती हैं जिनको कौटिल्य द्रव्य प्रकृतियों के नाम से सम्बंधित करते हैं । इन बारह राज्यों की साठ द्रव्य प्रकृतियाँ होती हैं ।^४ यह बारह राज-प्रकृतियाँ और साठ द्रव्य प्रकृतियाँ मिलाकर कुल बहत्तर प्रकृतियों का एक बृहद् मण्डल कहलाता है ।^५

इस राज्य-मण्डल को कौटिल्य चक्र से समता देते हुए कहते हैं—विजया-भिलाषी राजा को राज-मण्डल रूपी चक्र में एक राज्य आगे रहनेवाले मित्र राजाओं को नेमि, समीप के राजाओं को अरे और स्वयं अपने को नाभि के तुल्य समझना चाहिए । विजयी राजा और उसके मित्र राजा के मध्य में फँसा हुआ शत्रु यदि बलवान भी हो तो भी वह उखाड़ा अथवा पीड़ित किया जा सकता है ।^६

मनु भी कौटिल्य की भाँति बारह राज-प्रकृतियों और साठ द्रव्य प्रकृतियों से युक्त राज्य-मण्डल का वर्णन करते हुए कहते हैं—मध्यम विजिगीषु, उदासीन और शत्रु के प्रचार को प्रयत्न से विचार करना चाहिए ।^७ यह चार प्रकृतियाँ संक्षेप से मण्डल

१—विजिगीषुमित्रमित्रमित्रवास्य प्रकृतयस्त्रिस्तः ॥

वार्ता ३२ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—ताः पञ्चभिरमात्यजनपददुर्ग कोशदण्डप्रकृतिभिरेकैकशः संयुक्तामण्डलमष्टादश-
कं भवति ॥

वार्ता ३३ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—अनेन मण्डलपृथक्त्वं व्याख्यातमरिमध्यमोदासीनानाम् ॥

वार्ता ३४ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—द्वादशराजप्रकृतयः ॥

वार्ता ३६ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

५—पष्टिर्द्रव्य प्रकृतयः ॥

वार्ता ३७ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—संक्षेपेण द्विसप्त ते ॥

वार्ता ३८ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

७—नेमिकान्तरात् राज्ञः कृत्वा चानन्तरानरान् ।

नाभिमात्मानमायच्छेन्नेता प्रकृतिमण्डले ॥

श्लोक ६४ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

मध्येऽभ्युपहितः शत्रुर्मेतुमित्रस्यचोभयोः ।

उच्छेद्यः पीडनीयो वा बलवानपि जायते ॥ श्लोक ६५ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

८—मध्यमस्य प्रचारं च विजिगीषोश्च चेष्टितम् ।

उदासीनप्रचारं च शत्रोश्चैव प्रयत्नतः ॥ श्लोक ६५ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

की मूल हैं और आठ अन्य प्रकृतियाँ बतलायी गयी हैं। यह सब बारह प्रकृतियाँ (राज-प्रकृतियाँ) होती हैं।^१ अमात्य, दुर्ग, देश, कोश और दण्ड यह पाँच और भी प्रकृतियाँ हैं। इस प्रकार बारह राज्यों की साठ अन्य प्रकृतियाँ हुईं। अतः राज्य-मण्डल की कुल बहत्तर प्रकृतियाँ होंगी।^२

पाङ्गुण्य मंत्र—प्राचीन भारत के राजशास्त्र प्रणेताओं ने राज्य का मूल मंत्र माना है। राजाओं की विजय अथवा पराजय इसी मंत्र पर आश्रित है।^३ प्राचीन भारत के अधिक आचार्यों ने इस मंत्र के छः गुण बतलाए हैं। इसीलिए इन आचार्यों ने मंत्र को पाङ्गुण्यमंत्र के नाम से सम्बोधित किया है। इस पाङ्गुण्य मंत्र की योनि बहत्तर प्रकृतियों से युक्त राज्य-मण्डल होता है—ऐसा कौटिल्य का मत है।^४ कौटिल्य के मतानुसार इस पाङ्गुण्य मंत्र का उद्देश्य क्षय (Deterioration) स्थान (Stagnation) और वृद्धि (Progress) का निश्चय करना होता है।

पाङ्गुण्य मंत्र पर विभिन्न मत—कौटिल्य का कथन है कि आचार्यों का ऐसा मत है कि सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वेधी भाव यह मंत्र के छः गुण होते हैं।^५ कौटिल्य आचार्य वायव्याधि को इस सिद्धान्त का विरोधी मानते हैं। उनका कहना है कि आचार्य वातव्याधि मंत्र के केवल दो ही गुण मानते हैं।^६ आचार्य वातव्याधि के मतानुसार सन्धि और विग्रह इन्हीं दो गुणों में ही शेष चार गुणों का अन्तर्भाव होता है।^७ परन्तु आचार्य कौटिल्य इस मत की आलोचना करते हुए कहते

१—एताः प्रकृतयो मूलं मण्डलस्य समासतः ।

अष्टौचान्यः समाख्याता द्वादशैवतुताः स्मृताः ॥

श्लोक १५६ अ० ७ मानव धर्मशास्त्र ॥

२—अमात्य राष्ट्र दुर्गाथ दण्डाख्याः पञ्चापराः ।

प्रत्येकं कथिताह्येतः संक्षेपेणद्विसप्ततिः ॥ श्लोक १५७ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—मंत्रोविजय मूलं हि राज्ञां भवति राषव ॥

श्लोक १६ सर्ग १०० अयोध्याकाण्ड वाल्मीकीय रामायण ॥

विजयोऽमंत्रमूलो हि राज्ञो भवति भारत ॥ श्लोक २८ अ० ५ सभापर्व ॥

मंत्रिणां मंत्रमूलं हि राजे राष्ट्रं विवर्धते ॥ श्लोक ४८ अ० ८ शान्ति पर्व ॥

४—पाङ्गुण्यस्य प्रकृतिमण्डलं योनिः ॥ वार्ता १ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—सन्धिविग्रहासनयान संश्रयद्वेधी भावाः पाङ्गुण्यमित्याचार्याः ॥

वार्ता २ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—द्वैगुण्यमिति वातव्याधिः ॥

वार्ता ३ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—सन्धिविग्रहाभ्यां हि पाङ्गुण्यं संपद्यत इति ॥ वार्ता ४ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

हैं कि आसन, यान आदि गुणों का अन्तर्भाव सन्धि और विग्रह गुणों मात्र में नहीं हो सकता क्योंकि उनकी अवस्था में भेद है। इसलिए मंत्र के उपर्युक्त छः गुण मानना ही उचित होगा।^१

मनु ने भी पाङ्गुण्यमय मंत्र माना है। मनु ने मानवधर्मशास्त्र में राजा को आदेश दिया है कि राजा अपने मंत्रियों में सबसे अधिक धर्मात्मा और बुद्धिमान ब्राह्मण मंत्री के साथ पाङ्गुण्ययुक्त परममंत्र का निश्चय करना चाहिए।^२ महाभारत में भी पाङ्गुणी मंत्र का वर्णन किया गया है। भीष्म पाङ्गुण्य मंत्र का उपदेश देते हुए बतलाते हैं—पाङ्गुण्य मंत्र, त्रिवर्ग तथा परम त्रिवर्ग को जो राजा विधिवत जानता है वही राजा इस सम्पूर्ण पृथ्वी का भोग करता है।^३ शुक्र ने भी मंत्र पाङ्गुण्यमय बतलाया है।^४

पाङ्गुण्य-मंत्र के छः गुण—ऊपर बतलाया जा चुका है कि आचार्य कौटिल्य ने मंत्र के छः गुण माने हैं। यह छः गुण सन्धि, विग्रह, आसन, यान, संश्रय और द्वेधीभाव हैं। इन्हीं छः गुणों में भीष्म, मनु, शुक्र आदि आचार्य भी आस्था रखते थे। यहाँ पर इन्हीं छः गुणों की पृथक्-पृथक् विवेचना की जाएगी।

(१) सन्धि—सन्धि की परिभाषा करते हुए कौटिल्य बतलाते हैं कि कुछ पणों (Conditions) के आधार पर दो राजाओं में जो मेल हो जाता है उसी को सन्धि कहते हैं।^५ कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का भी संक्षेप में उल्लेख किया है जिनमें राजा को सन्धि गुण का आश्रय ग्रहण करना चाहिए। राजा को किन परिस्थितियों में सन्धि कर लेनी चाहिए इस विषय का उल्लेख करते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—यदि राजा अपने शत्रु राजा से अपने को दुर्बल समझता है तो ऐसी परिस्थिति में उसको सन्धि कर लेनी चाहिए।^६ जिस परिस्थिति में दो शत्रु राजाओं को समान फल प्राप्त हो रहा हो अथवा समान वृद्धि हो रही हो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को सन्धि का आश्रय लेना उचित होगा।^७ यदि दो

१—पाङ्गुण्यमेदैतदवस्थाभेदादिति कौटिल्यः ॥ वार्ता ५ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—सर्वेषां तु विशिष्टेन ब्राह्मणेन विपरिचिता ।

मंत्रयेत्परमं मंत्रं राजा पाङ्गुण्यसंयुतम् ॥ श्लोक ५८ अ० ७ मानवधर्मशास्त्र ॥

३—पाङ्गुण्यं च त्रिवर्गं च त्रिवर्गपरमं तथापि ।

यो वेत्ति पुरुषव्याघ्र स भुवते पृथ्वीमिमाम् ॥ श्लोक ६६ अ० ६६ शान्तिपर्व ॥

४—सन्धिविग्रहयानमासनं च समाश्रयम् ।

द्वेधीभावं च संविद्यान्मंत्रस्यैतास्तु पाङ्गुणान् ॥ श्लोक १०६२ अ० ४ शुक्रनीति ॥

५—तत्र पण बन्धः सन्धिः ॥

वार्ता ६ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—परस्मादीयमानः संदधीत ॥

वार्ता १२ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—तुल्य काल फलोदपायां वा वृद्धौ सन्धिमुपेयात् ॥ वार्ता २३ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

शत्रु राजाओं को ऐसा प्रतीत हो कि उनके परस्पर वैर करने से उनकी शक्तियों के क्षीण होने से एक ही समय में दोनों को समान ही फल प्राप्ति की आशा है अथवा समान क्षय होने की सम्भावना है तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि गुण का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए।^१ जब दो शत्रु राजा इस प्रकार देखें कि उनके परस्पर वैर से वह दोनों राजा तुल्य स्थिति (Stationary Condition) में ही बने रहते हैं, और एक ही समय में दोनों को तुल्य ही धन अथवा शक्ति की प्राप्ति होती है तो ऐसी परिस्थिति में उन दोनों राजाओं को परस्पर सन्धि कर लेनी चाहिए—ऐसा आचार्यों का मत है।^२

परन्तु आचार्य कौटिल्य इस मत को नहीं मानते। उनका कहना है कि यह कोई बहुत नीतिपूर्ण बात नहीं है क्योंकि इन परिस्थितियों में सन्धि के अतिरिक्त और दूसरा उपाय ही नहीं है।^३ कौटिल्य का मत है कि शत्रु राजा को निर्बल बनाने और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने का साधन सन्धि होता है। सन्धि की अवस्था वाली अवधि में राजा को एन-केन प्रकारेण अपने इसी उद्देश्य की पूर्ति का अवसर ग्रहण कर अपने राज्य को सबल बनाने के निमित्त उपयोग करना चाहिए। इस सिद्धान्त को अपने समक्ष रख कर कौटिल्य इस विषय में कि सन्धि गुण का कब आश्रय ग्रहण करना चाहिए, अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं—यदि राजा यह देखता है कि सन्धि करने पर मैं बड़े बड़े कार्यों को सम्पादित कर शत्रु के महान कार्यों को हानि पहुँचा दूँगा।^४ अथवा अपने उत्तम कार्यों के सम्पादन करने के साथ-साथ शत्रु के उत्तम कार्यों का भी लाभ उठा सकूँगा।^५ अथवा शत्रु से सन्धि कर लेने के उपरान्त जब शत्रु में मेरे प्रति विश्वास हो जाएगा तो गुप्तचरों अथवा विष प्रयोग आदि के द्वारा शत्रु का नाश कर सकूँगा।^६ अथवा शत्रु के उत्तम मनुष्यों को कृपा दिखलाकर अपनी कार्य कुशलता से अपनी ओर आकृष्ट कर सकूँगा।^७ अथवा अत्यन्त बल-

१—तुल्यकालफलोदये वा चये सन्धिसुपेयात् ॥ वार्ता २७ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—तुल्यकालफलोदये वा स्थाने सन्धिसुपेयादित्याचार्याः ॥

वार्ता ३० अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—नैतद्विभाषितमिति कौटिल्यः ॥ वार्ता ३१ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

४—यदि वा परयेत् ॥ वार्ता ३२ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

५—सन्धौ स्थितो महाफलैः स्वकर्मभिः परकर्माण्युपहनिष्यामि ॥

वार्ता ३३ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

६—महाफलानि वा स्वकर्माण्युपभोचये परकर्माणि वा ॥

वार्ता ३४ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

७—सन्धिविश्वासेन वा योगोपनिषत्प्राणिधिभिः परकर्माण्युपहनिष्यामि ॥

वार्ता ३५ अ० १ अधि० ७ अर्थशास्त्र ॥

८—सुखं वा सानुग्रहपरिहारसौकर्यं फललाभभयस्त्वेन स्वकर्मणा परकर्मयोगा-

बहजनमात्रावयिष्यामि ॥ वार्ता ३६ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

वान के साथ सन्धि करने से शत्रु अपने कार्यों में हानि पहुँचा लेगा ।^१ अथवा जिस से विग्रह करने के लिए मुझ से मिलना चाहता है उससे ही दीर्घकालीन युद्ध करवा दूंगा ।^२ अथवा यह मेरे शत्रु के राज्यों में जाकर उन्हें पीड़ित करेगा ।^३ अथवा शत्रु से क्षीणबल हो जाने पर अपने राज्य की वृद्धि कर सकूंगा ।^४ अथवा जब यह शत्रु विपत्ति आने के कार्य करने से विपदग्रस्त हो जाएगा तो वह मेरे राष्ट्र पर आक्रमण नहीं कर सकेगा ।^५ अथवा दूसरों की सहायता से उसने कार्य आरम्भ किया और उन दोनों से सन्धि कर लेने पर मेरे कार्यों में भी वृद्धि होगी ।^६ अथवा शत्रु से सन्धि करने पर शत्रु के मण्डल में भेद उत्पन्न करने में समर्थ हो सकूंगा ।^७ जब उनमें भेद उत्पन्न हो जाएगा तो मैं शत्रु को वश में कर लूंगा ।^८ अथवा मैं इस समय सेना द्वारा सहायता देकर जब शत्रु का उपकार कर दूंगा तो यह शत्रु राजा यदि अपने मण्डल से मिलना चाहेगा तो मैं उसको मिलने न दूंगा ।^९ और जब इनका परस्पर द्वेष हो जाएगा तो इसका उन्हीं के द्वारा वध करा दूंगा इन परिस्थितियों में सन्धि कर लेनी चाहिए ।^{१०}

इस प्रकार कौटिल्य पराजित राजा के लिए सन्धि काल वह अवसर मानते हैं जिस में वह अपने सबल शत्रु से मिलकर उसको किसी न किसी प्रकार से शक्तिहीन बनाने में प्रयुक्त करता है और अपने को प्रत्येक प्रकार से सबल बनाने में गुप्तरिति से प्रयत्नशील रहता है ।

१—बलिनातिमात्रेण वा संहितः परः स्वकर्मोपघातं प्राप्स्यति ॥

वार्ता ३७ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ।

२—येन वा विगृहीतो मया संधत्ते तेनास्य विग्रहं दीर्घं किरिष्यामि ॥

वार्ता ३८ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—मया वा संहितस्य मद्वे पिणो जनपदं पीडयिष्यति ॥

वार्ता ३९ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—परोपहतो वास्य जनपदो मामा गमिष्यति ॥

वार्ता ४० अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—ततः कर्मसु वृद्धिं प्राप्स्यामि ॥

वार्ता ४१ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—विपन्नकर्मारम्भो वा विषमस्थः परः कर्मसु न मे विक्रमेत ॥

वार्ता ४२ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—परतः प्रवृत्त कर्मारम्भो वा ताभ्यां संहितः कर्मसु वृद्धिं प्राप्स्यामि ॥

वार्ता ४३ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—शत्रुप्रतिबद्धं वा शत्रुणा संधिं कृत्वा मण्डलं भेत्स्यामि ॥

वार्ता ४४ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—भिन्नमवाप्स्यामि ॥

वार्ता ४५ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—दण्डानुग्रहेण वा शत्रुमुपगृह्य मण्डललिप्तायां विद्वेषं ग्राहयिष्यामि ॥

वार्ता ४६ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

हीनसन्धि के प्रकार—कौटिल्य ने सन्धि के अनेक प्रकार बतलाए हैं। इनमें एक वह प्रकार भी है जिसके अनुसार एक हीनबल राजा अपने सबल शत्रु राजा से सन्धि कर लेता है। इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य हीन सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। हीनसन्धि के विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—जब मण्डल से युक्त बलवान राजा किसी हीनबल राजा पर आक्रमण कर देता है तो उक्त हीनबल राजा को अपने कोश, सेना, भूमि और अपनी आत्मा को भी यथायोग्य समर्पित करके सन्धि कर लेनी चाहिए।^१ कौटिल्य हीनसन्धि के मुख्य तीन प्रकार मानते हैं जो दण्डोपनत सन्धि, कोशोपनत सन्धि, और देशोपनत सन्धि के नाम से अर्थशास्त्र में वर्णन की गयी हैं। कौटिल्य का मत है कि हीनबल राजा को अपने से अधिक शक्तिशाली राजा द्वारा आक्रमण किए जाने पर देश, काल और कार्य की विशेष परिस्थिति को देखकर इन सन्धियों में से किसी एक सन्धि का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।^२

दण्डोपनत सन्धि—जब हीनबल राजा आक्रमणकारी अपने से अधिक शक्तिशाली शत्रु राजा से सेना द्वारा सहायता देने अथवा सेना के न्यून कर देने आदि के प्रण के आधार पर उस शत्रु राजा से सन्धि कर लेता है तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य दण्डोपनत हीनसन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। दण्डोपनत हीनसन्धि भी तीन प्रकार की मानी गयी है जो आत्मामिष सन्धि, पुरुषान्तर सन्धि, और मुख्यात्मरक्षा सन्धि के नाम से अर्थशास्त्र में वर्णित हैं।

(१) आत्मामिष दण्डोपनत सन्धि—निर्धारित सेना अथवा सेना के उत्तम सैनिकों के सहित हीनबल राजा स्वयं शत्रु राजा की सेवा में उपस्थित हो इस पण के अनुसार जो हीनबल राजा और उसके सबल शत्रु राजा के मध्य जो सन्धि की जाती है आत्मामिष सन्धि कहलाती है।^३ इस प्रकार की सन्धि के अनुसार हीनबल राजा को स्वयं अपनी सेना के साथ सबल राजा की सेवा में उसकी सहायतार्थ उपस्थित होना पड़ता है।

कामन्दक ने आत्मामिष सन्धि की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि जब किसी राजा और उसी की सेना के मध्य जो सन्धि की जाती है आत्मामिष सन्धि कहलाती है।^४

१—विद्विष्टं तेनैव घातयिष्यामीति सन्धिना वृद्धिमातिष्ठेत् ॥

वार्ता ४७ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

प्रवृत्तचक्रेणाक्रान्तो राज्ञा बलवताबलः ।

सन्धिनोपनमेतर्ण कोशदण्डात्मभूमिभिः ॥ श्लोक २३ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—स्वकार्याणां वशेनैते देशे काले च भाषिताः ।

आबलीयसिकाः कार्यास्त्रिविधा हीनसन्धयः ॥ श्लोक ६७ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—स्वयं संख्यातदण्डेन दण्डस्य विभवेन वा ।

उपस्थातव्यमित्येष सन्धिरात्मामिषो मतः ॥ श्लोक २४ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—स्वसैन्येन तु सन्धानामात्मामिष इति स्मृतः ॥ श्लोक १६ सर्ग ६ कामन्दकीयनीतिसार ॥

(२) पुरुषान्तर दण्डोपनत सन्धि—हीनबल राजा का सेनापति राजकुमार के सहित शत्रु राजा की सेवा में उसके बुलाए जाने पर उपस्थित हुआ करे इस प्रण के आधार पर जो सन्धि की जाए पुरुषान्तर सन्धि कहलाएगी। इस प्रकार की सन्धि में राजा की आत्मरक्षा हो जाती है इसलिए इस प्रकार की सन्धि को आत्मरक्षा सन्धि भी कहते हैं।^१

कामन्दकीयनीतिसार में पुरुषान्तर सन्धि को स्पष्ट करते हुए बतलाया गया है कि जब दो राजाओं में इस प्रण के साथ सन्धि हो जाती है कि इन दोनों राजाओं के मुख्यों (सेनापतियों) के द्वारा उनके परस्पर कार्य सिद्धि होते रहेंगे तो वह सन्धि पुरुषान्तर सन्धि कहलाती है।^२

(३) अदृष्ट पुरुष दण्डोपनत सन्धि—राजा अथवा अन्य कोई व्यक्ति सेना सहित अपने शत्रु राजा के कार्यसम्पादन हेतु किसी स्थान पर (शत्रु राजा के राज्य के बाहर) आवश्यकतानुसार गमन किया करे इस प्रण के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह अदृष्ट पुरुष दण्डोपनत सन्धि कहलाती है। क्योंकि इस प्रकार की सन्धि के अनुसार किसी निदिष्ट पुरुष को ही अपने शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु उपस्थित होना पड़ेगा ऐसा प्रतिबन्ध नहीं रहता। इस प्रकार की सन्धि से हीनबल राजा और उसकी सेवा के मुख्य अधिकारियों की भी रक्षा हो जाती है।^३ कामन्दक ने भी अदृष्टपुरुष सन्धि का उल्लेख किया है और जिसको वह अदृष्टनर और अदृष्टपुरुष दोनों नामों से सम्बोधित करते हैं।^४ उनका मत है कि जब शत्रु राजा के साथ हीनबल राजा इस प्रण के आधार पर सन्धि कर लेता है कि हीनबल राजा अकेले ही शत्रु राजा के कार्य सम्पादन हेतु अपनी सेना के साथ गमन करता रहेगा अदृष्ट पुरुष सन्धि कहलाती है।^५ इस प्रकार की सन्धि में यह आवश्यक नहीं कि हीनबल राजा शत्रु राजा के अधीन रहकर युद्ध के लिए स्वयं अथवा अपनी सेना शत्रु राजा के शत्रु से युद्ध करने के लिए प्रस्थान किया करे।

इस प्रकार उपर्युक्त तीन प्रकार की सन्धि दण्डोपनत सन्धि कहलाती हैं। इनमें

१—सेनापतिकुमाराभ्यामुपस्थातव्यमित्ययम् ।

पुरषान्तरसन्धिः श्यान्नात्मनेधात्मरक्षणः ॥ श्लोक २१ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—आवधोर्धोधमुख्याभ्यां मदर्थः साध्य इत्यपि ।

यस्मिन् पणः प्रक्रियते स सन्धिः पुरुषान्तरः ॥

श्लोक १३ सर्ग ६ कामन्दकीय नीतिसार ॥

३—एकेनान्यत्र यातव्यं स्वयं दण्डेन वेत्ययम् ।

अदृष्टपुरुषः सन्धिर्दण्डमुख्यात्मरक्षणः ॥ श्लोक २६ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—अदृष्टनर आदिष्ट आत्मापि उपगृह ॥ श्लोक ३ सर्ग ६ कामन्दकीय नीतिसार ॥

५—त्वयैकेन मदीयार्थः सम्प्रसाध्यस्वसाविति ।

अथ शत्रुः पणं कुर्यात्सोऽदृष्टपुरुषः स्मृतः ॥ श्लोक १४ सर्ग ६ काम० नीतिसार ॥

से प्रथम दो प्रकार की सन्धि (आत्मामिष और पुरुषान्तर) में उच्च पद वाली स्त्री की प्रतिवन्दी (Hostage) के रूप में प्रस्तुत करना और तीसरी प्रकार की सन्धि (अदृष्ट पुरुष) में गुप्तचरों के द्वारा हीनबल राजा को अपना कार्य साधना चाहिए ।^१ कौटिल्य ने इस प्रकार यह दो साधन बतलाए हैं जिनके द्वारा दण्डोपनत सन्धि कर लेने के उपरान्त हीनबल राजा को अपना कार्य साध लेना चाहिए ।

(आ) कोशोपनत सन्धि—जब हीनबल राजा अपने सबल शत्रु राजा की धन द्वारा सहायता करता रहेगा इस प्रकार वचनबद्ध होकर सन्धि कर लेता है तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने कोशोपनत सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है । कौटिल्य कोशोपनत सन्धि के चार प्रकार मानते हैं जो परिक्रय, उपग्रह, मुवर्ण और कपाल सन्धि हैं ।^२

(१) परिक्रय कोशोपनत सन्धि—युद्ध में शत्रु द्वारा बन्दी बनाए गए मंत्री आदि किसी मुख्य व्यक्ति की मुक्ति हेतु धन-दान के पण के आधार पर जो सन्धि की जाए उस सन्धि को परिक्रय कोशोपनत सन्धि कहा गया है ।^३ कोश के कुछ अंश (कुप्यादि) अथवा सम्पूर्ण कोश दान कर अन्य प्रकृतियों (कोश के अतिरिक्त राजा, मंत्री आदि अवशेष छः प्रकृतियों) की रक्षा के निमित्त जो सन्धि की जाती है उस सन्धि को कामन्दक परिक्रय सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं ।^४

(२) उपग्रह कोशोपनत सन्धि :—यदि परिक्रयसन्धि में कई बार में थोड़ा-थोड़ा करके (by the way of easy instalments) बहुत धन देने की प्रतिज्ञा करके सन्धि की जाय तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य उपग्रह सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं । वह इसी सन्धि को स्कन्धोपनेय सन्धि भी कहते हैं ।^५ उपग्रह सन्धि की व्याख्या करते हुए कामन्दक कहते हैं कि प्राण रक्षा के निमित्त सर्व-स्व दान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह उपग्रह सन्धि कहलाती है ।^६ वह स्कन्धोपनीय सन्धि को उपग्रह सन्धि से भिन्न मानते हैं । उनके मतानुसार जहाँ फल आदि थाली में रखकर कन्धे पर रखकर मृत्युजन विजयी राजा को

१—मुख्यस्त्रीबन्धनं कुर्यात्पूर्वयोः पश्चिमे त्वरिम् ।

साधयेद्गूढमियेते दण्डोपनतसंधयः ॥ श्लोकं २७ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—तिष्ठेच्चतुर्थं इत्येते कोशोपनत संधयः ॥ श्लोक ३२ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—कोशदानेन शेषाणां प्रकृतीनां विमोक्षणम् ।

परिक्रयो भवेत्सन्धिः स एव च यथासुखम् ॥ श्लोक २८ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—कोशांशेनाथ कुप्येन सर्वकोपेण वा पुनः ।

शेष प्रकृतिरक्षार्थं परिक्रय उदाहृतः ॥ श्लोक १७ सर्ग ६ काम० नीतिसार ॥

५—× × × स एव च यथा सुखम् ॥

स्कन्धोपनेयो बहुधाज्ञेयः सन्धिरुपग्रहः ॥ श्लोक २८, २९ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—क्रियते प्राणरक्षार्थं सर्वदानादुपग्रहः ॥ श्लोक १६ सर्ग ६ कामन्द० नीतिसार ॥

भेंट करते हैं और इस प्रकार जो सन्धि की जाती है उसको स्कन्धोपनेय सन्धि कहते हैं।^१ इसी सन्धि के अन्तर्गत देयधान शत्रु राजा को देश, काल के अनुसार कुछ दिन के अनन्तर भुगतान कर देने की प्रतिज्ञा के आधार पर जो संधि की जाती है उस संधि को कौटिल्य अपग्रह सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं।^२ कामन्दक ने अपग्रह सन्धि का उल्लेख नहीं किया है।

(३) सुवर्ण कोशोपनत सन्धि—जब दो शत्रु राजाओं में परस्पर सन्धि के द्वारा विश्वास उत्पन्न होकर परस्पर एकता हो जाती है इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य सुवर्ण सन्धि कहते हैं।^३ कामन्दक सुवर्ण सन्धि को काञ्चन सन्धि एवं संगत सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हुए कहते हैं—सजन राजाओं के मध्य मित्रता स्थापित करने के हेतु जो सन्धि की जाती है संगत सन्धि कहलाती है। जब तक जिन्हें तब तक अर्थ के प्रयोजन वाली सम्पत्ति-विपत्ति में किसी कारण से भी नहीं टूटेगी। यह संगति सन्धि अत्युत्तम होने से सुवर्ण के समान है इसीलिए सन्धि के अन्य ज्ञाताओं ने संगति सन्धि को काञ्चन सन्धि कहा है।^४

(४) कपाल कोशोपनत सन्धि—अत्यधिक धन दान की प्रतिज्ञा के आधार पर जो सन्धि की जाती है कपाल सन्धि कहलाती है—ऐसा कौटिल्य का मत है। यह संधि ऊपर की सन्धि के विरुद्ध होती है।^५ कामन्दक ने भी सन्धि का एक प्रकार कपाल सन्धि माना है। कामन्दक के मतानुसार दो समान सामर्थ्य वाले राजाओं के मध्य की गयी सन्धि का नाम कपाल सन्धि है।^६

कौटिल्य उपर्युक्त चार प्रकार की कोशोपनत सन्धियों के करने के उपरान्त हीन-बल राजा को अपने सबल शत्रु राजा के प्रति अपना कार्य किस प्रकार साधना चाहिये इस विषय का उल्लेख करते हुए कहते हैं—प्रथम दो सन्धियों (परिक्रय और अपग्रह) में जो कुप्य, हाथी, अश्व उन के परिच्छद के साथ-साथ लौट आने वाले देना चाहिये अथवा देर में मृत्यु देने वाले विष (slow poison) खिलाकर हाथी-घोड़े आदि देने चाहिये।^७ तीसरी प्रकार की सन्धि (सुवर्ण सन्धि) में निर्धारित धन का आधा धन

१—परिच्छिन्नं फलं यद्य स्कन्धः स्कन्धेन दीयते ।

स्कन्धोपनेयं तं प्राहुः सन्धिं सन्धिविदो जनाः ॥ श्लोक १६ सर्ग ६ काम० नीतिसार ॥

२—निरुद्धो देशकालभ्यां अग्रहः स्यादपग्रहः ॥ श्लोक २६ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—सुवर्णसन्धिर्विश्वासादेकीभावगतो भवेत् ॥ श्लोक ३० अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—सङ्गिः संगतसन्धिस्तु मैत्रीपूर्वं उदाहृतः ॥ श्लोक ६ सर्ग ९ काम० नीतिसार ॥

संगतः सन्धिरेवैष प्रहृष्टत्वात्सुवर्णवत् ।

सोऽपरेः सन्धिकुशलैः बाञ्छनः परिकीर्तितः ॥ श्लोक ८ सर्ग ६ काम० नीतिसार ॥

५—विपरीतः कपालः स्यादत्यादानाभभाषितः ॥ श्लोक ३५ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—कपाल सन्धिविज्ञेयः केवलं समसन्धितः ॥ श्लोक ५ सर्ग ९ काम० नीतिसार ॥

७—पूर्वयोः प्रणयेत्कुप्यं हस्त्यश्वं वागुरान्वितम् ॥ श्लोक ३१ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

दैकर निवेदन करना चाहिये कि अभी हमारी आय के साधन नष्ट हो गये हैं (अतः अवशेष धन देने में असमर्थ हूँ), और चौथी प्रकार की सन्धि (कपाल सन्धि) में जहाँ तक हो सके वहाना बनाकर समय टालता रहना चाहिये। देना कुछ भी नहीं चाहिये।^१

(इ) देशोपनत सन्धि—जब हीनबल राजा अपने सबल शत्रु राजा को भूमि दान करने की प्रतिज्ञाकर उससे संधि करता है इस प्रकार की सन्धि देशोपनत संधि कहलाती है—ऐसा कौटिल्य का मत है। देशोपनत सन्धि भी कयी प्रकार की बतलायी गयी है।

(१) आदिष्ट देशोपनत सन्धि—देश का एक अंश शत्रु राजा को प्रदान कर अन्य प्रकृतियों (राजा, मन्त्री आदि) की रक्षा करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाने वाली सन्धि को कौटिल्य आदिष्ट सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। उनका मत है कि हीनबल राजा को इस प्रकार प्रदत्त अपनी भूमि में चोर-डाकुओं के नाश हेतु यह सन्धि उपयोगी होती है।^२ कामन्दक भी आदिष्ट सन्धि की परिभाषा कौटिल्य की भाँति ही करते हुए कहते हैं—जहाँ पृथ्वी का कुछ अंश देकर सन्धि की जाती है उसे सन्धि विशारदों ने आदिष्ट सन्धि बतलाया है।^३

(२) उच्छिन्न देशोपनत सन्धि—राजधानी एवं सारभूमि (सार सामग्री को उत्पन्न करने वाली भूमि) को छोड़कर राज्य की अनउपजाऊ (ऊपर-बंजर) भूमि को प्रदान करने के आधार पर जो सन्धि की जाय इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने उच्छिन्न सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है। उनका मत है कि इस प्रकार की सन्धि उस राजा के लिए उपयोगी होती है जो अपने शत्रु राजा को संकट में डालना चाहता है।^४ कामन्दक भी उच्छिन्न सन्धि से परिचित थे। वह उस सन्धि को उच्छिन्न संधि के नाम से सम्बोधित करते हैं जो सारभूमि के प्रदान करने की प्रतिज्ञा के आधार पर की जाती है।^५

(३) अवक्रय देशोपनत सन्धि—भूमि की उयज देते रहने की प्रतिज्ञा कर भूमि को शक्तिसम्पन्न शत्रु से मुक्त कराने के प्रतिबन्ध के साथ जो संधि की जाय उस सन्धि को कौटिल्य ने अवक्रय संधि की संज्ञा दी है।^६ कामन्दक ने अवक्रय सन्धि का उल्लेख नहीं किया है।

१—तृतीये प्रणयेदधं कथयन्कर्मणां क्षयम् ॥ श्लोक २१ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—भूम्यैरुद्देश्यत्वात्ते शेषप्रकृतिरक्षणम् ।

आदिष्ट सन्धिस्तत्रष्टौ गूढस्तेनोपवातिनः ॥ श्लोक ३३ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—यत्र भूम्यैरुद्देशेन पण्येन रिसवर्जितः ।

सन्धीयते सन्धिविद्धिरादिष्टः सन्धिरुच्यते ॥ श्लोक १५ सर्ग ६ काम० नीतिसार ॥

४—भूमिनामात्तु साराणां मूलवर्जं प्रणामनम् ।

उच्छिन्नसन्धिस्तत्रष्टौ परव्यसनकांक्षिणः ॥ श्लोक ३४ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—भुवां सारवतीनान्तु दानादुच्छिन्न उच्यते ॥ श्लोक १८ सर्ग ६ काम० नीतिसार ॥

६—फलदानेन भूमीनां मोक्षयं स्यादवक्रयः ॥ श्लोक ३५ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

(४) परिदूषण देशोपनत सन्धि—भूमि में जितनी उपज हो उससे अधिक उपज प्रदान करने की प्रतिज्ञा कर शत्रु राजा से अपनी भूमि के मुक्त कराने के निमित्त जो सन्धि की जाती है उस सन्धि को कौटिल्य ने परिदूषण सन्धि की संज्ञा दी है।^१ कामन्दक उस सन्धि को परिदूषण अथवा परिभूषण सन्धि कहते हैं जिसके अनुसार भूमि को सम्पूर्ण उपज प्रदान कर देने की प्रतिज्ञा कर (अपनी भूमि को विजयी राजा से मुक्त कराने के निमित्त) सन्धि की जाती है।^२ कामन्दकीय नीतिसार के विभिन्न संस्करणों में इस सन्धि को किन्हीं संस्करणों में परिदूषण और किन्हीं में परिभूषण सन्धि के नाम से सम्बोधित किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि भूल से परिदूषण के स्थान पर परिभूषण छप गया है।

इस प्रकार आदिष्ट, उच्छिन्न, अवक्रय और परिदूषण सन्धि यह चार भेद देशोपनत सन्धि के माने गए हैं। कौटिल्य का मत है कि इन चारों प्रकार की सन्धियों में प्रथम दो—आदिष्ट और उच्छिन्न—सन्धियों की स्थिति में हीनवल राजा को अपने शत्रु राजा की विपत्ति की प्रतीक्षा करते हुए (अपनी भूमि के पुनः प्राप्ति का) अवसर की खोज करते रहना चाहिए और अन्तिम दो—अवक्रय और परिदूषण—प्रकार की सन्धियों में सन्धि के अनुसार भूमि की निर्धारित उपज केवल उसी दशा में शत्रु के पास भेंट करनी चाहिए जब कि वह शत्रु राजा द्वारा उपज प्रदान किए जाने के लिए विवश कर दिया जाए। अन्यथा टाल-मटोल करते रहना चाहिए।^३

कुछ और सन्धियाँ—हीन-सन्धि के अतिरिक्त कौटिल्य ने कतिपय ऐसी सन्धियों का भी उल्लेख किया है जो उन दो अथवा दो से अधिक राजों के मध्य सन्धि

१—फलातिभुक्तो भूमिभ्यः सन्धिः स परिदूषणः ॥

श्लोक ३५ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—सर्वभूफलादानेन परिभूषणः ॥ श्लोक १८ सर्ग ६ कामन्दकीय नीतिसार

(पण्डित ज्वालाप्रसाद द्वारा विरचित भाषा टीका सहित)

सर्वभूमिफलादानात् सन्धिः स्यात्परदूषणः ॥ श्लोक १७ सर्ग ६ कामन्दकीय नीतिसार (पण्डित जगन्मंगल कृत पाण्डुलिपि, उत्तरप्रदेशीय इतिहास परिषद् के कार्यालय में प्राप्त)

Paribhushan sandhi is that which is concluded by giving up the products of the whole territory. verse 18 sarga 9 Kamandak Nitisar translation by manmath Dutt M.A., M. R. A. S.

३—कुर्यादवेक्षणं पूर्वो पश्चिमौत्वावलीयसम् ।

आदाय फलमित्येते देशोपनत संघयः ॥ बार्ता ३६ अ० ३ अधि० ७ अर्थ० ॥

की जाती थीं जो किसी राजा पर आक्रमण करने के निमित्त परस्पर गठि-बन्धन करने के हेतु सन्धि करते थे । इस प्रकार की सन्धियों को कौटिल्य ने कई श्रेणियों में परिगणित किया है जिनका संक्षिप्त वर्णन यहाँ दिया जाएगा ।

आक्रमण के क्रम के अनुसार सन्धि—जब दो अथवा दो से अधिक राजा इस आधार पर परस्पर सन्धि करते हैं कि उनको किस क्रम से आक्रमण करना चाहिए इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने परिपणित और अपरिपणित नाम से सम्बोधित किया है ।^१ परिपणित सन्धि के मुख्य तीन भेद बतलाए गए हैं जिनका आधार देश, काल और अर्थ माना गया है और इस दृष्टि से उनको कौटिल्य ने परिपणित सन्धि के तीन भेद—परिपणितदेशसन्धि, परिपणितकालसन्धि, परिपणितार्थसन्धि—माने हैं ।

(१) **परिपणितदेशसन्धि**—जब दो अथवा दो से अधिक राज्य विजया-भिलाषा से इस प्रतिबन्ध के साथ परस्पर संघठित होकर किसी राजा के राज्य पर आक्रमण करते हैं कि तुम इस देश पर आक्रमण करो और मैं अमुक देश की ओर यात्रा करता हूँ इस प्रकार की सन्धि को परिपणित देश सन्धि कहते हैं ।^२

(२) **परिपणित काल सन्धि**—तुम इतने काल तक विजय की चेष्टा करते रहो, मैं इतने काल तक चेष्टा करता रहूँगा इस अनुबन्ध के आधार पर जो सन्धि की जाती है वह परिपणितकालसन्धि कहलाती है ।^३

(३) **परिपणितार्थसन्धि**—तुम इतना कार्य पूरा करना मैं इतने कार्य को पूरा करूँगा इस प्रकार की सन्धि में कार्य सम्बन्धी प्रतिबन्ध है अतः ऐसी सन्धि को कौटिल्य ने परिपणितार्थ सन्धि के नाम से सम्बोधित किया है ।^४

आचार्य कौटिल्य ने यह भी बतलाया है कि किन परिस्थितियों में इन सन्धियों का आश्रय लेना हितकर होगा । कौटिल्य के मतानुसार विजयाभिलाषी राजा को ऐसी परिस्थिति में परिपणितदेशसन्धि अपने सहायक राजा से करनी चाहिए जब उसको यह विश्वास हो जाए कि उसका सहायक राजा पर्वत, वन, नदी, दुर्ग और अटवी (विशेष प्रकार के वन) से व्याप्त, धन-धान्य, सैनिक वीर पुरुष, तैल, घृत आदि वस्तु समूह से रहित, दाना-घास से विहीन, अपरिचित, लम्बी यात्रा वाले, अन्य भाषा-भाव

१—सन्धिः परिपणितश्चापरिपणितश्च ॥ वार्ता ८ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—त्वमेतं देशं याह्यद्वमिमं देशं यास्यामीति परिपणितदेशः ॥

वार्ता ९ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—त्वमेतावन्तं कालं चेष्टस्वाहमेतावन्तं कालं चेष्टिष्ये इति परिपणितकालः ॥

वार्ता १० अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—त्वमेताकार्यं साधयाहमिदं कार्यं साधयिष्यामीति परिपणितार्थः ॥

वार्ता ११ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

सं युक्त, सेना के व्यायाम के योग्य भूमि के अभाव वाले देश पर आक्रमण कर लेगा और उसको इससे विपरीत सुगम देश पर आक्रमण करना पड़ेगा ।^१

किस परिस्थिति में विजयाकांक्षी राजा को परिपणितकालसन्धि करनी चाहिए इस विषय में कौटिल्य यह व्यवस्था देते हैं—वर्ष, गरमी और सरदी के कारण, क्लेश जनक रोग प्रकोप से युक्त, आहार की प्राप्ति से रहित, सेना के व्यायाम की रुकावट करनेवाले कार्य साधन में दुर्लभ, अधिक समय तक मेरे सहायक राजा को काम करना होगा और उसको स्वयं इसके विपरीत इन विघ्न बाधाओं से रहित होकर अल्प काल तक ही युद्ध करना है जब विजयाभिलाषी राजा इस परिस्थिति में हो तो उसको अपने सहायक राजा के साथ परिपणित काल सम्बन्धी सन्धि कर लेनी चाहिए ।^२

अमुक कार्य में शत्रु के मंत्री आदि कुपित करने पड़ेंगे । बहुत बड़े धन के व्यय और जनक्षय के उपरान्त दीर्घ काल में यह कार्य सिद्ध हो सकेगा । इस कार्य में अल्प फल है परन्तु अन्तर्ग अर्थ अधिक है । यह बहुत ही क्लेशदायक अधर्मयुक्त कार्य है । मध्यम और उदासीन राजाओं के यह विरुद्ध होगा । मित्रों को भी इस कार्य में हानि पहुँच जाने की सम्भावना है । परन्तु इस कार्य को विजयाभिलाषी राजा का सहायक राजा करने को उद्यत है । जब ऐसी परिस्थिति उपस्थित हो तो उस राजा को परिपणितार्थ सन्धि का आश्रय लेना चाहिए ।^३

परिपणितदेश, परिपणितकाल और परिपणितार्थ सन्धियों के भेद—कौटिल्य ने परिपणित सन्धि के उभयुक्त तीन भेदों के उपभेदों को भी उल्लिखित किया है । जब इन सन्धियों में उभयुक्त किन्हीं दो परिस्थितियों (देश-काल) का समावेश एक साथ होता है तो वह सन्धि इन दोनों से संयुक्त सन्धि मानी गयी है । इस प्रकार देश और काल के मेल से देशकालपरिपणितसन्धि, काल और कार्य के मेल से काल कार्यपरिपणितसन्धि, देश और कार्य के मेल से देशकार्यपरिपणितसन्धि और देश

१—यदि वा मन्येत शैलवनतदीर्घदुर्गमटवीव्यवहित क्षिप्रवान्यपुरुषवीवघासारमयव-
सेन्धनादक्रमविज्ञातं प्रकृष्टमन्त्रभावदेशीयं वा सैन्यव्याग्रामानामलब्धभौमं वा
देशं परायास्यति विपरीतमहमित्येतस्मिन्विशेषे परिपणितदेशं सन्धिमुपेयात् ॥

वार्ता १२ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—यदि वा मन्येत प्रवर्षोष्णशीतमतिव्याधिप्रायमुपक्षीणाहारोपभोगं सैन्यव्याग्रामानां
चौपरोधिकं कार्यसाधनानामूनमतिरिक्तं वा कालं परचेष्टिष्यते विपरीतमह-
मित्येतस्मिन्विशेषे परिपणितकालं सन्धिमुपेयात् ॥

वार्ता १३ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—यदि वा मन्येत प्रत्यादेयं प्रकृतिकोपकं दीर्घकालं महाक्षयव्ययमल्पमनर्थानु-
बन्धमकल्पयन् मध्यमादासीनविरुद्धं मित्रोपघातकं वा कार्यं परः साधयिष्यति
विपरीतमहमित्येतस्मिन्विशेषे परिपणितार्थं सन्धिमुपेयात् ॥

वार्ता १४ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

काल और कार्य तीनों के मेल से देशकालकार्यपरिपणितसन्धि मानी गयी है। इस प्रकार परिपणित सन्धि के आचार्य कौटिल्य ने कुल सात भेद बतलाए हैं।^१

अपरिपणितसन्धि—व्यसन-ग्रस्त, शीघ्र ध्वङ्गाजाने वाले, मंत्री-आदि से तिरस्कृत, आलसी, मूर्ख, शत्रु का विजय करने की इच्छा रखनेवाला राजा देश, काल और कार्य में से किसी का प्रतिबन्ध न लगाकर सहायक राजा से जो सन्धि करता है और इसी सन्धि के आधार पर शत्रु पर आक्रमण कर देता है इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने अपरिपणितसन्धि की संज्ञा दी है।^२

विजय के उपरान्त लाभ के आधार पर सन्धि भेद—विजयाभिलाषी राजा और उसके सहायक राजा के मध्य युद्ध-विजय में लाभ की आशा के आधार पर भी सन्धि होनी चाहिए ऐसा कौटिल्य का मत है। इस लाभ को कौटिल्य ने मित्र लाभ हिरण्य लाभ, भूमि लाभ और कर्म-लाभ माना है। इस लाभ के आधार पर कौटिल्य ने इस कोटि की सन्धि के चार प्रकार बतलाए हैं जो मित्रसन्धि, हिरण्यसन्धि, भूमि सन्धि और कर्मसन्धि के नाम से सम्बोधित की गयी हैं।

(१) मित्र लाभ सन्धि—जब विजयाभिलाषी राजा और उसके सहायक राजा के मध्य इस प्रतिबन्ध के आधार पर सन्धि होती है कि विजय के उपरान्त मित्र लाभ का इस प्रकार बटवारा होगा ऐसी सन्धि को मित्रलाभसन्धि बतलाया गया है। कौटिल्य ने इस विषय की भी विवेचना की है कि कौन सा मित्रलाभ श्रेष्ठ होता है। कौटिल्य ने इस विवेचना में पहले यह प्रश्न उठाया है कि सदा के लिए मित्र बन जाने वाला परन्तु स्वतन्त्र रहनेवाला मित्र अच्छा होता है अथवा सदा के लिए मित्र न रहने वाला परन्तु अधीन रहने वाला मित्र। इस प्रश्न के उत्तर में कौटिल्य अन्य आचार्यों का मत स्वाधीन नित्य मित्र के लाभ के पक्षमें बतलाते हैं।^३ इसका हेतु वह यह देते हैं कि नित्य मित्र यदि उपकार नहीं करेगा तो वह अपकार भी नहीं करेगा।^४ परन्तु अन्य आचार्यों के इस मत को कौटिल्य नहीं मानते।^५ वह अपने अधीन रहनेवाले मित्र राजा को श्रेष्ठ मानते हैं चाहे वह अनित्य मित्र ही क्यों न हो।^६ उनका कहना है

१—एवं देशकालयोः कालकार्ययोर्देशकार्ययोर्देशकालकार्याणां चावस्थापनास्तप्त-
विधः परिपणितः ॥ वार्ता १५ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—व्यसनस्वरावमानालस्ययुक्तमजं वा शत्रुमति संघातुकामो देशकालकार्याणा-
मनवस्थापनास्तहितौ स्व इति सन्धिविश्वासेन परिच्छद्दमासाद्य प्रहरेदित्य
परिपणितः ॥ वार्ता १७ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—नित्यमवश्यं श्रेयः ॥ वार्ता १० अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—तद्व्यनुपकुर्वन्पि नापकरोतीत्याचार्याः ॥ वार्ता ११ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—नेति कौटिल्यः ॥ वार्ता १२ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—वश्यमनित्यं श्रेयः ॥ वार्ता १३ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

कि मनुष्य जब तक उपकार करेगा तभी तक ही मित्र रहेगा, उपकार करना मित्र का लक्षण ही है ।^१

इस विषय में कौटिल्य ने फिर यह प्रश्न उठाया कि एक राजा बहुत सा कर देने को उद्यत हो परन्तु सदैव कर देता रहेगा ऐसी प्रतिज्ञाबद्ध नहीं होता । दूसरा राजा थोड़ा कर देता है परन्तु सदैव देता रहेगा ऐसी प्रतिज्ञा के आधार पर अधीनता स्वीकार करता है तो इन दोनों में किस को मित्र बनाना श्रेयस्कर होगा ? ।^२ कौटिल्य का कहना है कि अन्य आचार्य गण प्रथम प्रकार के राजा को मित्र बनाना श्रेयस्कर मानते हैं ।^३ परन्तु कौटिल्य इस मत को अच्छा नहीं मानते ।^४ वह तो सदैव के लिए अल्प कर जिस मित्र राजा से मिलता रहे उसी राजा से सन्धि करना श्रेयस्कर मानते हैं ।^५ कौटिल्य अपने इस मत की पुष्टि का यह हेतु देकर करते हैं कि जो अधिक द्रव्य देता है इस भय से कि उसको अधिक द्रव्य देना पड़ेगा मित्रता शीघ्र छोड़ देता है ।^६ अथवा वह द्रव्य देकर शीघ्र ही उसका बदला चुकाना चाहता है ।^७ सदैव किया जाने वाला अल्प-अल्प उपकार भी अधिक समय में महान उपकार का कारण बन जाता है ।^८

इस के उपरान्त कौटिल्य यह विवाद प्रस्तुत करते हैं कि महान प्रयत्न के उपरान्त महान सहायता के लिए तय्यार होने वाला अथवा अल्प प्रयत्न से तय्यार होने वाला लघुमित्र श्रेष्ठ मानना चाहिए ।^९ कौटिल्य का कहना है कि आचार्यगण प्रथम प्रकार के मित्र को श्रेयस्कर मानते हैं ।^{१०} ज्यों ही वह उठता है त्यों ही कार्य सध जाता है ।^{११} परन्तु कौटिल्य इस सिद्धान्त का विरोध करते हैं ।^{१२} वह दूसरे प्रकार के मित्र को श्रेयस्कर मानते हैं ।^{१३} वह अपने मत का समर्थन करते हुए यह हेतु देते हैं कि

१—प्रावदुपकरोति तावन्मित्रं भवत्युपकारलक्षणं मित्रमिति ॥

वार्ता १४ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—वश्ययोरपि महाभोगम नित्यमल्पभोगं वा नित्यमिति ॥

वार्ता १५ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—महाभोगमनित्यं श्रेयः ॥

वार्ता १६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता १७ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—नित्यमल्पभोगं श्रेयः ॥

वार्ता १८ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—महाभोगमनित्यमुपकारभयादपक्रामति ॥ वार्ता २० अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—उपकृत्य वा प्रत्यादानुमीहते ॥ वार्ता २१ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—नित्यमल्पभोगं सातत्यादल्पमुपकुर्वन्महता कालेन महदुपकरोति ॥

वार्ता २२ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—गुरुसमुत्थं महन्मित्रं लघुसमुत्थमल्पं वेति ॥ वार्ता २३ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—गुरुसमुत्थं महन्मित्रं प्रतापकरं भवति ॥ वार्ता २४ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

११—यदा चेत्तिष्ठते तदा कार्यं साधयतीत्याचार्याः ॥ वार्ता २५ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

१२—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता २६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

१३—लघुसमुत्थमल्पं श्रेयः ॥

वार्ता २७ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

थोड़े प्रयत्न से उठ जानेवाला मित्र कार्य के समय को नहीं खोता। वह दुर्बल होता है इसलिए जहाँ चाहे वहाँ उस राजा को कार्य में लगाया जा सकता है। परन्तु महान् शक्तिवान् मित्र ऐसा नहीं कर सकता। यह महान् शक्तिवान् मित्र दूरी पर रहनेवाला होगा तो वह नितान्त ही कार्य में नहीं लगाया जा सकता।^१

कौटिल्य फिर यह विवाद प्रस्तुत करते हैं कि इन दो प्रकार के मित्र राजाओं में किस मित्र राजा को श्रेयस्कर समझना चाहिए—जिस मित्र राजा की सेना वश में है परन्तु वह भिन्न भिन्न स्थानों में बिखरी है अथवा जिस मित्र राजा की सेना उस के समीप हो यद्यपि वह उसके वश में नहीं है।^२ कौटिल्य का कथन है कि अन्य आचार्य-गण उसी मित्र को श्रेयस्कर बतलाते हैं जिस की सेना वश में रहती है, चाहे वह भिन्न-भिन्न स्थानों में बिखरी क्यों न हो; क्योंकि वह सेना वश में होने के कारण शीघ्र एकत्र की जा सकती है।^३ परन्तु आचार्य कौटिल्य ने इस मत का समर्थन नहीं किया है।^४ वह दूसरी कौटि के मित्र राजा को श्रेष्ठ समझते हैं, और उस का हेतु देते हैं कि आवश्यकता पड़ने पर साम, दान आदि उपायों से उस सेना को वश में कर लिया जायगा। परन्तु बिखरी हुई सेना का एकत्र होना कठिन है, क्योंकि वह अन्य कार्य में संलग्न होती है।^५

सेना द्वारा सहायता देने वाला मित्र अथवा हिरण्य द्वारा सहायता देनेवाला मित्र अच्छा होता है।^६ इस विषय में कौटिल्य अन्य आचार्यों का मत देते हुए कहते हैं कि आचार्य गण सेना द्वारा सहायता देनेवाले मित्र को अच्छा बतलाते हैं।^७ परन्तु कौटिल्य स्वयं इस मत को नहीं मानते।^८ वह हिरण्य द्वारा सहायता देनेवाले मित्र को श्रेयस्कर मानते हैं।^९ इसका हेतु वह यह देते हैं कि हिरण्य की सदैव आवश्यकता

१—लघुसमुत्थमत्पं मित्रं कार्यकालं नातिपातयति दीर्घत्याच्च यथेष्टभोग्यं भवति
नेतरत्प्रकृष्टभौमम् ॥ वार्ता २८ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—विच्छिप्तसैन्यमवश्यसैन्यं वेति ॥ वार्ता २६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—विच्छिप्तं सैन्यं शक्यं प्रतिसंहतुं वश्यत्वादिद्याचार्याः ॥ वार्ता ३० अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—मेति कौटिल्यः ॥ वार्ता ३१ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—अवश्य सैन्यं श्रेयः ॥ अवश्यं हि शक्यं सामादिभिर्वश्यं कर्तुम् ॥ नेतरत्कार्यभ्यासकत्वं
प्रतिसंहतुम् ॥ वार्ता ३२, ३३, ३४ अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—पुरुषभोगं हिरण्यभोगं वा मित्रमिति ॥ वार्ता ३६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—पुरुषभोगं मित्रं श्रेयः ॥ पुरुषभोगं मित्रं प्रतापकरं भवति ॥ यदा चेष्टिते तदा
कार्यं साधयतीत्याचार्याः ॥ वार्ता ३६, ३७, ३८ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—मेतिकौटिल्यः ॥ वार्ता ३६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—हिरण्यभोगं मित्रं श्रेयः ॥ वार्ता ४० अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

रहती हैं परन्तु सेना की तो कभी-कभी आवश्यकता होती है। हिरण्य से तो सेना भी एकत्र की जा सकती है और अन्य कार्य भी साधे जा सकते हैं।^१

हिरण्य अर्पण करनेवाला मित्र अथवा भूमि अर्पण करनेवाला मित्र अच्छा मानना चाहिए।^२ इस विषय में आचार्य गण हिरण्य अर्पण करनेवाले मित्र को अच्छा मानते हैं क्योंकि हिरण्य प्रत्येक स्थान पर सहायता करता है और समस्त व्ययों के स्थानों के भार को हलका बना देता है।^३ परन्तु कौटिल्य ऐसा नहीं मानते।^४ वह भूमि द्वारा सहायता करनेवाले मित्र को श्रेष्ठ मानते हैं क्योंकि भूमि द्वारा हिरण्य और मित्र दोनों की प्राप्ति हो जाती है।^५ इसलिए भूमि द्वारा सहायता करनेवाला मित्र हिरण्य द्वारा सहायता करनेवाले मित्र की अपेक्षा श्रेयस्कर होता है।^६

मित्र राजा के भेद—कौटिल्य ने मित्र राजा के छः भेद माने हैं जिनको उन्होंने नित्यमित्र, वश्य-मित्र, लघूत्थान मित्र, पितृपैतामह मित्र, महद् मित्र और अद्वैध्य मित्र नाम से सम्बोधित किया है।^७ इन छः प्रकार के मित्र राजाओं के विशेष लक्षण भी उन्होंने संक्षेप में बतलाए हैं।

(१) नित्य-मित्र—जो मित्र लोभ अथवा स्वार्थ के बिना ही अपने पूर्व के सम्बन्ध (मित्रता) की रक्षा में तत्पर रहता है वह नित्य-मित्र कहलाता है।^८

(२) वश्यमित्र—साम, दान और भेद उपायों के द्वारा जो दुर्बल राजा किसी सबल राजा द्वारा मित्र बनाकर वश में रखे जाते हैं इस कौटि के मित्र राजाओं को कौटिल्य ने वश्यमित्र की श्रेणी में परिगणित किया है।

वश्यमित्र के भेद—कौटिल्य ने वश्यमित्र छः प्रकार के बतलाए हैं और जिनको वह सर्वभोग वश्यमित्र, चित्रभोग वश्यमित्र, महाभोग वश्यमित्र, एकतोभोगी

१—नित्यो हि हिरण्येन योगः कदाचिद्दण्डेन दण्डश्च हिरण्येनान्ये च कामाः प्राप्यन्त इति ॥ वार्ता ४१ अ० ९ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—हिरण्यभोगं भूमिभोगं वा मित्रमिति ॥ वार्ता ४२ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—हिरण्यभोगं गतिमत्त्वाः सर्वभ्यप्रतीकारकरमित्याचार्याः ॥

वार्ता ४३ अ० ९ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता ४४ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—मित्र हिरण्ये हि भूमिलाभाद्भवत इत्युक्तं पुरस्तात् ॥

वार्ता ४५ अ० ९ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—तस्माद्भूमिभोगं मित्रं श्रेय इति ॥ वार्ता ४६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—नित्यं वश्यं लघूत्थानं पितृपैता महं महत् ॥

अद्वैध्यं चेति संपन्नं मित्रं षड्गुणमुच्यते ॥ श्लोक ४१ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—कृते यदर्थं प्रणयाद्दयते यच्च रक्षति ॥

पूर्वोपचितसंबन्धं तन्मित्रं नित्यमुच्यते ॥ श्लोक ४१ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

वश्यमित्र, उभयभोगी वश्यमित्र और सर्वतोभोगी वश्यमित्र नाम से सम्बोधित करते हैं ।^१

(अ) सर्वभोग वश्य मित्र—जो राजा अपने मित्र राजा के निमित्त दण्ड (सेना) कोश और भूमि आदि सब कुछ अर्पण कर देता है वह राजा सर्वभोग वश्यमित्र कहलाता है ।^२

(आ) चित्रभोग वश्यमित्र—जो राजा बड़े-बड़े बाजार, नगर, ग्राम या खान से उत्पन्न रत्न, सार, कुप्य तथा द्रव्य, वन, हस्तिवन अथवा बैल आदि द्वारा बने हुए रथ, यान-वाहन आदि से अपने मित्र राजा का उपकार करता है वह राजा चित्रभोग वश्यमित्र कहलाता है ।^३

(इ) महाभोग वश्यमित्र—जो राजा सेना अथवा कोश द्वारा अपने मित्र राजा का महान उपकार करता है वह महाभोग वश्यमित्र कहलाता है ।^४

(ई) एकतोभोगी वश्यमित्र—जो वश्यमित्र अपने मित्र राजा के शत्रु मात्र का प्रतीकार करता है वह एकतोभोगी वश्यमित्र कहलाता है ।^५

(उ) उभयभोगी वश्यमित्र—जो वश्यमित्र अपने मित्र के शत्रु और उस (शत्रु) मित्र दोनों का प्रतीकार कर देता है वह उभयभोगी वश्यमित्र कहलाता है ।^६

(ऊ) सर्वतोभोगी वश्यमित्र—जो वश्यमित्र अपने मित्र राजा के शत्रु उस (शत्रु) के मित्र तथा उसके पड़ोसी बनचर, भील आदि सब का प्रतीकार कर देता है वह सर्वतोभोगी वश्यमित्र माना गया है ।^७

(३) लघुस्थान मित्र—बिना ही प्रयत्न के सेना द्वारा सहायता करनेवाले मित्र राजा को कौटिल्य लघुस्थान मित्र कहते हैं ।

(४) पितृपैतामह मित्र—जो कुल क्रमागत मित्र होता है वह पितृपैतामह मित्र कहलाता है ।

१--सर्वचित्रमहाभोगं त्रिविधं वश्यमुच्यते ।

एकतोभोगयुभयतः सर्वतोभोगि चापरम् ॥ श्लोक ५२ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२--यद्दण्डकोशभूमिरूपकरोति तत्सर्वभोगम् ॥ वार्ता १४ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३--तेषां पण्यपत्तनग्रामखनिसंजातेन रत्नासारकुप्येन द्रव्यहस्तिवनवजसमुप्येनयान-
वाहनेन वा यद्बहुश उरकरोति तच्चित्रभोगम् ॥

वार्ता १२ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४--यद्दण्डेन कोशेन वा महदुपकरोति तन्महाभोगम् ॥

वार्ता १३ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५--यदमित्रमेकतः प्रतिकरोति तदेकतोभोगि ॥ वार्ता १५ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

६--यदमित्रमासारं चोपकरोति तदुभयभोगि ॥ वार्ता १६ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

७--यदमित्रासारप्रतिवेशाटविकान्सर्वतः प्रतिकरोति तत्सर्वतोभोगि ॥

वार्ता १७ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

(५) महद् मित्र—जो महान सेना युक्त मित्र राजा होता है वह महद् मित्र कहलाता है ।

(६) अद्वैध्य मित्र—जिनका परस्पर एक ही स्वार्थ सम्बन्ध हो, जो उपकारी और विकार हीन हो, और आपत्ति में भी दूर न होने वाला हो ऐसा मित्र अद्वैध्य मित्र कहलाता है ।^१

इस प्रकार कौटिल्य ने छः प्रकार के मित्रों का उल्लेख किया है । इसके अतिरिक्त कुछ ऐसे भी राजा होते हैं जो किसी दूसरे राजा और उस राजा के शत्रु दोनों के मित्र होते हैं जिनको कौटिल्य ने उभय मित्र की संज्ञा दी है । उभय मित्र भी कई प्रकार का बतलाया गया है ।

उभयभावी मित्र—जो अपना मित्र होने से ध्रुव और शत्रु का मित्र होने से चल तथा किसी का भी मित्र न होने से उदासीन होता है वह उभयभावी मित्र कहलाता है ।^२

दूसरा उभयभावी मित्र—जो विजय के लिए आक्रमण करनेवाले राजा का शत्रु है परन्तु इसी राजा के शत्रुओं में उलझा होने से मित्र भी बनता है, जो शत्रु शक्तिशाली होकर उपकार भी कर देता है अथवा उपकार नहीं भी करता है यह दूसरे प्रकार का उभयभावी मित्र माना गया है ।^३

तीसरा उभयभावी मित्र—जो मित्र दुर्बल होने के कारण शत्रु और आक्रमण करनेवाले राजा दोनों की सहायता में तत्पर रहता है और दोनों से द्वेष नहीं रखता उसे तीसरा उभय भावी मित्र कहते हैं ।^४

साधारण शत्रु—जो शत्रु का प्रिय रक्षा के योग्य, पूज्य तथा सम्बन्धी है और अपना भी उपकार कर देता है वह मित्र शत्रु में समान भाव रखनेवाला शत्रु साधारण कहलाता है ।^५

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने मित्र सन्धिकी विवेचना की है । उन्होंने हरिष्य सन्धिकी विशेष विवेचना करने की आवश्यकता नहीं समझी और इसीलिए उन्होंने इस

१—एकार्थे नार्थसम्बन्धमुपकार्यविकारि च ।

मित्रभावि भवत्येतन्मित्रमद्वैध्यमापदि ॥ वातां ५५ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—मित्रभावादध्रुवं मित्रं शत्रुसाधारणाचलम् ।

न कस्यचिदुदासीनं द्वयोर्उभयभावि तत् ॥ श्लोक ५६ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—विजिगीषोरमित्रं यन्मित्रमन्तर्धितां गतम् ।

उपकारे निविष्टं वा शक्तं वानुपकारि तत् ॥ श्लोक ५७ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—अरनेतुश्च यद्वृद्धिं दौर्बल्यादनुवर्तते ।

उभयस्थाप्यविद्विष्टं विद्यादुभयभावि तत् ॥ श्लोक ६० अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—प्रियं परस्य वा रक्ष्यं पूज्यं सम्बन्धमेव वा ।

अनुपहृणाति यन्मित्रं शत्रुसाधारणं हि तत् ॥ श्लोक ६२ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

विषय का विशेष वर्णन नहीं दिया है। इसके उपरान्त उन्होंने भूमि सन्धि की विवेचना की है।

भूमि सन्धि—जब दो राजाओं में इस अनुबन्ध के आधार पर परस्पर सन्धि होती है कि तुम और हम विजय के उपरान्त इस प्रकार भूमि का बटवारा कर लेंगे भूमि सन्धि कहलाती है।^१ कौटिल्य दुर्बल राजा से प्राप्त की गयी भूमि को उतना अच्छा नहीं मानते जितना कि सबल राजा से प्राप्त की गयी भूमि श्रेयस्कर होती है। इस विषय में उनका कहना है कि बलवान शत्रु को पराजित करने से भूमि लाभ, शत्रु-पराजय और प्रताप वृद्धि यह तीनों लाभ एक साथ होते हैं।^२ दुर्बल से भूमि छीनना यद्यपि सुगम कार्य है,^३ परन्तु यह लाभ उत्तम नहीं माना जा सकता क्योंकि दुर्बल पर आक्रमण करने पर आक्रमण करने वाले का मित्र शत्रु बन जाता है।^४

कौटिल्य ने भूमि लाभ के विषय में यह प्रश्न उठाया है कि विजयाकांक्षी राजा के लिए सम्पन्न नित्य शत्रुयुक्त भूमि लेनी श्रेयस्कर है अथवा अत्यल्प समृद्धशाली अनित्य शत्रु से युक्त भूमि।^५ इस विषय में कौटिल्य अन्य आचार्यों का मत देते हुए कहते हैं कि आचार्यों के मतानुसार अत्यन्त सम्पन्न नित्यशत्रुयुक्त भूमि की प्राप्ति ही श्रेयस्कर होती है।^६ सम्पन्न भूमि के द्वारा कोश और सेना दोनों का संग्रह किया जा सकता है।^७ इन दोनों (कोश और सेना) से शत्रुओं का उच्छेदन किया जा सकता है।^८ परन्तु कौटिल्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते।^९ उनका कहना है कि नित्य शत्रुयुक्त भूमि के प्राप्त होने पर अत्यधिक शत्रु का विरोध हो जाता है।^{१०} क्योंकि जो नित्य शत्रु है, उसका चाहे उपकार किया जाए या अपकार वह शत्रु ही रहता है। अपनी स्वाभाविक शत्रुता का वह त्याग नहीं कर सकता।^{११} परन्तु अनित्य शत्रु में यह बात

१—त्व चाह च भूमि लभावह हात भूमिसन्धिः ॥

वार्ता १ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

२—भूमिलाभं शत्रुकर्षणं प्रतापं च हि प्राप्नोति ॥ वार्ता ४ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

३—दुर्बलाद्भूमिलाभे सत्यं सौकर्यं भवति ॥ वार्ता ५ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

४—दुर्बल एव च भूमिलाभः तत्सामन्तश्च मित्रममित्रभावं गच्छति ॥

वार्ता ६ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

५—सम्पन्ना नित्यामित्रा मन्दगुणा वा भूमिरनित्यामित्रेति ॥

वार्ता १२ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

६—सम्पन्ना नित्यामित्रा श्रेयसीभूमिः ॥ वार्ता १३ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

७—सम्पन्ना हि कोशदण्डौ सम्पादयति ॥ वार्ता १४ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

८—तौ चामित्रप्रतिघातकावित्याचार्याः ॥ वार्ता १५ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

९—नेति कौटिल्यः ॥ वार्ता १६ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—नित्यामित्रलाभे भूयांश्छत्रुलाभो भवति ॥ वार्ता १७ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

११—नित्यश्च शत्रु रूपकृते चापकृते च शत्रु रेव भवति ॥

वार्ता १८ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

नहीं देखी जाती है उसके साथ उपकार अथवा अपकार करने से वह अवश्य ही शान्त हो जाता है ।^१ कौटिल्य उस भूमि को “नित्यामित्रा” मानते हैं जिस भूमि के सीमा प्रान्तों में होने वाले बहुत से दुर्ग, चोरों, म्लेच्छों तथा आटविकों से सदा घिरे हुए रहते हों , और इससे विपरीत भूमि अनित्यामित्रा कहते हैं ।^२

कौटिल्य इस विषय की भी विवेचना करते हैं कि समीप की अल्प भूमि अथवा दूर की अधिक भूमि की प्राप्ति श्रेयस्कर होगी ।^३ इस विषय में कौटिल्य समीप की अल्पभूमि की प्राप्ति दूर की अधिक भूमि को प्राप्ति की अपेक्षा श्रेयस्कर मानते हैं ।^४ जिसका हेतु वह यह देते हैं कि समीप की भूमि की प्राप्ति और रक्षा दोनों सुगमता से हो जाती है । तथा विपत्ति काल में इस भूमि का आश्रय भी लिया जा सकता है ।^५ परन्तु दूरी पर स्थित विस्तृत होने पर भी इससे विपरीत ही होती है ।^६ कौटिल्य समीप की भूमि में भी पररक्षित भूमि की प्राप्ति को अच्छा नहीं मानते । वह समीप में स्थित स्वरक्षित भूमि की प्राप्ति को पर रक्षित भूमि की प्राप्ति की अपेक्षा श्रेयस्कर मानते हैं ।^७ क्योंकि स्वयं स्थापित किए हुए कोश और सेना के द्वारा उसकी व्यवस्था की जा सकती है ।^८ परन्तु पररक्षित भूमि इसके विपरीत होती है । दूसरे के द्वारा स्थापित किए हुए कोश और सेना के द्वारा उसकी व्यवस्था की जाती है । ऐसी भूमि केवल अपनी रक्षा के लिए दूसरे की स्थापित की हुई सेना के निवास का एक स्थान मात्र होती है ।^९

मूल्य और बुद्धिमान इन दो प्रकार के राजाओं में से किस राजा की भूमि प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा—इस विषय में कौटिल्य मूल्य राजा की भूमि प्राप्त करना श्रेयस्कर मानते हैं ।^{१०} मूल्य राजा की भूमि बड़ी सरलता से प्राप्त हो जाती है और

१—अनित्यस्तु शत्रु रूपकारादनुपकाराद्वा शाश्वत्यति ॥

वार्ता १६ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

२—प्रत्या हि भूमेर्बहुदुर्गाश्चोरगणैर्म्लेच्छाटवीभिर्वा नित्याविरहिताः प्रत्यन्ता सा नित्यामित्रा विपर्यये त्वनित्यामित्रेति ॥ वार्ता २० अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

३—अल्पा प्रत्यासन्ना महती व्यवहिता वा भूमिरिति ॥

वार्ता २१ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

४—अल्पा प्रत्यासन्ना श्रेयसि ॥

वार्ता २२ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

५—सुखा हि प्राप्तुं पालयितुमभिसारयितुं च भवति ॥

वार्ता २३ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

६—विपरीता व्यवहिता ॥

वार्ता २४ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

७—आत्मधारणा श्रेयसी ॥

वार्ता २६ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

८—सा हि स्वसमुधाभ्यां कोशदण्डाभ्यां धार्यते ॥

वार्ता २७ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

९—विपरीता दण्डधारणा दण्डस्थानमिति ॥ वार्ता २८ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—बालिशताप्राज्ञाद्वा भूमि लाभः इति ॥ वार्ता ३० अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

उसकी रक्षा भी मुख पूर्वक की जा सकती है। इस भूमि के लौटाए जाने की भी शंका नहीं रहती।^१ परन्तु बुद्धिमान राजा से प्राप्त की गयी भूमि सर्वथा इसके विपरीत होती है क्योंकि बुद्धिमान राजा की प्रजा उसमें अनुराग रखने वाली होती है।^२

पीडनीय और उच्छेदनीय इन दो प्रकार के राजाओं में किससे भूमि प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा-इस प्रश्न के उत्तर में कौटिल्य उच्छेदनीय राजा की भूमि का प्राप्त करना श्रेयस्कर मानते हैं।^३ निराश्रय अथवा दुर्बल आश्रय प्राप्त किये हुए उच्छेदनीय के ऊपर जब आक्रमण किया जाता है तो वह कोश और सेना को लेकर अपने स्थान से भाग जाने की इच्छा करता है। ऐसी अवस्था में प्रकृति जन उसकी सहायता नहीं करते। वह ऐसे राजा का त्याग कर देते हैं।^४ परन्तु पीडनीय दुर्ग और मित्रों की सहायता प्राप्त कर अपने स्थान पर ही स्थित रहता है। इसलिए प्रकृति जन उसका त्याग नहीं करते।^५

नदीदुर्गधारी और स्थल दुर्गधारी राजाओं में किस राजा की भूमि का प्राप्त करना श्रेयस्कर होगा इस विषय में कौटिल्य स्थल दुर्गधारी राजा की भूमि का प्राप्त करना श्रेयस्कर मानते हैं।^६ इसका कारण वह यह बतलाते हैं कि स्थल का दुर्ग भली प्रकार घेरा जा सकता है उसको उच्छेदन कर देना भी सुलभ होता है और शत्रु राजा वहां से भाग भी नहीं सकता।^७ परन्तु नदी दुर्ग तो दोगुना क्लेशदायी होता है। वहां पीने योग्य जल और निर्वाह करने योग्य फल आदि, घेरा डालने पर भी मिलते ही रहेंगे।^८ नदी दुर्गधारी और पर्वत दुर्गधारी राजाओं में पर्वत दुर्गधारी राजा की अपेक्षा नदी दुर्गधारी राजा की भूमि का प्राप्त करना श्रेयस्कर माना गया है।^९ नदी दुर्ग हाथी, लकड़ी के स्तम्भ, बड़े, पुल और नौकाओं से जीता जा सकता

१—सुप्राप्यानुपात्या हि भवस्य प्रत्यादेया च ॥ वार्ता ३१ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

२—विपरीता प्राज्ञादनुरवतेति ॥ वार्ता ३२ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

३—पीडनीयोच्छेदनीययोरुच्छेदनियाद्भूमिलालभः श्रेयान् ॥

वार्ता ३३ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

४—उच्छेदनीयो ह्यनपाश्रयो दुर्बलापाश्रयो वाभियुक्तः कोशदण्डावादायापसर्तुकामः
प्रकृतिभिः त्यज्यते ॥ वार्ता ३४ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

५—न पीडनीयो दुर्गमित्र प्रतिस्तब्ध इति ॥ वार्ता ३५ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

६—दुर्गप्रतिस्तब्धयोरपि स्थलनदीदुर्गाभ्यां स्थलदुर्गायाद्भूमिलालभः श्रेयान् ॥

वार्ता ३६ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

७—स्थलीयं हि सुरोधावमर्दास्कन्दमनिस्त्राविशत्रु च ॥

वार्ता ३७ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

८—नदीदुर्गं तु द्विगुणक्लेशकरमुदकं च पातय्यं वृत्तिकरं चाभिमित्रस्य ॥

वार्ता ३८ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

९—नदीपर्वतदुर्गाभ्यां नदीदुर्गायाद्भूमिलालभः श्रेयान् ॥

वार्ता ३९ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

है। नदी के दुर्गों में स्थायी गम्भीरता नहीं रहती। नदी के किनारे तोड़कर जल बहाकर कम भी किया जा सकता है।^१ परन्तु पर्वत-दुर्ग बड़ा सुदृढ़ होता है। वह घेरा नहीं जा सकता और उसपर चढ़ा भी नहीं जा सकता। एक-दो के मारे जाने के अतिरिक्त सबका एक साथ वध नहीं हो सकता।^२ इसके विपरीत आक्रमणकारियों पर पत्थर और वृक्ष गिराकर उनका नाश किया जा सकता है।^३

निम्न स्थान से युद्ध करनेवाले अथवा स्थल योधीवीरों में निम्न योधीवीरों से भूमि लाभ कर लेना कौटिल्य के मतानुसार कल्याणकारी है।^४ क्योंकि निम्न स्थान से युद्ध करनेवाले देश, काल के बन्धन में होते हैं।^५ परन्तु स्थल योधी इन बन्धनों से मुक्त होते हैं वह सर्वत्र एवं सदैव युद्ध करने में समर्थ होते हैं।^६ फिर कौटिल्य खन्दकों से युद्ध करनेवाले और आकाश से युद्ध करनेवाले वीरों में खन्दक खोदकर युद्ध करनेवाले वीरों से भूमि लाभ अधिक कल्याणकारी मानते हैं।^७ क्योंकि वह वीरगण युद्ध के लिए खन्दक और शास्त्र दो साधनों की आवश्यकता रखते हैं।^८ परन्तु आकाश योधी तो केवल शस्त्रों के ही आश्रय रहते हैं।^९

अनवसित सन्धि—भूमि सन्धि का एक प्रकार अनवसित सन्धि भी माना गया है। जब दो राजाओं में इस विषय को सम्मुख रख कर कि वह दोनों राजा किसी शून्य (अनवसित) भूभाग पर अधिकार कर लें परस्पर सन्धि की जाती है अनवसित सन्धि कहलाती है।^{१०} इस सन्धि के आधार पर प्राप्त होने वाली भूमि अनेक प्रकार की होती है। अतः कौटिल्य ने इन विभिन्न प्रकार के अनवसित भूभागों की प्राप्ति की सापेक्षित उपयोगिता का उल्लेख करते हुए इस विषय की विवेचना की है कि किस

१—नदीदुर्गं हि हस्तिस्तम्भयक्रमसेतुबन्धनौभिः साध्यमनित्यगम्भीर्यमपस्त्रान्यु-
दकं च ॥ वार्ता ४० अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

२—पार्वतं तु स्थारत्तं दुरवराधि कृच्छारोहणं भग्ने चैकस्मिन्न संवन्धः ॥
वार्ता ४१ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

३—शिलावृत्तपमोक्षश्च महापकारिणाम् ॥ वार्ता ४२ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

४—निम्नस्थलयोधिभ्यो निम्नयोधिभ्यो भूमिलाभः श्रेयान् ॥
वार्ता ४३ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

५—निम्नयोधिनो ह्युपद्रुदेशकालाः ॥ वार्ता ४४ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

६—स्थलयोधिनस्तु सर्वदेशकालयोधिनः ॥ वार्ता ४५ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

७—खनकाकाशयोधिभ्यः खनकेभ्यो भूमिलाभः श्रेयान् ॥
वार्ता ४६ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

८—खनकादि स्वातेनशस्त्रेण चोभयथा युध्यन्ते ॥
वार्ता ४७ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

९—शस्त्रेणैवाकाशयोधिनः ॥ वार्ता ४८ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—त्वं चाहं च शून्यं निवेशयावह इत्यनवसितसन्धिः ॥
वार्ता १ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

प्रकार का भूभाग प्राप्त कर लेना प्राप्त करने वाले राजा के लिए हितकर होगा । इस विषय में कौटिल्य ने सबसे प्रथम जलरहित (स्थलीय) और सजला (जलीय) भूमि इन दो प्रकार के भूभागों की तुलना करते हुए बतलाया है कि अधिक शुष्कभूमि से अल्प जल वाली भूमि का लाभ श्रेयस्कर होता है । क्योंकि सजला भूभाग में सर्वदा निश्चित रूप से फलपदि की उत्पत्ति सम्भव है ।^१ इसमें भी वह भूभाग श्रेष्ठ समझा जाएगा जिसमें पूर्व और उत्तर (कांतिकी और वैशाखी) दोनों फसलें होती हों, अल्पवर्षा से अच्छी खेती पक जाए, तथा जिसमें भली प्रकार जोत-खोद आदि की जा सके—ऐसा कौटिल्य का मत है ।^२ धान्य आदि की उपज में समर्थ सजला भूमि धान्य आदि की उत्पत्ति नहीं करनेवाली सजला भूमि से श्रेष्ठ मानी गयी है ।^३

इसके उपरान्त कौटिल्य ने यह प्रश्न उठाया है कि राजा को धान्य उत्पन्न करने वाली अल्पभूमि और धान्य को न उत्पन्न करनेवाली अधिक भूमि में किस भूमि का लाभ श्रेयस्कर होगा ? इस विषय में वह अल्पधान्य उत्पादिनी विशाल भूमि की प्राप्ति के पोषक हैं ।^४ उनका कहना है कि जब भूमि का अधिक विस्तार होगा तो उसमें समयानुसार स्थल और जल के पदार्थ उत्पन्न किए जा सकते हैं ।^५ तथा अधिक भूमि में दुर्ग आदि सेनोपयोगी कर्म भी भली-भाँति किए जा सकते हैं ।^६ भूमि में तो अपने परिश्रम से गुण उत्पन्न कर लिए जाते हैं । यही भूमि का गुण है ।^७ खान और धान्य उत्पन्न करनेवाले भूभागों की तुलना करते हुए कौटिल्य अपना मत इस प्रकार देते हैं—खान और धान्य उत्पन्न करनेवाली भूमि में खान की भूमि कोश बढ़ानेवाली होती है,^८ परन्तु धान्य उत्पन्न करने वाली भूमि कोश और भण्डार दोनों को भर देती है ।^९ राज्य में दुर्ग आदि की रचना धान्य के अधीन ही होती है ।^{१०} खान से उत्पन्न

१—महतः स्थलादल्पमौदकं श्रेय सातत्यादवस्थितत्वाच्च फलानाम् ॥

वार्ता ४ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—स्थलयोरपि प्रभूतपूर्वापरसस्यमल्पवर्षपाकमसुत्तारम्भश्रेयः ॥

वार्ता ५ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—औदक्योरपि धान्यवापमधान्यवापाच्छ्रेयः ॥ वार्ता ६ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—तथोरल्पबहुत्वे धान्यकान्तादल्पान्महदधान्यकान्तं श्रेयः ॥

वार्ता ७ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—महत्त्वकाशे हि स्थाल्याश्चानूपाश्चौपधयो भवन्ति ॥

वार्ता ८ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—दुर्गादीनि च कर्माणि प्राभूत्येन क्रियन्ते ॥ वार्ता ९ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—क्रत्रिमा हि भूमिगुणाः ॥

वार्ता १० अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—खनिधान्यभोगयोः खनिभोगः कोशकरः ॥ वार्ता ११ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—धान्यभोगः कोशकोष्ठागारकरः ॥ वार्ता १२ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—धान्यमूलो हि दुर्गादीनां कर्मणामारम्भः ॥ वार्ता १३ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

होनेवाले पदार्थ भी उत्तम माने गए हैं । उनसे भी अपना वैभव अनेक देशों में फैलाया जा सकता है ।^१

द्रव्यवन और हस्तिवन इन दो प्रकार के वनों में किस प्रकार के वन की प्राप्ति राजा के लिए श्रेयस्कर होगी । इस विषय में कौटिल्य का कहना है कि आचार्यगण द्रव्यवन की प्राप्ति श्रेयस्कर मानते हैं जिसका हेतु इन आचार्यों ने यह दिया है कि द्रव्यवन से अनेक प्रकार के पदार्थ उपलब्ध होते हैं जो सब कामों के आरम्भ करने के कारण होते हैं और द्रव्यवन राजकोष की वृद्धि हेतु अनेक प्रकार के पदार्थ उत्पन्न करता है ।^२ परन्तु हस्तिवन से यह पदार्थ प्राप्त नहीं हो सकते ।^३ कौटिल्य स्वयं इस मत से सहमत नहीं है ।^४ उनका अपना मत है कि द्रव्यवन अनेक लगाए जा सकते हैं परन्तु हस्तिवन (सुगमता से) तैयार नहीं किया जा सकता ।^५ हाथियों से शत्रु सेना का नाश किया जा सकता है ।^६

जिस भू-भाग के लोग संघठित नहीं हैं वह भूमि लाभ अच्छा है अथवा जिस भू-भाग की जनता संघठित है ऐसे भू-भाग की प्राप्ति ?^७ इस विषय में कौटिल्य असंघठित जनतावाले भू-भाग की प्राप्ति श्रेयस्कर मानते हैं ।^८ इसका कारण वह यह बतलाते हैं कि इस प्रकार के भू-भाग के निवासी बाहरी शत्रु द्वारा अपनी ओर मिलाए नहीं जा सकते क्योंकि वह असंघठित होते हैं ।^९ इसके विपरीत संघठित मनुष्यों से बसा हुआ भू-भाग दुखदायी होता है । जब संघठित जनता किसी कारण अपने राजा के विरुद्ध कुपित हो जाती है तो उस राजा पर बड़ा संकट आ घेरता है ।^{१०} इसके उपरान्त कौटिल्य इस विषय की भी विवेचना करते हैं कि चारों वर्णों में किस वर्ण की निवासवाली भूमि श्रेष्ठ होती है ? इस विषय में कौटिल्य राजा के लिए उस भूभाग को प्राप्त करना कल्याणकारी मानते हैं जिस भूभाग में सब कुछ देने में समर्थ

१—महाविषय विक्रमो वा खनिभोगः श्रेयान् ॥ वार्ता १४ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—द्रव्यहस्तिवनभोगयोर्द्रव्यवनभोगः सर्वकर्मणां योनिः प्रभूतनिधानक्षमश्च ॥

वार्ता १५ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—विपरीतो हस्तिवनभोग इत्याचार्याः ॥ वार्ता १६ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता १७ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—शत्रुयुद्धद्रव्यवनमनेकमनेकस्यां भूमौ वापयितुं न हस्तिवनम् ॥

वार्ता १८ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—हस्तिप्रधानो हि परानीकवध इति ॥ वार्ता १९ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—भिन्नमनुष्या श्रेणीमनुष्या वा भूमिरीति ॥ वार्ता २१ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—भिन्नमनुष्या श्रेयसी ॥

वार्ता २२ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—भिन्नमनुष्या भोग्या भवत्यनुपजाप्या चान्येषामनापत्सहा तु ॥

वार्ता २३ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

१०—विपरीता श्रेणी मनुष्या कोपे महादोषाः ॥ वार्ता २४ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

शूद्र ग्वालों जैसी जाति से सम्पन्न भू-भाग ही उसके ऐश्वर्य के बढ़ाने वाला होता है ।^१ अधिक और निश्चित फल देनेवाली होने से कृषि के योग्य भूमि ही कल्याणकारी होती है ।^२ कृषि के योग्य भूमि ही अनेक कार्यों के सम्पन्न करने के योग्य होने से गोकुल की वृद्धि करने वाली होती है ।^३ सारांश यह कि जो भूमि राजा को हर प्रकार से आश्रय देने में समर्थ होती है वही भूमि उत्तम मानी गयी है ।^४ इस आश्रय को कौटिल्य ने दो प्रकार का माना है। एक दुर्गों का आश्रय और दूसरा पुरुषों का ।^५ उनके मतानुसार जिस भू-भाग में राजा को पुरुषों का आश्रय प्राप्त हो सके वह भूभाग श्रेष्ठ होता है ,^६ क्योंकि राज्य का आधार पुरुष ही हैं ।^७ पुरुष हीन भूमि बन्ध्या गो की भाँति होती है । उससे कोई प्रयोजन सिद्ध नहीं हो सकता ।^८

इस प्रकार कौटिल्य ने इस विषय में कि राजा के लिए किस प्रकार के भू-भाग का प्राप्त करना कल्याणकारी होगा विशद वर्णन दिया है और अनेक हेतुओं द्वारा उसकी विवेचना की है ।

कर्म-सन्धि—जब दो राजा इस प्रण के आधार पर परस्पर सन्धि कर लेते हैं कि वह दोनों मिलकर दुर्ग रचना कराएँगे तो इस प्रकार से की गयी सन्धि को कौटिल्य कर्म-सन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं ।^९ इसके अतिरिक्त उन्होंने अन्य प्रकार के कार्यों का भी उल्लेख किया है जिनके सम्पादन किए जाने के प्रण के आधार पर दो राजाओं में परस्पर सन्धि की जाती थी और जिसको उस युग में कर्म-सन्धि कहा जाता था । परन्तु राजा के लिए वही कर्म-सन्धि कौटिल्य ने कल्याणकारी मानी है कि जिसका आश्रय लेने से जिसमें अल्प व्यय से महान लाभ प्राप्त हो । उनका कहना है जिस कार्य के सम्पादन से अल्प आय और महान व्यय हो उससे राजा का नाश होता है और जिस कार्य से अल्प व्यय और महान लाभ होता है उस कार्य से उसकी वृद्धि होती है और जिन कार्यों के करने से समान आय-व्यय होता है उनके

१—तस्यां चातुर्वर्ण्योभिव्यक्तिं सर्वभोगं सहत्वादवरवर्णप्राया श्रेयसी ॥

वार्ता २५ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—बाहुल्याद्भुक्त्वाच्च कृष्याः कर्षणवतीः। वार्ता २६ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—कृष्या चान्येषां चारम्भाणां प्रयोजकत्वात् गोरक्षकवती ॥

वार्ता २७ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—भूमिगुणानामपाश्रयः श्रेयान् ॥

वार्ता २८ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—दुर्गापश्रया पुरुषापाश्रया वा भूमिरिति ॥ वार्ता ३० अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—पुरुषापाश्रया श्रेयसी ॥

वार्ता ३१ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—पुरुषवृद्धिं राज्यम् ॥

वार्ता ३२ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—अपुरुषा नैवन्ध्येव किं दुहीत ॥

वार्ता ३३ अ० ११ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—त्वं चाहं च दुर्गं कारयावह इति कर्मसन्धिः ॥

वार्ता १ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥

सम्पादन से राजा एक ही स्थान परस्थित रहता है। इसमें न तो राजा का नाश ही होता है और न उसकी वृद्धि ही होती है।^१ इस प्रकार विचार कर राजा को अपनी वृद्धि को समक्ष रख कर कर्म-सन्धि का आश्रय लेना चाहिए।^२

समसन्धि—मित्र, हिरण्य, भूमि के लाभ की मात्रा के आधार पर कौटिल्य सन्धि के तीन प्रकार माने हैं जिनको वह समसन्धि, विषमसन्धि और अतिसन्धि के नाम से सम्बोधित करते हैं। कौटिल्य ने समसन्धि की परिभाषा इस प्रकार की है—जब दो राजा इस अनुबन्धन के आधार पर कि उन दोनों राजाओं को युद्ध के उपरान्त मित्र का लाभ समान रूप में होगा परस्पर सन्धि कर लेते हैं तो इस प्रकार की सन्धि समसन्धि कहलाती है।^३ समसन्धि में सन्धि कर्ता राजाओं को एक प्रकार के ही लाभ की प्राप्ति होती है। यदि एक राजा को मित्र का लाभ होगा तो दूसरे राजा को भी मित्र लाभ ही होगा भूमि, हिरण्य आदि लाभ उसको प्राप्त नहीं होंगे।

विषमसन्धि—जब दो राजाओं में इस प्रतिज्ञा के आधार पर सन्धि होती है कि उनमें से एक राजा मित्र लाभ को प्राप्त होगा और दूसरे को भूमि और हिरण्य की प्राप्ति होगी तो इस प्रकार की सन्धि को कौटिल्य ने विषमसन्धि माना है।^४

अतिसन्धि—समसन्धि अथवा विषमसन्धि के द्वारा निश्चित किए गए अपने अपने लाभ की अपेक्षा विशेष लाभ प्राप्त हो जाता है तो वह सन्धि अतिसन्धि का रूप धारण कर लेती है।^५

इस प्रकार कौटिल्य ने विविध प्रकार की सन्धियों का उल्लेख किया है और उन की विशेष प्रकार से विवेचना की है। प्राचीन भारतीय राजशास्त्र के अन्य आचार्यों ने सन्धि के न तो इतने प्रकार ही बतलाये हैं और न उनकी इतनी विशद विवेचना ही की है। इस दृष्टि से कौटिल्य में विशेषता पाई जाती है। जो अन्यत्र उपलब्ध नहीं है।

(२) **विग्रह**—कौटिल्य ने विग्रह गुण की परिभाषा करते हुए बतलाया है कि परस्पर एक दूसरे के अपकार में लग जाना विग्रह गुण को प्राप्त होना कहलाता है।^६ कौटिल्य के मतानुसार राजा को विग्रह गुण का आश्रय लेना तब उचित होगा जब वह

१—अल्पागमातिव्ययता क्षयो वृद्धिर्विपर्यये ।

समायव्ययता स्थानं कर्मसु क्षेयमात्मनः॥ श्लोक ४१ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—तस्मादल्पव्ययारम्भं दुर्गादिषु महोदयम् ।

कर्मलब्धा विशिष्टः स्यादित्यक्ताः कर्मसंघयः॥ श्लोक ४२ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—स्वं चाहं च मित्रं लभावाह इत्येवमादिभिः समसन्धिः ॥

वार्ता ४ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—स्वं मित्रमित्येवमादिभिर्विषम सन्धिः ॥

वार्ता ५ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—तयोर्विशेषलाभादतिसन्धिः ॥

वार्ता ६ अ० ८ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—अपकारो विग्रहः ॥

वार्ता ७ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

अपने को बलवान पाता है ।^१ शुक ने विग्रह गुण की परिभाषा इस प्रकार की है— जिस कर्म द्वारा विशेष प्रकार से पीड़ित हुआ शत्रु अपने अधीन हो जाता है उस कर्म को विग्रह कहते हैं ।^२

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिन में होने से राजा को विग्रह गुण का आश्रय लेना हितकर होगा । इस विषय पर अर्थशास्त्र में कौटिल्य ने इस प्रकार विचार प्रकट किए हैं -- यदि विजयाभिलाषी राजा ऐसी परिस्थिति में हो कि उसके राज्य में प्रायः लोग शस्त्र-प्रयोग करने में समर्थ और संगठित हैं तथा पर्वत, वन, नदी और दुर्ग से उसका राज्य सम्पन्न है । उसके राज्य में प्रवेश हेतु केवल एक द्वार है । वह शत्रु द्वारा किए गये आक्रमण का वीरतापूर्ण उत्तर देने में समर्थ है और वह अपने राज्य की सीमा के दृढ़ दुर्ग में स्थित होकर शत्रु के कार्यों का नाश कर सकता है । व्यसन और कष्टों से उसके शत्रु का सारा उत्साह नष्ट हो रहा है । इस समय वह शत्रु वश में किया जा सकता है । यदि युद्ध छिड़ गया तो वह अपने शत्रु के कुछ भू-भागों पर अधिकार करने में समर्थ हो सकेगा ऐसी परिस्थिति में उस राजा को विग्रह गुण का अपनाना उचित होगा ।^३

आसन—कौटिल्य के मतानुसार किसी समय की प्रतीक्षा में चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है ।^४ शुक ने आसन गुण की परिभाषा इस प्रकार की है —जिस स्थान पर बैठने से अपनी रक्षा और शत्रु का नाश सम्भव हो उस स्थान पर बैठने को आसन कहते हैं ।^५ कौटिल्य ने दूसरे स्थल पर आसन गुण की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि अपनी वृद्धि के लिए चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है ।^६ वह स्थान आसन और उपेक्षण इन तीनों को आसन के ही पर्यायवाची मानते हैं ।^७ परन्तु इन में कुछ विशेषता भी उन्होंने मानी है ^८ उनके मतानुसार किसी विषय में चुप बैठे

१—अभ्युच्चीयमानोतिग्रहणीयात् ॥ वार्ता १३ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—विकर्षितः सन्नाधीनो भवेच्छत्रुस्तु येनवै ॥ श्लोक १०६७ अ० ४ शुकनीति ॥

३—यदि वा परयेत् । आयुधीय प्रायः श्रेणीप्राप्तो वापे जनपदः शैलवननदी दुर्गैक-

द्वारारक्षो वा शक्यति पराभिप्रायं प्रतिहन्तुमिति । विषयान्ते दुर्गमविषयम-

पाश्रितो वा शक्यामि परकर्माण्युपहन्तुमिति । व्यसनपीडोपहतोत्साहो वा परः

संप्राप्तकर्मोपघातकाल इति । विग्रहीतस्यान्यतो वा शक्यामि जनपदमपवाह-

यितुमिति विग्रहे स्थितो वृद्धिमातिष्ठेत् ॥ वार्ता ४८ से ५२ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—उपेक्षणमासनम् ॥ वार्ता ८ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—स्वरक्षणं शत्रुनाशो भवेत्स्थानात्तदासनम् ॥ श्लोक १०६६ अ० ४ शुकनीति ॥

६—स्ववृद्धिप्राप्त्यर्थमासनम् ॥ वार्ता ५ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—स्थानमासनमुपेक्षणं चेत्त्यासनपर्यायाः ॥ वार्ता २ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—विशेषस्तु ॥ वार्ता ३ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

रहना और किसी विषय में उपाय करते रहना स्थान कहलाता है ।^१ अपनी वृद्धि की प्राप्ति हेतु चुपचाप बैठे रहना आसन कहलाता है ।^२ किसी भी उपाय का अवलम्बन न करना उपेक्षण कहलाता है ।^३ कौटिल्य ने आसन दो प्रकार के बतलाए हैं एक विगृह्य आसन और दूसरा संधाय आसन । जब शत्रु और विजयेच्छुक राजा, दोनों ही संधि करने की इच्छा रखते हों और वह परस्पर एक दूसरे के नष्ट कर देने की शक्ति न रखते हों तो कुछ काल युद्ध करके चुप बैठ जाते हैं तो इस प्रकार के आसन को विगृह्य आसन कहते हैं और जब वह सन्धि करके चुप बैठते हैं तो ऐसी स्थिति को संधाय आसन कहा गया है ।^४

कौटिल्य इस विषय पर अपने विचार प्रकट करते हुए कि आसन गुण का आश्रय किस समय लेना चाहिए ; अपना मत इस प्रकार प्रकट करते हैं—यदि राजा ऐसा समझता है कि उसका शत्रु इतना समर्थ नहीं है कि वह उसके कामों को हानि पहुँचा सके और न वह ही शत्रु के कार्यों को विगाड़ सकता है ; यद्यपि शत्रु राजा व्यसन-ग्रस्त है, परन्तु कलह का आश्रय लेने में कुत्ते और शूकर के आक्रमण के तुल्य कोई फल नहीं निकलेगा ; यदि वह अपना काम करता रहा तो वृद्धि को प्राप्त हो जाएगा ; इस परिस्थिति में राजा को चुपचाप बैठा हुआ आसन गुण का अवलम्बन करना चाहिए ।^५

(४) यान—एक राजा का दूसरे राजा पर आक्रमण करने का नाम यान है—ऐसा कौटिल्य का मत है ।^६ जब विजयाभिलाषी राजा ऐसा समझ लेता है कि शत्रु के कार्यों का नाश उस पर आक्रमण किए जाने पर ही हो सकता है, उसने स्वयं अपने राज्य की रक्षा का समुचित प्रबन्ध कर लिया है तो ऐसी परिस्थिति में उस राजा को यान गुण का आश्रय लेना उचित होगा ।^७

शुक्र ने भी यान गुण की व्याख्या की है । उनके मतानुसार अपने इच्छित फल-विजय प्राप्ति की कामना से शत्रु के नाश के निमित्त जो गमन किया जाता है उस गमन को यान कहते हैं । वह यान के पांच प्रकार मानते हैं जिनको उन्होंने विगृह्ययान,

१—गुणैकदेशे स्थानम् ॥

वार्ता ४ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—स्ववृद्धिं प्राप्त्यर्थासासनम् ॥

वार्ता ५ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—उपायानामप्रयोग उपेक्षणमिति ॥

वार्ता ६ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—सन्धानकामयोररिविजिगोष्वोऽपहन्तुमशक्तयोर्विगृह्यासनं संधाय वा ॥

वार्ता ७ अ० ४ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—यदि वा मन्येत । न मे शक्तः परः कर्माण्युपहन्तुम् । नाहं तस्य कर्मोपघाती वा व्यसनमस्य स्ववराहयोरिव कलहे वा । स्वकर्मानुष्ठानपरो वा बधिष्य इत्यासनेन वृद्धिमातिष्ठेत् ॥

वार्ता ५३ से ५७ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—अभ्युच्चयोपानम् ॥

वार्ता ६ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—यदि वा मन्येत । यानसाध्यः कर्मोपघातः शत्रोः प्रतिविहितस्वकर्मरक्षा-स्मोति यानेन वृद्धिमातिष्ठेत् ॥

वार्ता ५८, ५९ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

सन्धाययान, सम्भूययान, प्रसंगयान और उपेक्षयान के नाम से सम्बोधित किया है।^१ मनुने यान के केवल दो भेद माने हैं।

(५) संश्रय—अपने शत्रु अथवा अन्य किसी बलवान राजा को आत्म समर्पण कर देना कौटिल्य के मतानुसार संश्रय गुण कहलाता है।^२ मनु और कौटिल्य दोनों ने इस गुण को संश्रय नाम से सम्बोधित किया है परन्तु शुक्र ने संश्रय गुण को आश्रय नाम से सम्बोधित किया है। शुक्र के मतानुसार ऐसे सबलमित्र राजा का सहारा लेना जिससे दुर्बल राजा भी सबल बन जाता है आश्रय कहलाता है।^३

कौटिल्य का मत है कि जब राजा इस परिस्थिति में अपने को समझले कि वह शत्रु के कार्यों में हानि नहीं पहुँचा सकता और न अपने कार्यों की ही रक्षा करने में समर्थ है तो उसको किसी दूसरे बलवान राजा का आश्रय लेना चाहिए। इसके उपरान्त उसको अपना कार्य साधते हुए इस क्षणिक क्षय से स्थान की प्राप्ति करनी चाहिए और तदनन्तर स्थान के उपरान्त वृद्धि की प्राप्ति करनी चाहिए।^४

निर्बल राजा को किस राजा का आश्रयग्रहण करना उचित होगा इस विषय पर भी कौटिल्य ने पर्याप्त प्रकाश डाला है। उनका कहना है कि किसी राजा को संश्रय गुण का आश्रय लेना ही पड़े तो उसका शत्रु जितना बलशाली हो उससे अधिक बलशाली राजा का आश्रय ग्रहण करना चाहिए।^५ यदि कोई अन्य राजा शत्रु राजा की अपेक्षा बलवान न हो तो उस निर्बल राजा को अपने उसी सबल शत्रु का आश्रय ग्रहण कर लेना चाहिए। कोश, सेना अथवा भूमि में से किसी वस्तु को देकर शत्रु राजा को सन्तुष्ट करना चाहिए परन्तु स्वयं उसके सम्मुख जाना उचित नहीं है।^६ अधिक बलशाली राजा का आश्रय लेना कौटिल्य अच्छा नहीं समझते। उनका कहना है कि विशेष प्रकार से बलवान राजा के आश्रय में जाने से कभी-कभी बड़ा अनिष्ट भी हो जाता है। यदि बलवान शत्रु का विग्रह अन्य शत्रु से हो रहा है तो ऐसी परिस्थिति में उस बलवान राजा का आश्रय लेना हानिकर नहीं होता।^७ जब राजा शक्तिहीन हो तो

१—विगृह्य सधाप तथा सम्भूयाप प्रसंगतः ।

उपेक्षयाच निपुणैर्यानि पंचविधमस्मृतम् ॥ श्लोक १०८६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

२—परार्पणं संश्रयः ॥ वार्ता १० अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—यैगुप्तो बलवान्भूयाद्बलोपि स आश्रयः ॥ श्लोक १०६६ अ० ४ शुक्रनीति ॥

४—यदि वा मन्येत् । नास्मि शक्तः परकर्माण्युपहन्तुं स्वकर्माणि धातुं वा त्रातु-

मिति बलवन्तमाश्रितः स्वकर्मानुष्ठानेन क्षयास्थानं स्थानाद्वृद्धिं चाकांक्षेत ॥

वार्ता ६०, ६१ अ० १ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—पद् बलः सामन्तस्तद्विशिष्टबलमाश्रयेत् ॥ वार्ता ७ अ० २ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—तद्विशिष्टबलाभावे तमेवाश्रितः कोशदण्डभूमीनामन्यतमेनाश्रयपकर्तुमदृष्टः

प्रयेत् ॥ वार्ता ८ अ० २ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—महादोषो हि विशिष्टबलसमागमो राज्ञामन्यत्रारिविगृहीतात् ॥

वार्ता ९ अ० २ अधि० ७ अर्थ० ॥

दण्डोपनत व्यवहार की भांति नम्रता से समय काटना चाहिए ।^१ इसी प्रकार आचार्य कौटिल्य ने उन विविध प्रकार की परिस्थितियों का उल्लेख किया है जिनमें पड़कर उसको एकमात्र आश्रय गुण का ही आश्रय लेना उनके मतानुसार उचित होगा ।

(६) द्वैधीभाव—एक राजा से सन्धि करना और दूसरे से विग्रह कर उपयोग करना द्वैधीभाव गुण होता है ऐसा कौटिल्य का मत है ।^२ द्वैधीभाव गुण का आश्रय राजा को किस परिस्थिति में लेना चाहिए इस विषय में उन्होंने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है यदि राजा ऐसा समझता है कि एक राजा के साथ सन्धि करने और दूसरे से विग्रह करने में अपने कार्यों को साध सकूंगा और शत्रु के कार्यों को नष्ट करने में समर्थ हो सकूंगा तो उस राजा को द्वैधीभाव गुण का आश्रय लेकर अपनी वृद्धि करनी चाहिए ।^३ शुक्र द्वैधीभाव गुण की परिभाषा करते हुए बतलाते हैं कि अपनी सेना को शत्रु और मित्र दोनों के स्थानों पर नियुक्त करना द्वैधीभाव कहलाता है ।^४

इस प्रकार आचार्य कौटिल्य ने पाङ्गुण्य मंत्र की व्याख्या करते हुए बतलाया है कि राजा को किस परिस्थिति में होने से किस गुण का अवलम्बन करना चाहिए उन के मत से पाङ्गुण्य नीति का निधिवत पालन करने से राजा वृद्धि को प्राप्त होता है और उसका ह्य नहीं होने पाता ।^५

उपाय—प्राचीन भारत के राजशास्त्र के लगभग सभी आचार्यों ने राजाओं की सफलता के निमित्त पाङ्गुण्य मंत्र के साथ ही उपायों का विधान किया है । उन्होंने साम, दान, भेद और दण्ड यह चार प्रकार के उपाय बतलाए हैं ।^६ कौटिल्य ने भी राजा की वृद्धि के लिए इन उपायों का विधिवत आश्रय लेना प्रतिपादित किया है । कौटिल्य का मत है कि दुर्बल राजाओं को साम और दान उपायों के द्वारा ही बल में करना चाहिए ।^७ अर्थात् जो राजा दुर्बल हैं उनको समझा बुझाकर और यदि आवश्यकता समझी जाए तो कुछ दे दिवाकर अपने अनुकूल बना लेना चाहिए । परन्तु जो

१—अशक्यो दण्डोपनतद्वर्तेत ॥

वार्ता १० अ० २ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—सन्धिविग्रहोपादानं द्वैधीभाव इति पङ्गुणाः ॥

वार्ता ११ अ० २ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—यदि वा मन्येत । सन्धिमैकतः स्वकर्माणि प्रवर्तयिष्यामि विग्रहेणैकतः पर कर्माण्यपहनिष्यामीति द्वैधिभावेन वृद्धिमातिष्ठेत् ॥

वार्ता ६३ अ० २ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—द्वैधीभावः स्वसैन्यानां स्थापनं गुल्मगुल्मतः ॥ श्लोक १०७० अ० ४ शुक्रनीति ॥

५—एवमन्योन्यसंचारं पाङ्गुण्यं योऽनुयस्यति ।

स बुद्धिनिगडैर्बदैरिष्टं प्रोहति पार्थिवैः ॥ श्लोक ४८ अ० १८ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—सामदानभेददण्डान्प्रयुज्जीत् ॥

वार्ता ७ अ० ३ अधि० ६ अर्थ० ॥

७—सामदानाभ्यां दुर्बलानुपनमयेत् ॥

वार्ता ३ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

राजा सबल हों उनको भेद और दण्ड उपाय से बश में करना चाहिए।^१ कौटिल्य इन सामादिक उपायों में उत्तार की अपेक्षा पूर्व का उपाय हलका मानते हैं।^२ उनके मतानुसार साम उपाय में केवल एक ही गुण होता है।^३ दान दो गुणवाला होता है क्योंकि उसमें साम गुण भी सम्मिलित होता है।^४ भेद में तीन गुण होते हैं। भेद के अन्तर्गत साम और दान गुण भी होते हैं।^५ दण्ड में चार गुण होते हैं। दण्ड में साम, दान और भेद यह तीनों भी सम्मिलित होते हैं।^६

बल—कौटिल्य ने बल को शक्ति नाम से सम्बोधित किया है^७, उन्होंने शक्ति तीन प्रकार की बतलायी है^८ जिनको वह मंत्रशक्ति, प्रभु-शक्ति और उत्साह शक्ति के नाम से सम्बोधित करते हैं। वह ज्ञान बल को मंत्रशक्ति,^९ क्रोध और सैन्य बल को प्रभुशक्ति^{१०} और विक्रम को उत्साह शक्ति मानते हैं।^{११} इन तीनों प्रकार के बल से सम्पन्न राजा श्रेष्ठ माना गया है।^{१२} इन बलों से हीन राजा दुर्बल माना गया है।^{१३} जिस राजा में ज्ञानबल, क्रोधबल और सैन्यबल तथा विक्रमबल यह तीनों बल तुल्य होते हैं उस राजा को समशक्त राजा बतलाया गया है।^{१४}

सैन्यबल का महत्त्व—आचार्य कौटिल्य ने भी अन्य आचार्यों की भाँति सप्तांग राज्य की एक प्रकृति दण्ड माना है।^{१५} दण्ड से उनका तात्पर्य सैन्यबल से है। सैन्यबल के महत्त्व पर अपने विचार प्रकट करते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—राजा पर बाह्य और आन्तरिक दो प्रकार के क्रोध आते हैं।^{१६} अमात्य

- | | |
|---|-------------------------------|
| १—भेद दण्डाभ्यां बलवतः ॥ | वार्ता ४ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥ |
| २—पूर्वः पूर्वशक्त्य लघिष्ठः ॥ | वार्ता ६७ अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ३—सान्त्वमेकगुणम् ॥ | वार्ता ६८ अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ४—दानं द्विगुणं सान्त्वपूर्वं ॥ | वार्ता ६९ अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ५—भेदस्त्रिगुणः सान्त्वदानपूर्वः ॥ | वार्ता ७० अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ६—दण्डश्चतुर्गुणः सान्त्वदानभेदपूर्वः ॥ | वार्ता ७१ अ० ६ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ७—बलं शक्तिः ॥ | वार्ता ४० अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ८—शक्ति त्रिविधा ॥ | वार्ता ४२ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ९—ज्ञानबलं मंत्रशक्तिः ॥ | वार्ता ४३ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| १०—क्रोधदण्डबलं प्रभुशक्तिः ॥ | वार्ता ४४ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| ११—विक्रमबलमुत्साहशक्तिः ॥ | वार्ता ४५ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| १२—ताभिरभ्युच्चितो ज्यायान्भवति ॥ | वार्ता ५० अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| १३—अपचितो हीनः ॥ | वार्ता ५१ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| १४—तुल्यशक्तितः समः ॥ | वार्ता ५२ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| १५—स्वाभ्यामात्मजनपददुर्गकोपदण्डसिन्नाणि प्रकृतयः ॥ | वार्ता १ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥ |
| १६—राजोऽभ्यन्तरो बाह्यो वा क्रोध इति ॥ | वार्ता २ अ० २ अधि० ५ अर्थ० ॥ |

आदि का कोप आन्तरिक कोप कहलाता है और जिसको कौटिल्य ने बाह्य कोप से अधिक भयकारी माना है ।^१ शत्रु का कोप (आक्रमण) बाह्य कोप माना गया है । इन दोनों प्रकार के कोपों से राजा को अपनी रक्षा करने का उपाय कौटिल्य के मतानुसार दण्ड (सैन्यबल) और कोप को अपने अधीन रखना है ।^२

कोप और दण्ड में किस को अधिक महत्त्व दिया जाना चाहिए इस विवादग्रस्त प्रश्न का समाधान करते हुए आचार्य कौणपदन्त ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—सैन्यबल के द्वारा ही मित्र और शत्रु का निग्रह होता है । सैन्यबल के द्वारा ही दूसरे की सेना को अपनी ओर मिलाया जा सकता है और अपनी सेना की वृद्धि भी इसी के द्वारा की जा सकती है ।^३ सैन्यबल के अभाव में कोप का नाश हो जाता है ।^४ कोप न भी हो तो भी कुप्य तथा भूमि द्वारा अथवा शत्रु की भूमि के ग्रहण कर लेने से सेना का संग्रह किया जा सकता है ।^५ कोप सैन्यबल के ही आश्रित होता है ।^६ कौटिल्य ने भी मित्रबल और सैन्यबल की तुलना करते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—सैन्यबल मित्रबल से अधिक उपयोगी होता है । सैन्यबल युक्त राजा के मित्र तो उसके मित्र बने ही रहते हैं परन्तु उसके शत्रु भी मित्र बन जाते हैं ।^७ इस प्रकार कौटिल्य ने सैन्यबल के महत्त्व को प्रतिपादित किया है ।

सैन्यबल के प्रकार—आचार्य कौटिल्य ने सेना के मुख्य छः प्रकार बतलाए हैं जिनको उन्होंने मौलबल, भृतबल, श्रेणीबल, शत्रुबल, मित्रबल, और अटविबल के नाम से सम्बोधित किया है ।^८ सैन्यबल के इन छः प्रकारों में उत्तर की अपेक्षा पूर्व की सेना का प्रकार अधिक श्रेयस्कर माना गया है ।^९ अधिक समय से वृत्ति लेकर चली

१—अहिभयादग्न्यन्तरः कोपो बाह्यकोपात्पापीयान् ॥ वार्ता ३ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

२—अन्तरमात्यकोपश्चान्तः कोपात् ॥ वार्ता ४ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

३—तस्मात्कोशदण्डशक्तिमात्म संस्थां कुर्वात् ॥ वार्ता ५ अ० २ अधि० ८ अर्थ० ॥

४—दण्डमूलो हि मित्रामित्रनिग्रहः परदण्डोत्साहनं स्वदण्डप्रतिग्रहश्च ॥

वार्ता ४१ अ० १ अधि० ८ अर्थ० ॥

५—दण्डाभावे च शत्रुः कोपविनाशः ॥ वार्ता ४२ अ० १ अधि० ८ अर्थ० ॥

६—कोपभावे च शक्यः कुप्येन भूम्या परभूमिस्वयंग्रहेण वा दण्डः पिण्डयितुम् ॥

वार्ता ४३ अ० १ अधि० ८ अर्थ० ॥

७—दण्डवता च कोशः ॥

वार्ता ४४ अ० १ अधि० ८ अर्थ० ॥

८—मौलभृतश्रेणिमित्रामित्राटवीवलानां सारफलगतं विद्यात् ॥

वार्ता ६ अ० ३३ अधि० २ अर्थ० ॥

यत्र तु दण्डः प्रतिहतस्तं वा चार्थमन्यांश्च साधयति तत्र मौलभृतश्रेणिमित्रा-
मित्राटवीवलानामन्यतममुपलब्ध देशकालं दण्डं दद्यात् ॥

वार्ता ३० अ० ८ अधि० ७ अर्थ० ॥

९—पूर्वपूर्वं चैषां श्रेयः संनाहयितुम् ॥

वार्ता ३५ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

आने वाली सेना को मौलसेना की संज्ञा दी गयी है। अपने स्वामी के भाव में भाव मिलाने और उसका नित्य सत्कार करने के कारण भृत्यबल से मौलबल श्रेष्ठ बतलाया गया है।^१ युद्ध काल के प्रारम्भ होने के समय अथवा युद्ध काल में ही भृति के आधार पर राजा जिस सेना को अपनी सेना में प्रविष्ट किया करता था उस सेना को भृत्यबल कहा गया है। सेना के महत्त्व की दृष्टि से राज्य की सेना में भृत्य सेना को द्वितीय स्थान देते हुए कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—नित्य समीप रहने और युद्ध के निमित्त सन्नद्ध की जाने योग्य होने के कारण श्रेणीबल की अपेक्षा भृत्यबल श्रेष्ठ है।^२ कौटिल्य के समय में श्रेणी का क्या स्वरूप था इस विषय पर अर्थशास्त्र में प्रकाश डाला नहीं गया है। अतः यह निश्चय पूर्वक कहा नहीं जा सकता कि श्रेणी बल का स्वरूप क्या होगा। परन्तु विद्वानों का ऐसा मत है कि श्रेणि मनुष्यों के उस संघ को कहते थे जिसमें विभिन्न जातियों के परन्तु एक ही व्यवसाय के आश्रित जीविका कमाने वाले लोग सदस्यता प्राप्त किए हों। इस प्रकार इस संघ के सदस्यों के अधीन आत्मरक्षा के लिए जो सेना रहती थी सम्भवतः उसी को श्रेणी बल कहा गया है। महत्त्व की दृष्टि से कौटिल्य ने श्रेणीबल को तीसरा स्थान दिया है। श्रेणीबल की उपयोगिता को बतलाते हुए उन्होंने इस प्रकार अपना मत प्रकट किया है—अपने देश के होने तथा राजा एवं श्रेणी दोनों का एक ही स्वार्थ होने के कारण मित्रबल की अपेक्षा श्रेणीबल श्रेष्ठ होता है। राजा को जिससे संघर्ष अथवा अमर्ष हो उसी से श्रेणीबल को संघर्ष एवं अमर्ष होता है। दोनों को एक से सुख की सिद्धि होती है।^३ श्रेणीबल के उपरान्त मित्रबल का स्थान माना गया है। प्रत्येक समय में मित्रबल सहायता प्राप्त करने और दोनों (राजा और उसके मित्र) का समान स्वार्थ होने के कारण शत्रुबल की अपेक्षा मित्रबल सहायता करने में श्रेष्ठ माना गया है।^४ मित्रबल के पश्चात् शत्रुबल का स्थान बतलाया गया है। कौटिल्य का मत है कि यदि आर्य पुरुषों से युक्त शत्रुबल हो तो वह अटवी बल से श्रेष्ठ होता है।^५ शत्रुबल और अटवीबल दोनों लूटमार करने के काम आते हैं।^६ यदि इन सेनाओं को लूट का माल

१—तद्भावभावित्वान्नित्यसत्कारानुगमाच्च मौलबलंभृत्यबलाच्छ्रेयः ॥

वार्ता ३६ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—नित्यानन्तरं क्षिप्रोत्थायि वश्यं च भृत्यबलं श्रेणीबलाच्छ्रेयः ॥

वार्ता ३७ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—जनपदमेकार्थोपगतं तुल्यसंघर्षामर्षसिद्धि लाभं च श्रेणीबलं मित्रबलाच्छ्रेयः ॥

वार्ता ३८ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—अपरिमित देशकालमेकार्थोपगमाच्च मित्रबलमिन्द्रबलाच्छ्रेयः ॥

वार्ता ३९ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

५—आर्याधिष्ठितममित्रबलमटवीबलाच्छ्रेयः ॥ वार्ता ४० अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—तदुभयं विलोपार्थम् ॥ वार्ता ४१ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

न मिले और राजा पर कोई संकट आ पड़े तो यह दोनों सेनाएँ सर्प के समान भय खड़ा कर देती हैं।^१ इस प्रकार सेना की उपयोगिता की दृष्टि से प्रथम स्थान मौलबल, और सबसे अन्तिम स्थान अटवी बल का माना गया है।

वर्ण के आधार पर सेना की श्रेष्ठता—कौटिल्य ने वर्ण के आधार पर भी सेना की उत्तमता का निर्णय दिया है। उन्होंने इस विषय में अपने पूर्व के आचार्यों का मत देते हुए बतलाया है कि इन आचार्यों का मत है कि ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र वर्ण की अलग अलग सेनाओं में तेज की प्रधानता के कारण उत्तर की अपेक्षा पूर्व की सेना श्रेष्ठ होती है अर्थात् शूद्र वर्ण की सेना से वैश्य वर्ण की सेना, वैश्य वर्ण की सेना से क्षत्रिय वर्ण की और क्षत्रिय वर्ण की सेना से ब्राह्मण वर्ण की सेना श्रेष्ठ होती है। इसका कारण यह बतलाया गया है कि जिस सेना के सैनिकों में जितना अधिक तेज होता है उतनी ही उत्तम वह सेना होगी। ब्राह्मण में तेज की मात्रा अन्य वर्णों से अधिक होती है अतः इन आचार्यों के मत से ब्राह्मण सेना सर्वश्रेष्ठ होती है।^२ परन्तु आचार्य कौटिल्य इस सिद्धान्त को नहीं मानते।^३ उनका कहना है कि ब्राह्मणबल नमस्कार आदि के करने से शत्रु को क्षमा कर देता है।^४ युद्धविद्या में कुशल एवं विनयशील क्षत्रिय सेना ही सर्वश्रेष्ठ होती है।^५ वीर योद्धाओं से युक्त वैश्य अथवा शूद्र वर्ण की सेना को भी उसी प्रकार उत्तम समझना चाहिए।^६ इस प्रकार प्रत्येक सेना के तत्व एवं शत्रु की सेना के बलावल को जान कर उसके अनुसार ही सेना का संग्रह करना चाहिए।^७

सेना के अंग—कौटिल्य ने सेना के मुख्य चार अंग माने हैं और इसीलिए उन्होंने सेना को चतुरङ्गबल के नाम से सम्बोधित किया है। चतुरङ्ग बल के यह चार अङ्ग हस्तिबल, अश्वबल, रथबल और पत्थबल (पैदल सेना) बतलाए गए हैं।^८ इस चतुरङ्गिणी सेना में हस्तिसेना पर बहुत बड़ा महत्त्व दिया गया है। कौटिल्य ने हस्तिसेना पर महत्त्व देते हुए अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—राजाओं को

१—अविलोपे व्यसने च ताभ्यामहिभयं स्यात् ॥ वार्ता ४२ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—ब्राह्मणक्षत्रियवैश्यशूद्रसैन्यानां तेजःप्रधानमात्पूर्वपूर्वश्रेयः संनाहयितुमित्याचार्याः ॥

वार्ता ४३ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—नेति कौटिल्यः ॥

वार्ता ४४ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—प्रणिपातेन ब्राह्मणबलं परोऽभिहारयेत् ॥ वार्ता ४५ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

५—प्रहरण विद्याविनीतं तु क्षत्रियबलं श्रेयः ॥ वार्ता ४६ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—बहुलसारं वा वैश्यशूद्रबलमिति ॥ वार्ता ४७ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

७—तस्मादेवंबलः परस्तस्यैतत्प्रतिबलमिति बलसमुद्धानं कुर्यात् ॥

वार्ता ४८ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

८—वीर्मणो वा हस्तिनोऽश्वा वा वर्मिणः कवचिनो रथा आवरणिनः पत्तयश्चतुरङ्ग-
बलस्य प्रतिबलम् ॥

वार्ता ४९ अ० २ अधि० ६ अर्थ० ॥

चतुरङ्गस्य बलस्थानुष्ठानाधिष्ठानं विद्यान् ॥ वार्ता १२ अ० ३३ अधि० २ अर्थ० ॥

विजय हाथियों की सेना के आश्रित मानी गयी है ।^१ शत्रु सेना, व्यूह, दुर्ग, छावनी (स्कन्धावार) के मर्दन करने में हस्ति सेना कुशल होती है, क्योंकि इनके शरीर विशाल होते हैं । हाथी युद्धस्थल में मनुष्यों के प्राण तुरन्त नाश करने में समर्थ होते हैं ।^२ कौटिल्य राजा के लिए हाथियों की अधिक संख्या सेना में रखना हितकर मानते हैं । इस विषय में वह अन्य आचार्यों का मत देते हुए अपना मत इस प्रकार देते हैं—बहुत से दुर्बल हाथियों से थोड़े शूर हाथियों से युक्तवल कल्याणकारी होता है ।^३ क्योंकि शूर हाथियों से ही युद्ध हो सकता है ।^४ थोड़े शक्तिशाली हाथी बहुत से अशक्त हाथियों को भगा देते हैं और वह भागते हुए हाथी अपनी ही सेना का नाश कर देते हैं ऐसा आचार्यों का मत है ।^५ परन्तु कौटिल्य इस मत का समर्थन नहीं करते ।^६ अशक्त भी बहुत से हाथी राजा के कल्याण में समर्थ हो सकते हैं क्योंकि वह अपने स्कन्ध पर वहन से कायों का भार ग्रहण कर लेते हैं और अनेक युद्धोपयोगी कार्य करके अपने पक्ष के वीरों के आश्रय बन जाते हैं ।^७ हाथियों की अधिक संख्या देखकर शत्रु भयभीत हो जाते हैं और वह आक्रमण करने में असमर्थ हो जाते हैं ।^८ यदि बहुत से अशिक्षित हाथी भी हैं तो उनको सिखा कर शूर वीर बनाया जा सकता है ।^९ परन्तु हाथियों को थोड़ी संख्या में बड़ी संख्या नहीं बनायी जा सकती ।^{१०} इस प्रकार कौटिल्य ने हस्ति सेना की अधिक संख्या होने पर बहुत बड़ा महत्त्व दिया है ।

विष्टि—सेना के इन चार अंगों को सामग्री आदि की सहायता देने के निमित्त तथा इनके वाहनों की सेवा सुश्रुपा के निमित्त विशेष प्रकार के सेवकों की आवश्यकता पड़ती है । कौटिल्य ने इन सेवकों को विष्टि नाम से सम्बोधित किया है । भीष्म ने

- १—हस्तिप्रधानो हि विजयो राज्ञाम् ॥ वार्ता १४ अ० २ अधि० २ अर्थ० ॥
 २—परानीक्यूहदुर्गस्कन्धावारप्रमर्दनाह्यतिप्रमाणशरीराः प्राणहरकर्माणो हस्तिन इति ॥
 वार्ता १५ अ० २ अधि० २ अर्थ० ॥
 ३—तत्रापिबहुकुण्डालपशूरयोरल्पशूरं श्रेयः ॥ वार्ता १६ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 ४—शूरेषु हि युद्धम् ॥ वार्ता १० अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 ५—अल्पाः शूरा बहूनशूरान्भजन्ति ते भग्नाः स्वसैन्यावघातिनो भवन्तीत्याचार्याः ॥
 वार्ता ११ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 ६—नेति कौटल्यः ॥ वार्ता १२ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 ७—कुण्डा बहवः श्रेयांसः स्कन्धविनियोगादनेकं कर्मकुर्वाणाः स्वेषामपाश्रयो युद्धे ॥
 वार्ता १३ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 ८—परेषां दुर्धर्षा धिभीपणाश्च ॥ वार्ता १४ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 ९—बहुषु हि कुण्डेषु विनयकर्मणा शक्यं शौर्यमाधातुम् ॥
 वार्ता १५ अ० १२ अधि० ७ अर्थ० ॥
 १०—न त्वेवाल्पेषु शूरेषु बहुत्वमिति ॥ वार्ता १६ अ० २१ अधि० ७ अर्थ० ॥

विष्टि को सेना का एक अलग अंग माना है।^१ कौटिल्य ने विष्टि के विशेष कर्तव्यों का वर्णन संक्षेप रूप में इस प्रकार किया है—खीमे, तम्बू, मार्ग में पुल, कुएं, घाटों आदि का शोधन, वनों में घास आदि उखाड़ कर मार्ग को साफ करना, यंत्र, आयुध, कवच तथा अन्य प्रकार की युद्धोपयोगी सामग्री, अन्न, घास आदि का वहन करना, युद्धभूमि से आयुध, कवच आदि एकत्र करके ले आना— यह समस्त कार्य विष्टि के हैं।^२

सेना के साथ चिकित्सक एवं सेविकाएँ—सेना के साथ में सेना के अतिरिक्त कतिपय अन्य उपयोगी लोग भी रहते थे जिनसे समय पड़ने पर सेवा कार्य लिया जा सकता था।

युद्ध में सैनिक एवं उनके वाहन घायल होते हैं और मरते भी हैं। ऐसी स्थिति में घायल हुए मनुष्य एवं पशुओं की चिकित्सा होनी चाहिए। इसीलिए घायल मनुष्यों एवं पशुओं की चिकित्सा के लिए सेना में चिकित्सक भी राज्य की ओर से नौकर रहते थे। चिकित्सकों को आयुर्वेद शास्त्र सम्बन्धी पुस्तकों, उपयोग में आने वाले यंत्र, औषधि, घृत, तेल, वस्त्र आदि से युक्त होना चाहिए। इनके साथ में कुछ स्त्रियाँ भी रहती थी जो अन्न, पान आदि की रक्षिका और हास्य विनोद से सैनिकों को प्रसन्न करने वाली होती थी। सम्भवतः वह स्त्रियाँ, आधुनिक काल की सेविकाओं (Nurses) की भांति सेवा सुश्रवा के हेतु रखी जाती होगी। इन वैद्य एवं स्त्रियों को सेना के पृष्ठ भाग में रखने का आदेश कौटिल्य ने दिया है।^३ यह स्त्रियाँ सेना में अन्न पान की रक्षिका बतलायी गयी हैं। इस से ऐसा पता चलता है कि सेना के भोजन बनाने और उनको खिलाने का भार इन्हीं स्त्रियों पर रहता होगा।

सेना के व्यसन—कौटिल्य ने सेना के कतिपय दोषों का भी उल्लेख किया है जिनको वह सेना के व्यसन के नाम से सम्बोधित करते हैं।^४ सेना के यह व्यसन चौतीस बतलाए गए हैं और जो इस प्रकार हैं—अमानित, विमानित, अमृत व्याधित, नवागत, दूरयात, परिश्रान्त, परिक्षीण, प्रतिहत, हताग्रवेग, अनृतुप्राप्त, अभूतिप्राप्त, आशानिर्वेदि, परिसृप्त, कलत्रगाह, अन्तःशल्य, कुपितमूल, भिन्नगर्भ, अपसृत, अतिक्षिप्त, उपनिविष्ट समाप्त, उपरुद्ध, उपक्षिप्त, छिन्नधान्य, पुरुषबीवध, स्वविक्षिप्त, मित्रविक्षिप्त, दूष्ययुक्त,

१—रथानागाहवाश्चैव पाण्डव ।

विष्टिर्नावश्चराश्चैव देशिका इति चाष्टमम् ॥ श्लोक ४१ अ० ५६ शा० पर्व ॥

२—शिविरमार्गसेतुकूपतीर्थ × × × ॥

वार्ता १८ अ० ४ अधि० १० अर्थ० ॥

३—चिकित्सकाः शस्त्रयंत्रागदस्तेहवस्त्रहस्ताः स्त्रियश्चान्नपानरक्षिण्यः पुरुषाणामुद्धर्षणीयाः पृष्ठतस्तिष्ठेयुः ॥

वार्ता ६२ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

४—बलव्यसनानि ॥

वार्ता ०१ अ० ५ अधि० ८ अर्थ० ॥

दुष्टपाणिग्राह, शून्यमूल, अस्वामिसंहत, भिन्नकूट, और अन्ध ।^१ उन्होंने इन में प्रत्येक के लक्षण भी बतलाए हैं और यह भी बतलाया है कि इन व्यसनों से सेना को किस प्रकार बचाया जा सकता है । इस विषय में उन्होंने सूत्र रूप में जो उपाय बतलाया है वह यह है—सेना के साथ किए गए दुर्व्यवहारों का लोप करना दूसरे की सेना से अपनी सेना को बलोत्साह सहित कर देना, दुर्ग, वन आदि में सेना की उचित स्थिति करना तथा बलवान पक्ष से सन्धि कर लेना यह सेना व्यसनों के नाश करने के साधन हैं ।^२

युद्ध-काल—कौटिल्य ने काल शीत, उष्ण और वर्षा युक्त माना है ।^३ अर्थात् कभी शीत, कभी उष्ण और कभी वर्षा युक्त काल होता है । सेना के लिए कौन सा उत्तम, मध्यम अथवा अधम काल माना जाए इस विषय में कौटिल्य यह व्यवस्था देते हैं—जिस काल में अपनी सेना के व्यायाम के लिए उत्तम ऋतु हो और शत्रु सेना के लिए वह ऋतु विपरीत पड़ती हो वह उत्तम काल माना गया है । जो ऋतु शत्रु के अनुकूल हो वह अधम और जिस ऋतु में अपनी सेना शत्रु सेना दोनों को व्यायाम के लिए समान सुविधा हो वह ऋतु मध्यम काल माना गया है ।^४

युद्ध काल के इस सामान्य नियम के साथ ही कौटिल्य ने युद्ध यात्रा के तीन मुख्य काल माने हैं जो मार्गशीर्ष और पीष चैत्र-वैशाख और ज्येष्ठ और आषाढ़ मास माने गए हैं इसके अतिरिक्त कौटिल्य ने यह भी व्यवस्था दी है कि यदि अपनी सेना के पराक्रम दिखाने के योग्य और शत्रु सेना का अनुपयोगी काल हो तो वर्षा ऋतु में भी आक्रमण करना उचित माना है ।^५ मार्गशीर्ष मास में शत्रु की पुरानी खाद्य सामग्री समाप्त हो जाती है और नवीन संचित नहीं हो पाती है । दुर्गों का जीर्णोद्धार भी नहीं हो पाता है । नया मित्र भी नहीं बन पाता है । सरय खेतों में खड़ी होती है । इसलिए हेमन्त की, अन्तोंत्पत्ति के नाश हेतु मार्ग-शीर्ष मास की युद्ध-यात्रा उत्तम मानी गयी है ।^६

१—अमानितं विमानितममृतं व्याधितं नवागतं दूरयातं परिश्रान्तिं परिहीणं प्रतिहतं हता-
ग्रवेगममृतप्राप्तमभूमिप्राप्तमाशानिवेदि परिरुप्तं कलत्रगह्वन्तः शल्यं कुपितमूलं
भिन्नगर्भमपसृतमतिक्षिप्तमुपनिविष्टं समाप्तमुपरुद्धमुपक्षिप्तं क्षिन्नधान्यपुरुषवी-
वधं स्वविक्षिप्तं मित्रविक्षिप्तं दूष्ययुक्तं दुष्ट पाणिग्राहं शून्यमूलमस्वामिसंहतं
भिन्नकूटमन्धमिति ॥ वार्ता २ अ० ५ अधि० ८ अर्थ० ॥

२—दोषशुद्धिर्बलावापः सत्रस्थानातिसंहितम् ।

सन्धिश्चोत्तरपक्षस्य बलव्यसनसाधनम् ॥ श्लोक २० अ० ५ अधि० ८ अर्थ० ॥

३—कालः शीतोष्णवर्षात्मा ॥

वार्ता २२ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—यत्रात्मनः सैन्यव्यायामानामृतमृतुः परस्परं स उत्तमः कालो विपरीतोऽधमः
साधारणो मध्यमः ॥ वार्ता २५ अ० १ अधि० ९ अर्थ० ॥

५—स्वसैन्यव्यायामयोग्यं परस्या योग्यं वर्षति यायात् ॥ वार्ता ३६ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—हीणपुराणभक्त मगृहीतनवभक्तमसंस्कृतदुर्गममित्रं वापिकं चास्य सस्यं हैमन्तं च
मुष्टिमुपहन्तुं मार्गशीर्षीं यात्राम् यायात् ॥ वार्ता ३४ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

हेमन्त और वसन्त वाली दोनों रस्यों के नाश हेतु चैत्र मास की युद्धयात्रा श्रेष्ठ मानी गयी है ।^१ इस समय ज्येष्ठ आपढ़ मास में शत्रु तृण, काष्ठ, जल से हीन होता है और दुर्गों का जीर्णोद्धार भी नहीं करा पाता । वह मित्र-हीन भी होता है । वसन्त ऋतु में खड़ी हुई रस्य एवं वर्षा ऋतु में उत्पन्न होने वाले अन्न के नाश के निमित्त ज्येष्ठ काल की युद्ध यात्रा अच्छी मानी गयी है ।^२ कौटिल्य का मत है कि यदि युद्ध दीर्घकाल में समाप्त होनेवाला है तो ऐसे युद्ध का आरम्भ मार्गशीर्ष और पौष मास के मध्य में होना चाहिए, मध्यम काल में समाप्त होनेवाले को चैत्र-वैशाख के मध्य में और जो युद्ध अल्प काल में ही समाप्त हो जाने वाला हो तो ज्येष्ठ और आपाढ़ के मध्य में आक्रमण किया जा सकता है ।^३ कौटिल्य ने प्राचीन आचार्यों का मत देते हुए चौथा यात्रा काल भी बतलाया है जो उस समय होना चाहिए जब कि शत्रु व्यसन ग्रस्त हो ।^४ परन्तु कौटिल्य इसका खण्डन करते हुए कहते हैं कि जब राजा में शक्ति का उदय हो तभी उसको शत्रु पर आक्रमण कर देना चाहिए । विपत्ति (व्यसन) तो कभी रहती है और कभी तुरन्त ही टल जाती है ।^५ जब शक्ति सम्पन्न राजा ऐसा देखता है कि वह आक्रमण करने पर शत्रु की शक्ति को क्षीण करने में समर्थ हो जाएगा अथवा उसका उच्छेदन कर सकने में समर्थ हो सकेगा तभी उस पर आक्रमण करना चाहिए ।^६

इसके अतिरिक्त देश विशेष के अनुसार भी युद्ध यात्रा का काल निर्धारित किया गया है । इस विषय में कौटिल्य इस प्रकार व्यवस्था देते हैं—अत्यन्त उष्ण और अल्प तृण, ईधन, जल वाले भू-भाग पर हेमन्त ऋतु में आक्रमण करना चाहिए ।^७ वर्षा, नित्य वर्षा वाले, अगाध जल से भरे रहनेवाले, घास और वृक्षों के वन से गहन भू-भाग

१—हेमन्त चास्य रस्यं वासन्तिकं च मुष्टिमुपहन्तुं चैत्रीं यात्रां यायात् ॥

वार्ता ३२ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—हीणतृणकाष्ठोदक्रमसंस्कृततुर्ममित्रं वासन्तिकं चास्य रस्यं वार्षिकीं वा मुष्टि-मुपहन्तुं ज्येष्ठमूलीयां यात्रां यायात् ॥ वार्ता ३६ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

३—चैत्रीं वैशाखीं चान्तरेण मध्यमकालां ज्येष्ठामूलीयामापाढीं चान्तरेण ह्रस्व-कालामुपोषिष्यन् ॥

वार्ता ४१ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

४—व्यसने चतुर्थीं ॥

वार्ता ४२ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

प्रायशश्चाचार्याः परव्यसने यातव्यमित्युपदिशन्ति ॥

वार्ता ४४ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

५—शत्तयुदये यातव्यमनैकान्तिकत्वाद् व्यसनानामिति कौटिल्यः ॥

वार्ता ४५ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

६—यदा वा प्रयातः कर्शयितुमुच्छेत्तुं वा शत्रुयादमित्रं तदा यायात् ॥

वार्ता ४६ अ० १ अधि० ९ अर्थ० ॥

७—अत्युष्णमल्पवसेन्धनोदकं वा देशं हेमन्ते यायात् ॥

वार्ता ३७ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

पर ग्रीष्म ऋतु में आक्रमण करना चाहिए ।^१ इस प्रकार कौटिल्य ने युद्ध यात्रा की विवेचना की है ।

छावनी—प्राचीन भारत में सेना की छावनी को स्कन्धावार के नाम से सम्बोधित किया गया है । कौटिल्य ने भी अन्य आचार्यों की भाँति ही छावनी को स्कन्धावार के नाम से सम्बोधित किया है । स्कन्धावार कहां और किस प्रकार का होना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—भवन-निर्माण कला के अनुसार जो भू-भाग उत्तम समझा जाए उसमें से नायक, कारीगर और ज्योतिषी को गोल अथवा चौकोर भूमि को स्कन्धावार के निमित्त नापना चाहिए । भूमि की सुविधानुसार इस छावनी में चार द्वार, छः मार्ग और नौ भाग होने चाहिए ।^२ इसकी रक्षा के निमित्त खाई, परकोटा, द्वार, अट्टालिकाएँ एवं भय के समय रक्षा के स्थान होने चाहिए ।^३ स्कन्धावार के नौ भागों में से एक भाग में स्कन्धावार के मध्य उत्तर की ओर सौ धनुष लम्बे और पचास धनुष चौड़े भू-भाग में राजभवन का निर्माण होना चाहिए । इसके पश्चिमी भाग में रनिवास की रचना होनी चाहिए और फिर अन्त में अन्तःपुर की रक्षा हेतु सेना के रहने का स्थान होना चाहिए ।^४ राज-भवन के सम्मुख पूजागृह और उसके दाहिनी ओर कोष एवं शासन सम्बन्धी अन्य विभाग, बाईं ओर राजा की सवारी के हाथी, घोड़ों और रथों की शालाओं का निर्माण किया जाना चाहिए ।^५ इसके बाहर सौ-सौ धनुष की दूरी पर चार भाग होने चाहिए जो गाड़ियों (शकट), कांटेदार वृक्षों, स्तम्भों और दीवारों द्वारा अलग बनाए जाने चाहिए ।^६ इन चार भागों में प्रथम भाग में मंत्री और पुरोहित, इसके दाहिनी ओर एक भाग में भण्डार और भोजनालय और

१—तुषारादुर्दिनमगाधनिम्नप्रायं गहनवृणवृत्तं वा देशं ग्रीष्मे यायात् ॥

वार्ता ३८ अ० १ अधि० ६ अर्थ० ॥

२—वास्तुकप्रशस्ते वास्तुनि नायकवर्धकिमौहृत्तिकाः स्कन्धावारं वृत्तं दीर्घं चतुरश्रं वा भूमिवशेन चतुर्द्वारं षट्पथं नवसंस्थानं मापयेयुः ॥

वार्ता १ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

३—खातबप्रसालद्वाराट्टालकसम्पन्नं भये स्थाने च ॥

वार्ता २ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

४—मध्यमस्योत्तरे नवभागे राजवास्तुकं धनुः शतायाममर्धविस्तारं पश्चिमाधो तस्यान्तः पुरमन्तर्वशिकसैन्यं चान्ते निविशेत् ॥

वार्ता ३ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

५—पुरस्तदुपस्थानं दक्षिणतः कोशशासनकार्यकरणानि वामतो राजोपवाह्यानां हस्त्य-श्वस्थानां स्थानम् ॥

वार्ता ४ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

६—अतो धनुः शतान्तराश्चत्वारः शकटमेधीप्रततिस्तम्भसालपरिच्छेपाः ॥

वार्ता ५ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

बाईं ओर कुप्य और आयुध के आगारों की रचना की जानी चाहिए ।^१ दूसरी परिधि में मौल, भूत आदि सेना का स्थान तथा अश्व और रथ शालाएँ एवं सेनापति का भवन होना चाहिए ।^२ तीसरी परिधि में हाथी, श्रेणीबल और प्रशास्ता (कण्टकशोधनाध्यक्ष) का भवन होना चाहिए ।^३ चौथी परिधि में विष्टि कार्य करनेवाले, नायक, मित्रबल, अमित्रबल, अटवीबल उनके सेना-नायकों सहित उनका निवास होना चाहिए ।^४ व्यापारियों और वेश्याओं के निवास-गृह बड़े मार्ग (महापथ) के साथ होने चाहिए ।^५ शिकारी कुत्तों के रखनेवाले तथा अग्नि एवं तुरी वाजा के संकेत से शत्रु के आने की सूचना के देनेवाले रक्षक एवं गूढ़पुरुषों (चर विशेष) के निवास स्थान इसके बाहर की ओर होने चाहिए ।^६

छावनी में शत्रु के प्रवेश से सावधानी के उपाय—स्कन्धावार में जिस मार्ग से शत्रु के आने की सम्भावना हो उस मार्ग में बनावटी कुएँ टीले एवं कांटों (लोहे के गोखुर आदि) का प्रवन्ध कर देना चाहिए ।^७ अट्टारह वर्ग के पुरुषों के पहले बारी-बारी से बदलते रहने चाहिए ।^८ शत्रु के चरों की क्रियाओं को जानने के लिए दिन का कार्यक्रम भी बनाया जाना चाहिए ।^९ छावनी में लोगों में पारस्परिक विवाद, सुरापान, गोष्ठी, जुआ आदि की नितान्त मनाही होनी चाहिए ।^{१०} स्कन्धावार में प्रवेश एवं स्कन्धावार से बाह्य गमन के लिए राजकीय मुद्रा (Pass Port) के प्रयोग के नियमों का कठोरता से पालन किया जाना चाहिए ।^{११} स्कन्धावार के सीमा रक्षक (शून्यपाल) उस सैनिक को जो कि अपनी सेना को छोड़कर इधर-उधर व्यर्थ

१—प्रथमे पुरस्तान्मन्त्रिपुरोहितौ दक्षिणतः कोष्ठागारं महानसं च वामतः कुप्यायुध-
गारम् ॥

वार्ता ६ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

२—द्वितीये मौलभृतानां स्थानमश्वरथानां सेनापतेश्च ॥

वार्ता ७ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

३—तृतीये हस्तिनः श्रेण्यः प्रशास्ता च ॥ वार्ता ८ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

४—चतुर्थे विष्टिनायको मित्रामित्राटवीबलं स्वपुरुषाधिष्ठितम् ॥

वार्ता ९ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

५—वणिजो रूपाजीवाश्चानुमहापथम् ॥ वार्ता १० अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

६—बाह्यतो लुब्धकश्वगणिनः सत्पूर्याग्रयः गूढाश्चारक्षाः ॥

वार्ता ११ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

७—शत्रूणामापाते कूपकूटावपातकण्टकिनीश्च स्थापयेत् ॥

वार्ता १२ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

८—अष्टादशवर्गाणामारक्षविपर्यासं कारयेत् ॥ वार्ता १३ अ० १ अधि० १ अर्थ० ॥

९—दिवायामं च कारयेदपसंपन्नानार्थम् ॥ वार्ता १४ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

१०—विवादसौरिकसमाजघतवारणं च कारयेत् ॥ वार्ता १५ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

११—मुद्रारक्षणं च ॥

वार्ता १६ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

धूम रहा हो और उसके पास कोई राजशासन न हो बन्धन में डाल देना चाहिए । इस प्रकार स्कन्धावार की रक्षा हेतु व्यवस्था की गयी है ।^१

स्कन्धावार से सेना के गमन करने पर प्रशास्ता का कर्तव्य—स्कन्धावार से सेना के गमन करने के पूर्व ही प्रशास्ता नाम के अधिकारी को अपने आश्रित सेवकों एवं कारीगरों को साथ लेकर मार्ग की व्यवस्था करनी चाहिए । सेना के लिए जल आदि का प्रबन्ध करना चाहिए ।^२ इस प्रकार की व्यवस्था कौटिल्य ने दी है ।

सेना के गमन करने की व्यवस्था—युद्ध के निमित्त सेना का गमन मार्ग में किस प्रकार होना चाहिए एवं सेना के लिए आवश्यक रसद के प्रबन्ध की क्या व्यवस्था होनी चाहिए आदि विषयों पर भी कौटिल्य ने अपना मत प्रकट किया है जो इस प्रकार है—सेना के यात्रा करते समय मार्ग में स्थित ग्रामों अथवा वनों में जहां कि सेना का टिकासरा होने को हो तृण, ईंधन, जल आदि का प्रबन्ध पहले से ही होना चाहिए और इस प्रबन्ध के अनुसार ही इन स्थानों पर अधिक अथवा कम दिन ठहर कर वहां से सेना को प्रस्थान कर देना चाहिए ।^३ सेनाको खाद्य सामग्री एवं वस्त्र आदि की जितनी आवश्यकता यात्रा के निमित्त प्रतीत हो उससे दो गुनी सामग्री को साथ लेकर यात्रा करनी चाहिए ।^४ यदि सामग्री अधिक है और उसके ले जाने के लिए गाड़ियां नहीं हैं तो ऐसी स्थिति में थोड़ी-थोड़ी सामग्री सैनिकों को ले चलने के लिए सौंप देना चाहिए ।^५ अथवा मार्ग में पड़ाव के स्थानों पर आवश्यकतानुसार उसका संग्रह करा देना चाहिए ।^६

सेना के मार्ग में गमन करते समय सेनानायक को सेना के अग्रभाग में रहकर सेना के आगे-आगे चलना चाहिए ।^७ सेना के मध्य भाग में राजा और रनिवास को चलना चाहिए ।^८ राजा के अगल-बगल में अस्वारोही सेना और वीर रक्षकों को चलना

१—सेनानिवृत्तमायुधीयमशासनं शून्यपालोऽनुबन्धीयात् ॥

वार्ता १७ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

२—पुरस्ताद्ध्वनः सम्यक्प्रशास्ता रक्षणानि च ।

यायाद्वर्धकविष्टिभ्यामुदकानि च कारयेत् ॥ श्लोक १८ अ० १ अधि० १० अर्थ० ॥

३—ग्रामारण्यानामध्वनि निवेशान् यवसेन्धनोदकवशेन परिसंख्याय स्थानासनगमन-
कालं च यात्रां यायात् ॥ वार्ता १ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

४—तत्प्रतीकारद्विगुणं भक्तोपकरणं वाहयेत् ॥ वार्ता २ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

५—अशक्तो वा सैन्येष्वेव प्रयोजयेत् ॥ वार्ता ३ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

६—अन्तरेषु च निचिनुयात् ॥ वार्ता ४ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

७—पुरस्तान्नायकः ॥ वार्ता ५ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

८—मध्येकलत्रं स्वामी च ॥ वार्ता ६ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

चाहिए ।^१ सेना के पृष्ठ भाग में हस्तिसेना और बची हुई सेना चलनी चाहिए ।^२ सेना के चारों ओर वन-जीवन के अभ्यस्त सैनिकों को चलना चाहिए ।^३ सबसे पीछे अपनी-अपनी सेना के सेनापति को सेना के पृष्ठ भाग में रहकर गमन करना चाहिए ।^४

सेना के गमन करते समय यदि शत्रु के सामने से आने की सम्भावना हो तो अपनी सेना का मकरव्यूह, यदि पृष्ठ भाग की ओर से शत्रु के आने की सम्भावना हो तो शकटव्यूह, यदि अगल-बगल से आने की आशंका हो तो वज्रव्यूह, यदि चारों ओर से आक्रमण करने का भय हो तो सर्वतो भद्रव्यूह यदि किसी एक ओर अथवा संकुचित मार्ग से आए तो सूची व्यूह की रचना कर गमन करना चाहिए ।^५ यदि सेना की यात्रा के लिए दो मार्ग हों अर्थात् एक तो राजा की अपनी भूमि से होकर ओर दूसरा पर भूमि से होकर तो ऐसी स्थिति में राजा को अपनी भूमि से जाने वाले मार्ग से सेना का गमन कराना चाहिए ।^६ सेना का एक योजन (प्रतिदिन) चलना अधम, डेढ़योजन चलना मध्यम और दो योजन चलना उत्तम बतलाया गया है ।^७ संकटपूर्ण मार्गों की जांच कर मार्ग के संकटों को दूर करवा देना चाहिए ।^८ यदि शत्रु द्वारा बनाए गए दुर्ग, धान्य, घास आदि के संग्रह के रक्षकों के नाश की सम्भावना हो, धन के द्वारा शत्रु द्वारा संग्रहीत सेना के विरुद्ध हो जाने का निश्चय हो, इसके मित्र बल के विरुद्ध हो जाने की आशंका हो, शत्रु के तोड़ने-फोड़ने वाले पुरुष शीघ्रता से कार्य न कर रहे हों अथवा शत्रु के द्वारा ही अभिप्राय शीघ्र सिद्ध होने वाला हो तो राजा को धीरे धीरे अपनी सेना की यात्रा करानी चाहिए ।^९ यदि शत्रु सावधानी से गमन कर रहा हो और ऊपर की कोई भी बात न हो सेना को शीघ्रता से गमन करना चाहिए ।^{१०}

-
- १—पार्श्वयोरश्वाबाहूत्तारः ॥ वार्ता ७ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 २—चक्रान्तेषु हस्तिनः ॥ वार्ता ८ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ३—बनाजीवः प्रसारः ॥ वार्ता १० अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ४—पश्चात् सेनापतिः पर्यायान्निविशेत् ॥ वार्ता १४ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ५—पुरस्तात् अभ्याघाते मकरेण याप्रात्पश्चाच्छकटेन पार्श्वयोर्द्वेण समन्ततः सर्वतो-
 भद्रेणैकायने सूच्या ॥ वार्ता १५ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ६—पथिद्वैधीभावे स्वभूमितो यायात् ॥ वार्ता १६ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ७—योजनमधमा अध्यर्धं मध्यमा द्वियोजनमुत्तमा संभाव्या वा गतिः ॥
 वार्ता १८ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ८—संकटो मार्गः शोधयितव्यः ॥ वार्ता २० अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 ९—कृतदुर्मेकर्मनिचयरचाक्षयः क्रीतबलनिर्वेदो मित्रबलनिर्वेदश्चागमिष्यति उपजा-
 पितारो वा नातिस्वरयन्ति शत्रुरभिप्रायं वा पूरयिष्यतीति शमैर्यायात् ॥
 वार्ता २२ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥
 १०—विषयं शीघ्रम् ॥ वार्ता २३ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

मार्ग में नदियों को पार करने के लिए कौटिल्य ने अनेक साधन बतलाए हैं । सेना को इन साधनों का आवश्यकतानुसार प्रयोग करना चाहिए । सेना कौटिल्य का मत है । इस विषय में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—सेना को हाथी, खम्भों पर तस्ते बिछाकर, पुल, नाव, काण्ड और बाँस के वेड़े, तूँघे, चमड़े से ढकी पिटारियों, हति, प्लव, गण्डक, और वेणिक के द्वार मार्ग में आए हुए जल-स्थानों को पार करना चाहिए ।^१ यदि घाटों को शत्रु ने रोक दिया हो तो हाथी और अश्वों से अन्य मार्ग से रात में सेना को पार उतारकर घाट में बैठकर अवसर पर युद्ध करना चाहिए ।^२ जल रहित प्रदेश (मरुभूमि) में यात्रा के समय गाड़ों अथवा चोपायों पर आवश्यकतानुसार जल भी साथ ले जाना चाहिए ।^३ कुछ विशेष परिस्थितियों—सेना के थके होने, रोगग्रस्त होने, भययुक्त स्थानों में गमन करते समय, संकीर्ण मार्ग से होकर गमन करते समय, भोजन करते समय आदि—में राजा को अपनी सेना की रक्षा का विशेष प्रबन्ध करना चाहिए ।^४ इस प्रकार कौटिल्य ने युद्ध के निमित्त प्रस्थान करनेवाली सेना की यात्रा के समय मार्ग में विशेष सावधानी की आवश्यकता बतलायी है ।

युद्ध के प्रकार—कौटिल्य ने युद्ध के अनेक प्रकार बतलाए हैं । इनमें उन्होंने तीन प्रकार मुख्य माने हैं जिनको उन्होंने प्रकाश युद्ध अथवा धर्मयुद्ध, कूटयुद्ध और तूष्णी युद्ध के नाम से सम्बोधित किया है ।^५ यद्यपि उन्होंने अर्थशास्त्र में इस विषय का उल्लेख नहीं किया है कि प्रकाश युद्ध एवं धर्मयुद्ध दोनों एक ही प्रकार के युद्ध के दो भिन्न-भिन्न नाम हैं, परन्तु उन्होंने धर्मयुद्ध की परिभाषा वही की है जो कि उन्होंने प्रकाश युद्ध की की है ।^६ देश काल और विक्रम का निश्चय कर और उनको प्रकाशित करके जो युद्ध किया जाए उसको कौटिल्य ने प्रकाशयुद्ध के नाम से सम्बोधित किया है । छल-कपट द्वारा भय खड़ा करना, दुर्गों को ढहाना, लूटमार करना, अग्नि दाह करना, प्रमाद और व्यसन ग्रस्त शत्रु पर आक्रमण करना, एक स्थान पर युद्ध को रोक कर दूसरे स्थान पर छल से मार-काट मचाना यह कूटयुद्ध के लक्षण बतलाए

१—हस्तिस्तम्भसंक्रमसेतुबन्धनौकाप्लवेणुसंघातैरलाबुचर्मकरण्डहतिप्लवगण्डकावे-

शिकाभिश्चौदकानि तारयेत् ॥

वार्ता २४ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

२—तीर्थभिग्रहे हस्त्यश्वैरन्यतो रात्रावुत्तार्य गृह्णीयात् ॥

वार्ता २५ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

३—अनुदके चक्रिचतुष्पदं चाध्वप्रमाणेन शक्तयोदकं वाहयेत् ॥

वार्ता २६ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

४—दीर्घकान्तारमनुदकं × × × × × स्वसैन्यं रक्षेत् ॥

वार्ता २७ अ० २ अधि० १० अर्थ० ॥

५—विक्रमस्य प्रकाशयुद्धं कूटयुद्धं तूष्णीयुद्धमिति सन्निव विक्रमौ ॥

वार्ता २१ अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—संग्रामस्तु निर्दिष्टदेशकालो धर्मिष्ठः ॥ वार्ता २७ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

गए हैं। विष और ओषधि प्रयोग गुप्त पुरुषों द्वारा बध कराना अथवा भेद लेना तूष्णी युद्ध के लक्षण बतलाए गए हैं।^१

कौटिल्य ने उन परिस्थितियों का भी उल्लेख किया है जिनमें इन तीन प्रकार के युद्धों का अलग-अलग आश्रय लिया जाना उचित होगा। प्रकाशयुद्ध की परिस्थितियों का उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है। जब विजयाभिलाषी राजा उत्तम सेना से युक्त हो, पड़यन्त्रों में सफल हो चुका हो, आपद-निवारण हेतु उपाय कर चुका हो, और युद्ध के निमित्त अनुकूल स्थान प्राप्त कर चुका हो तब उसको प्रकाश युद्ध का आश्रय लेना चाहिए^२ अन्यथा उसको कूटयुद्ध का आश्रय लेना उचित होगा।^३

सेना को उत्साहित करने के उपाय—युद्ध में विजय-प्राप्ति हेतु सैनिकों में उत्साह शक्ति का होना अत्यन्त आवश्यक होता है उत्साह शक्तिसे रहित सेना व्यर्थ समझी गयी है। इसलिए सैनिकों में उत्साह शक्ति के जाग्रत करने के लिए कौटिल्य ने भी, अन्य आचार्यों की भाँति सैनिकों को नाना प्रकार के लोभ दिए हैं। युद्ध के लिए प्रस्थान करने वाले सैनिकों को एकत्र कर उनके समक्ष राजा के द्वारा इस प्रकार के लोभों का वर्णन करना चाहिए जिनके प्रभाव से वह सैनिक उनके निमित्त इतने उत्साहित हो जाएँ कि युद्ध में आत्मसमर्पण सहर्ष कर दें। इस विषय में कौटिल्य ने इस प्रकार व्यवस्था दी है—राजा को अपनी सेना को उत्साहित करने के लिए सैनिकों के समक्ष इस प्रकार कहना चाहिए—^४ मैं राजा नहीं हूँ, मैं भी तुम्हारे समान ही वेतन भोगी व्यक्ति हूँ।^५ मुझको तुम लोगों के साथ इस राज्य का भोग करना चाहिए।^६ मैं जिस शत्रु पर आक्रमण करूँगा तुम्हें भी तुरन्त उसपर प्रहार करना चाहिए।^७ इस प्रकार कौटिल्य ने सैनिकों को उत्साहित करने के लिए सांसारिक वैभव का लोभ सैनिकों के समक्ष प्रस्तुत करना उचित समझा है। इसी विषय में यह भी बतलाया है कि जिस समय युद्ध हो रहा हो उस समय भी सैनिकों को उत्साहित करना परमावश्यक है। ऐसे अवसर पर वह यह उचित समझते हैं कि सैनिकों को धन का लोभ दिया जाए।

१—प्रकाशयुद्धं निर्दिष्टो देशे काले च विक्रमः ।

विभीषणमवस्त्रन्दः प्रमादव्यसनार्दनम् । श्लोक ४६अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

एकत्रत्यागघातो च कूटयुद्धस्य मातृका ।

योगगूढोपजापार्थं तूष्णीं युद्धस्य लक्षणम् ॥ श्लोक ४७अ० ६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—बलविशिष्टः कृतोपजापः प्रतिविहित कर्तुः स्वभूम्यां प्रकाशयुद्धमुपेयात् ॥

वार्ता १ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

३—विपर्यये कूटयुद्धम् ॥

वार्ता २ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

४—संहत्य दण्डं ब्रूयात् ।

वार्ता २८ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

५—तुल्यवेतनोऽस्मि

वार्ता २६ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

६—भवद्भिः सहभोग्यमिदं राज्यम् ॥

वार्ता ३० अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

७—मयाभिहितः परोऽभिहन्तव्य इति ॥

वार्ता ३१ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

उन्होंने इस विषय में इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं—रण स्थल में सेनापति को धन और मान से युक्त अपनी सेना में इस प्रकार उत्साह युक्त वाक्यों की घोषणा कर देनी चाहिए ।^१ उनमें जो वीर शत्रु राजा का वध कर देगा उसको लाखों का पुरस्कार मिलेगा^२ जो शत्रु के सेनापति अथवा राजकुमार का वध करेगा उसको पचास हजार^३ जो वीरों के मुखिया का वध कर देगा उसको दस हजार^४, हाथी और रथ के नष्ट कर देने पर पाँच हजार^५, अश्व के मारने पर एक हजार^६ किसी पत्न्यमुख्य के मारने पर सौ रुपये^७, और साधारण सैनिक के मारने पर बीस (रुपये) का पुरस्कार दिया जाएगा ।^८ इसके अतिरिक्त यह घोषणा भी कर दी जानी चाहिए कि उनका भत्ता और वेतन दो गुना कर दिया जाएगा और लूट का माल भी उन्हीं को मिल जाएगा ।^९ इस प्रकार सैनिकों के समक्ष लोभ प्रस्तुत कर उन्हें उत्साहित करना चाहिए ।

सांसारिक सुख का लोभ तो सैनिकों को दिया जाना ही चाहिए इस के अतिरिक्त उनको युद्ध के द्वारा स्वर्ग-प्राप्ति का लोभ भी इन अवसरों पर दिया जाना कौटिल्य के मतानुसार विजय की प्राप्ति हेतु लाभप्रद सिद्ध होगा । इसी दृष्टि से उन्होंने यह व्यवस्था दी है कि युद्ध के अवसरों पर सेना को उत्साहित करने के लिये राज्य के मंत्री तथा पुरोहित को सेना के समक्ष स्वर्ग-प्राप्ति का लोभ प्रस्तुत करना चाहिए । कौटिल्य, मंत्री और पुरोहित द्वारा सैनिकों को इस विषय का विश्वास दिला देना उचित समझते हैं कि युद्ध एक महान यज्ञ होता है । इस यज्ञ में जो योद्धा युद्ध करते हुए अपने प्राणों की आहुति दे देते हैं वह स्वर्ग प्राप्त कर लेते हैं । इस सिद्धान्त में सैनिकों की आस्था हो जाए इसलिए यह आवश्यक है कि इस सिद्धान्त की पुष्टि करने वाले वाक्य मंत्री तथा पुरोहित जैसे विश्वसनीय व्यक्तियों के मुख से निकलने चाहिए । इस विषय में कौटिल्य ने कुछ वाक्य निर्धारित किए हैं जो इस प्रकार हैं—

१—सेनापतिरर्थमानाभ्यामभिसंस्कृतमनीकमाभाषेत ॥

वार्ता ५२ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

२—शतसाहस्रोराजवधः ॥

वार्ता ५३ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

३—पञ्चाशत्साहस्रः सेनापतिकुमारवधः ॥

वार्ता ५४ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

४—दशसाहस्रः प्रवीरमुख्यवधः ॥

वार्ता ५५ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

५—पञ्चसाहस्रो हस्तिरथवधः ॥

वार्ता ५६ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

६—साहस्रोऽश्ववधः ॥

वार्ता ५७ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

७—शय्यः पत्नियमुख्यवधः ॥

वार्ता ५८ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

८—शिरो विशतिकम् ॥

वार्ता ५९ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

९—भोगद्वैगुण्यं स्वयं प्राप्स्येति ॥

वार्ता ६० अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

के लिए आशीर्वाद देते हुए सुना गया है ^१ कि यजमान को वही गति प्राप्त हो जो कि रणभूमि में प्राण त्याग करनेवाले शूर-वीरों को प्राप्त होती है । ^२ इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने दो श्लोकों का उद्धरण भी किया है, ^३ जो इस प्रकार है—जिन लोकों को सम्पूर्ण यज्ञ, तप एवं यज्ञीय पात्रों का चयन करने वाले स्वर्ग के अभिलाषीद्वाहण जाते हैं उन्हीं लोकों को युद्ध में प्राणोत्सर्ग करने वाले शूरवीर तत्काल प्राप्त कर लेते हैं । ^४ जो व्यक्ति अपने भरण-पोषण करने वाले स्वामी के निमित्त समय पर युद्ध नहीं करता है उस को यज्ञ में जल से परिपूर्ण मंत्रों द्वारा सुसंस्कृत, कुशाओं से आच्छादित शकरोर का आचमन प्राप्त नहीं होना चाहिए । इस प्रकार के व्यक्ति को मृत्यु के उपरान्त नरक में वास करना पड़ता है । ^५ इस प्रकार के वाक्मयों से राज्य के मंत्री और पुरोहित के द्वारा सेना को उत्साहित करना चाहिए । ^६ इसके अतिरिक्त सैनिकों को स्वर्ग का लोभ देकर उनको उत्साहित करने के लिए सूत, मागध और वन्दी जनों का भी उपयोग करना चाहिए । इस सिद्धान्त की पुष्टि में कौटिल्य ने यह व्यवस्था दी है—युद्ध के अवसर पर सूत, मागध और वन्दी जनों को, शूर-वीरों को स्वर्ग प्राप्त होगा और भीरु सैनिकों को नरक की यातनाएँ भोगनी पड़ेंगी, इस विषय पर वीरकाव्य एवं वीरगाथाओं का वर्णन करना चाहिए तथा वीर योधाओं की जाति उनके कुल, संघ एवं वीरतापूर्ण कृत्यों तथा आचरण का गान करना चाहिए ।

सैनिकों को उत्साहित करने का एक और विशेष साधन कौटिल्य ने यह बतलाया है कि गुप्तचर सेना में गुप्तरीति से ऐसे समाचार फैलाते रहें कि उनके राजा ने दुर्ग रचना भविष्य ज्ञान के रखने वाले ज्योतिषियों के परामर्श से की है । इन ज्योतिषियों ने अपने ज्ञान के बल से यह ज्ञात कर लिया है कि आने वाले युद्ध में उन्हीं के राजा की विजय होगी और इस युद्ध में शत्रु का नाश निश्चय है । ^७ इन गुप्तचरों को इस

१—वेदेष्वप्यनुश्रूयते समाप्तदक्षिणानां यज्ञानामवश्रयेषु ॥

वार्ता ३२ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

२—साते गतिर्या शूराणाम् इति ॥

वार्ता ३३ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

३—अपीह श्लोकौ भवतः ॥

वार्ता ३४ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

४—प्राण्यज्ञसंघैस्तपसा च विप्राः स्वगणिनः पात्रचयैश्च यान्ति । क्षणेन तानप्यति-
यान्ति शूराः प्राणान्सुयुद्धेषु परित्यजन्तः ॥ श्लोक ३५ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

५—नवं शरावं सजितभय पूर्णं सुसंस्कृतं दर्भकृतोत्तरीयम् । तत्तस्य मामन्नरकं च
गच्छेद्योभर्तृपिण्डप्रकृते न युध्येत् ॥ श्लोक ३६ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

६—इति मंत्रिपुरोहिताभ्यामुत्साहयेद्योधान् ॥ वार्ता ३७ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

७—सूतमागधाः शूराणां स्वर्गमस्वर्गं भीरूणां जातिसंघकुलकर्मवृत्तस्तवं च योधानां
वर्णयेयुः ॥ वार्ता ४६ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

८—च्यूहसंपदा कार्तान्तिकादिश्चास्य वर्गः सर्वज्ञदैवसंयोगरूपपानाभ्यां स्वपक्षमुद्धर्षयेत् ॥

वार्ता ३८ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

सत्रिक वर्धकिमौहृतिकाः स्वकमंसिद्धिमसिद्धिं परेषाम् ॥

वार्ता ५१ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

वात को भी प्रसिद्धि कर देनी चाहिए कि उनके राज्य के पुरोहित ने कृत्या देवी की आराधना की है, वह प्रसन्न हैं और शत्रु का नाश कर देंगे।^१ सेना को उत्साहित करने के लिए अनेक प्रकार के वाद्यों का भी उपयोग किया जाना चाहिए—ऐसा कौटिल्य ने अप्रत्यक्ष रूप में संकेत किया है।

इस प्रकार कौटिल्य ने सेना को उत्साहित करने के लिए अनेक प्रकार के साधनों का आश्रय लिया जाना चाहिये ऐसा आदेश दिया है।

युद्ध प्रारम्भ होने के पूर्व राजा का विशेष आचार—कल युद्ध होगा जब यह निश्चय हो जाय तो उस दिन (युद्ध होने वाले दिन के एक दिन पूर्व) राजा को विशेष प्रकार के आचरण धारण करने का आदेश कौटिल्य ने दिया है जो इस प्रकार है— इस दिन राजा को उपवास करना चाहिये और रात्रि में शस्त्र और वाहनों के समीप सोना चाहिए^२। उस दिन अथर्ववेद के मन्त्रों से यज्ञ करना चाहिए^३ विजय देने वाले एवं स्वर्ग प्राप्त कराने वाले आशीर्वादों को ब्राह्मणों से प्राप्त करना चाहिए।^४ राजा को ब्राह्मणों की शरण ग्रहण करनी चाहिए।^५ इस प्रकार राजा को तप और त्याग की मूर्ति बन जाना चाहिए।

युद्ध-संचालन—सेना के पड़ाव से पांच सौ धनुष की दूरी पर सेना का दुर्ग बनाकर युद्ध करना चाहिए अथवा भूमि की सुविधानुसार दूरी पर युद्ध करना चाहिए।^६ सेना के मुख्य अंश को अलग कर शत्रु से छिपकर सेनापति और नायक को सेना के व्यूह की रचना करनी चाहिए।^७ पैदल सैनिकों को एक दूसरे से चौदह-चौदह अंगुल के अन्तर पर खड़ा करना चाहिए।^८ अश्वारोहियों को बयालीस-बयालीस अंगुल और रथों और हाथियों को सत्तर-सत्तर अंगुल के अन्तर पर खड़ा करना चाहिए, अथवा दोगुने और तीन गुने अन्तर पर उनकी स्थापना करनी चाहिए।^९ इस

१—पुरोहितपुरुषाः कृत्याभिचारं ब्रूयुः ॥ वार्ता ५० अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

२—श्वो युद्धमिति कृतोपवासः शस्त्रवाहनं चाधिशयीत ॥ वार्ता ४० अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

३—अथर्वभिश्च जुहुयात् ॥ वार्ता ४१ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

४—विजययुवताः स्वर्गायाश्चाशिपो वाचयेत् ॥ वार्ता ४२ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

५—ब्राह्मणैर्भक्ष्यामानमसृजेत् ॥ वार्ता ४३ अ० ३ अधि० १० अर्थ० ॥

६—पंचधनुः शतावकृष्टदुर्गमवस्थाप्य युद्धमुपेयात् भूमिवशेन वा ॥ वार्ता १ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

७—विभक्त मुख्यामचक्षुर्विषये मोक्षयित्वा सेनां सेनापतिनायकौ व्यूहेयाताम् ॥ वार्ता २ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

८—शमान्तरं पत्ति स्थापयेत् ॥ वार्ता ३ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

९—त्रिशमान्तरमश्वं पञ्चशमान्तरं रथं हस्तिनं वा द्विगुणान्तरं त्रिगुणान्तरं वा ॥ वार्ता ४ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

१०—व्यूहेत ॥

प्रकार सेना की स्थापना कर देने के उपरान्त बाधारहित होकर सुखपूर्वक युद्ध करना चाहिए ।^१ कौटिल्य ने धनुष की लम्बाई पाँच हाथ की मानी है ।^२ धनुषधारियों को पाँच-पाँच हाथ के अन्तर पर खड़ा करना चाहिए ।^३ अश्वों को तीन-तीन धनुष के अन्तर पर, रथों और हाथियों को पाँच - पाँच धनुष के अन्तर पर स्थापित करना चाहिए ।^४ पक्ष सेना, कक्ष सेना और उरस्थ सेना के मध्य में भी पाँच-पाँच धनुष के अन्तर पर स्थापित करना चाहिए । एक अश्वारोही के विरुद्ध तीन पुरुषों को युद्ध करना चाहिए ।^५ पन्द्रह पैदल सैनिक अथवा पाँच अश्वारोहियों को एक रथ अथवा एक हाथी का सामना करना चाहिए ।^६ एक अश्व, एक रथ और एक हाथी की सेवा श्रुसूपा हेतु कम-से-कम पन्द्रह सेवक नियुक्त किए जाने चाहिए ।^७ कौटिल्य के मतानुसार राजा को, युद्ध होते समय, युद्ध में संलग्न अपनी सेना से दो सौ धनुष की दूरी पर सेना के पृष्ठ भाग में रहना चाहिए । सेना के पृष्ठ भाग में होने से अपनी भागती हुई सेना खड़ी रहती है । राजा को बिना सेना का आश्रय लिए हुए अकेले ही युद्ध नहीं करना चाहिए ।^८

अनेक प्रकार के व्यूहों का निर्माण कर युद्ध करना प्राचीन भारत की युद्ध-शैली की एक विशेषता थी । कौटिल्य ने भी युद्ध की इस विशेषता को अपनाने का समर्थन किया है । उन्होंने अनेक प्रकार के व्यूहों का उल्लेख किया है । उन्होंने कुछ ऐसे व्यूहों का भी उल्लेख किया है जो प्राचीन काल से उनके समय तक चले आ रहे थे । सेना के दोनों अगले पक्ष, मध्य भाग और पीछे की ओर व्यूह बनाए जाते हैं, यह व्यूह विभाग शुक्राचार्य के अनुयायियों द्वारा विहित किया गया है ।^९ 'अगले दोनों भाग, पिछले दोनों भाग, मध्य भाग और पीछे के भाग में सेना के व्यूह बनते हैं, ऐसा बृहस्पति के मतानुयायियों का मत है ।'^{१०} इन आचार्यों के मतानुसार पक्ष, कक्ष और उरस्थ में

१—एवं यथासुखमसंवाधं युध्येत् ॥ वार्ता ५ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

२—पञ्चारत्नि धनुः ॥ वार्ता ६ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

३—तस्मिन्धन्विनं स्थापयेत् ॥ वार्ता ७ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

४—त्रिधनुष्यश्च पञ्चधनुषि रथं हस्तिनं वा ॥ वार्ता ८ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

५—अश्वस्य त्रयः पुरुषाः प्रतियोज्जारः ॥ वार्ता १० अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

६—पञ्चदश रथस्य हस्तिनो वा पञ्चचाशवाः ॥ वार्ता ११ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

७—तावन्तः पादगोपा वाजिरथद्विपानां विधेयाः ॥

वार्ता १२ अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

८—द्वेशते धनुषां गत्वा राजा तिष्ठेत्प्रतिग्रहे ।

भिन्नसंघातनार्थं तु न युध्येता प्रतिग्रहः ॥ श्लोक ७० अ० ५ अधि० १० अर्थ० ॥

९—पक्षावुरस्यं प्रतिग्रह इत्यौशनसो व्यूहविभागः ॥

वार्ता १ अ० ६ अधि० १० अर्थ० ॥

१०—पक्षौ कक्षावुरस्यं प्रतिग्रह इति बाहस्पत्यः ॥ वार्ता २ अ० ६ अधि० १० अर्थ० ॥

सेना के दण्ड, भोग, मण्डल और असंहत नामक चार प्रकृति व्यूह बनते हैं ।^१ कौटिल्य ने दण्डव्यूह, भोगव्यूह, मण्डलव्यूह, संहत, असंहत, चापव्यूह, चापकुक्षिव्यूह, प्रतिष्ठ व्यूह, सुप्रतिष्ठव्यूह, विजयव्यूह, चमूमुख व्यूह सूचीव्यूह, चक्रव्यूह, वलयव्यूह आदि अनेक प्रकार के व्यूहों के लक्षणों का वर्णन किया है ।^२ इसके अतिरिक्त उन्होंने यह भी बतलाया है कि अमुक-व्यूह के विरुद्ध में अमुक व्यूह की रचना विजय प्राप्ति हेतु उचित होगी ।^३

युद्ध काल में बाजों और झंडों आदि के संकेतों से सैनिकों को व्यूह रचना एवं युद्ध आदि के करने का आदेश दिया जाता था । कौटिल्य ने इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था दी है—तुरी-घोष, ध्वजा, पताका आदि के द्वारा व्यूह रचना का आदेश देना चाहिए ।^४ यह संकेत सेना के अंगों को विभक्त करने, उनके मिलाने, शत्रु सेना के रोकने, सेना के चलने, लौटाने और प्रहार करने के लिए उपयोग में लाए जाने चाहिए ।^५

सैनिक गण अनेक प्रकार से युद्ध करते थे । इस विषय का उल्लेख संकेत रूप में अर्थशास्त्र में किया गया है । युद्ध जल के स्थानों पर, निचले स्थलों पर, सम भूमि पर, खन्दक खोदकर और आकाश में (ऊँचे स्थानों से) हुआ करते थे । कौटिल्य ने इस प्रकार की विभिन्न युद्ध शैलियों की तुलना की है और जो इस प्रकार है—निम्न स्थान से युद्ध करनेवाले और स्थल पर युद्ध करनेवालों में स्थल पर युद्ध करनेवाले विजयी होते हैं ऐसा देखा गया है । इसका कारण यह है कि निम्न स्थानों से युद्ध करनेवाले सैनिक देश और काल के बन्धन में होते हैं ।^६ परन्तु स्थलयोधी इन प्रतिबन्धों से मुक्त होते हैं ।^७ खन्दकों का आश्रय लेकर युद्ध करनेवाले और आकाश में युद्ध करने वाले योद्धाओं में आकाशयोधी विजयी होते हैं ।^८ क्योंकि खन्दक का आश्रय लेकर

१—प्रपक्षचक्षोरस्या उभयोः दण्डभोगमण्डलसंहताः प्रकृतिव्यूहाः ॥

वार्ता ३ अ० ६ अधि० १० अर्थ० ॥

२—देखिए अ० ५ और ६ अधि० १० अर्थशास्त्र ॥

३—तेषां प्रदर्शं दृढकेन धातयेत्; दृढकमसंख्येन; श्येनंचापेन ॥

वार्ता ३६, ३७, ३८ अ० ६ अधि० १० अर्थ० ॥

४—तुर्यघोष ध्वजपताकाभिर्व्यूहाङ्गानां संज्ञाः स्थापयेत् ॥

वार्ता ४६ अ० ६ अधि० १० अर्थ० ॥

५—अङ्गविभागो संघाते स्थाने गमने व्यावर्तने प्रहरणे च ॥

वार्ता ५० अ० ६ अधि० १० अर्थ० ॥

६—निम्नयोधिनो ह्युपरुद्धदेशकात्ताः ॥

वार्ता ४४ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

७—स्थलयोधिनस्तु सर्वदेशकालयोधिनः ॥

वार्ता ४५ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

८—खनका हि खातेन शस्त्रेण चोभयथा युध्यन्ते ॥

वार्ता ४७ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

युद्ध करनेवाले खन्दक और शस्त्र दोनों के आश्रय में रहते हैं, परन्तु आकाशयोधी केवल शस्त्रों का आश्रय लेता है ।^१

शत्रु उत्पीडन एवं शत्रु सामग्री का संरोधन—शत्रु राजा को पराजित करने के लिए शत्रु राजा की आवश्यक सामग्री को उसकी सेना तक न पहुँचने देना और बीच में ही उसका नाश कर देना अथवा छीन लेना शत्रु सामग्री का संरोधन कहलाता है । इस नीति के अपनाने से शत्रु शीघ्र ही पराजित हो जाने पर विवश हो जाता है । आचार्य कौटिल्य भी इस नीति में आस्था रखते थे । इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत इस प्रकार प्रकट किया है—शत्रु किसी संकट में ग्रस्त है ऐसे अवसर पर उसकी सस्य और उसके उत्पन्न हुए अन्न को नष्ट कर देना चाहिए और बाहर से अन्न, घृत, तेल अथवा ईंधन, घास आदि का आना रोक देना चाहिए^२ ईंधन, घास, अन्न, घी, तैलादि के रोक देने तथा हरे भरे खेत और उत्पन्न हुए अन्न के नष्ट कर देने पर एवं अमात्य आदि प्रकृतियों के कहीं ले जाने अथवा उनके गुप्त रीति से वध कर देने पर प्रकृति क्षय होता है^३ शत्रु को उत्पीडन करने के विषय में दूसरे प्रसंग में कौटिल्य ने इस प्रकार अपने विचार प्रकट किए हैं—शत्रु के एक योजन तक की सीमा में तृण, काष्ठ आदि को आग लगाकर भस्म कर देना चाहिए ।^४ उसके पीने के पानी को दूषित कर देना चाहिए ।^५ अथवा जल को बहा देना चाहिए ।^६ इस प्रकार कौटिल्य ने शत्रु के उत्पीडन एवं शत्रु सामग्री के संरोधन द्वारा उस पर विजय प्राप्त करने के सिद्धान्त को अपनाने का समर्थन किया है ।

युद्ध में कूट साधन—कौटिल्य ने दुष्ट राजाओं के पराजित करने के लिए कतिपय कूट साधनों के अपनाने की भी व्यवस्था दी है । उन्होंने कुछ ऐसे प्रयोगों का उल्लेख किया है जिनके आधार पर छल-कपट का आश्रय लेकर शत्रु पर विजय प्राप्ति की आशा की जाती थी । इन प्रयोगों की सत्यता संदिग्ध पूर्ण है । इसलिए इन प्रयोगों की वास्तविकता पर आस्था नहीं की जा सकती । उन्होंने इन प्रयोगों का उल्लेख चौदहवें अधिकरण में विशेष रूप में किया है । उन्होंने इन प्रसंगों में ऐसे अद्भुत चमत्कारों का उल्लेख किया है जैसे विशेष प्रकार के तेल के प्रयोग से वालों का स्वेत हो जाना, रंग बदल जाना आदि । विशेष औषध के खाने से कई सप्ताह तक भूख

१—शस्त्रेणैवाकाशयोधिनः ॥ वार्ता ४८ अ० १० अधि० ७ अर्थ० ॥

२—विषमस्थस्य मुष्टिं सस्यं वा हन्याद्वीवधप्रसारौ च ॥

वार्ता ६ अ० ४ अधि० १३ अर्थ० ॥

३—प्रसारवीवधच्छेदान्मुष्टिसस्यवधादपि ।

वमनाद्गूढघाताच्च जायते प्रकृतक्षयः ॥ श्लोक ७ अ० ४ अधि० १३ अर्थ० ॥

४—तृणकाष्ठमायोजनाद्वाहयेत् ॥

वार्ता १४ अ० ५ अधि० १२ अर्थ० ॥

५—उदकानि च दूषयेत् ॥

वार्ता १५ अ० ५ अधि० १२ अर्थ० ॥

६—अवाग्नावयेच्च ॥

वार्ता १६ अ० ५ अधि० १२ अर्थ० ॥

का न लगना । विशेष प्रकार से अग्नि सृजन करना जो बुझाए ही न बुझे । इसी प्रकार के अनेक चमत्कारों का उल्लेख कौटिल्य ने किया है । इन प्रयोगों के आधार पर दुष्ट राजाओं पर निश्चय विजय प्राप्त हो सकेगी ऐसा कौटिल्य का मत है ।

धर्मयुद्ध के कतिपय नियम—प्राचीन भारत के राजशास्त्र के कतिपय आचार्यों ने युद्ध के नियमों का भी उल्लेख करते हुए यह बतलाया है कि इन नियमों के अनुसार युद्ध करना धर्म युद्ध कहलाता है । कौटिल्य ने भी धर्मयुद्ध के कतिपय नियम बतलाए हैं । उन्होंने अपने अर्थशास्त्र में धर्मयुद्ध के बहुत कम नियमों का उल्लेख किया है और जो इस प्रकार हैं—रण-भूमि में जो गिर गया है, जो रण से विमुख हो गया है, जो शरण में आ गया है, जिसने अपने बाल बिखेर लिए हैं, जिसने शस्त्र डाल दिए हैं, जो भय-भीत हो गया है और जो युद्ध करना नहीं चाहता ऐसे सैनिकों से युद्ध नहीं करना चाहिए अपितु उन्हें अभयदान दे देना चाहिए ।^१ जब युद्ध का आरम्भ हो रहा हो तब अग्नि का प्रयोग नहीं करना चाहिए ।^२ अग्नि का विश्वास नहीं है । यह दैव का पीड़ा देने का शस्त्र है ।^३ यह अग्नि असंख्य प्राणी, धान्य, पशु तथा ईंधनादि का नाश करने का साधन है ।^४

इस प्रकार कौटिल्य ने संक्षेप में युद्ध के कतिपय नियमों का उल्लेख किया है । यह नियम दूसरे शब्दों में वही हैं जो कि प्राचीन भारत के अन्य आचार्यों ने निर्धारित किए हैं ।

विजय के उपरान्त राजा का आचार एवं व्यवहार—शत्रु राजा पर विजय प्राप्त करने के उपरान्त विजयी राजा का विजित राज्य के प्रति किस प्रकार आचरण एवं व्यवहार होना चाहिए इस विषय में कौटिल्य ने अपना मत प्रकट करते हुए इस प्रकार लिखा है—विजेता राजा के तीन लाभ होते हैं ।^५ एक तो नवीन लाभ (नवीन भूमि लाभ), दूसरा अपना गया हुआ राज्य अथवा सम्पत्ति आदि की पुनः प्राप्ति, और तीसरा अपने पिता के समय में गयी हुई भूमि, धन आदि का पुनः लाभ होता है ।^६ नवीन लाभ होने पर विजयी राजा को विशेष प्रकार से सावधान रहने की आवश्यकता होती है । नवीन राज्य लाभ होने पर राजा को अपने गुणों से शत्रु राजा के दोषों को नष्ट कर देना चाहिए और शत्रु के गुणों को उनसे अपने दोगुने गुणों के

१—पतितपराङ्मुखाभिपन्नमुक्तकेशशस्त्रभयविरूपभ्यर्चाभयमयुष्मानेभ्यश्च द्यूः ॥
वार्ता ६८ अ० ४ अधि० १३ अर्थ० ॥

२—नत्वेव विद्यमाने पराक्रमेऽग्निमवसृजेत् ॥ वार्ता २३ अ० ४ अधि० १३ अर्थ० ॥
३—अविश्वास्यो ह्यग्निः दैवपीडनं च ॥ वार्ता २४ अ० ४ अधि० १३ अर्थ० ॥

४—अप्रतिसंख्यातप्राणिधान्यपशु हिरण्य कुप्यद्रव्यक्षयकरः ॥
वार्ता २५ अ० ४ अधि० १३ अर्थ० ॥

५—त्रिविधश्चास्य लाभः ॥ वार्ता ३ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥
६—नवोभूतपूर्वः पित्र्य इति ॥ वार्ता ४ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

द्वारा दबा देना चाहिए ।^१ राजा को अपने धर्म (प्रजा पालन), कर्म (यज्ञादि अनुष्ठान), प्रजा पर अनुग्रह, करों की मुक्ति, दान और मान से प्रिय और हितकारी प्रजा को सन्तुष्ट रखना चाहिए ।^२ अपने विरोधी पक्ष के लोगों को भी उनके साथ पूर्व में की गयी प्रतिज्ञाओं का पालन कर के अपने वश में रखना चाहिए ।^३ जिसने राजा के लिए विशेष परिश्रम किया है उसको विशेष अधिकार एवं धन देना चाहिए ।^४ राजा को अपने नए राज्य की प्रजा के अनुकूल वेश-भूषा, भाषा और आचार धारण करना चाहिए ।^५ उसको वहाँ के देवता, समाज, उत्सव और विहारों आदि में सदैव भक्ति प्रदर्शन करते रहना चाहिए ।^६ राजा को जनमत को अपने अनुकूल बनाने का प्रयत्न करते रहना चाहिए । इस कार्य के लिए उसको गुप्तचरों का उपयोग करना चाहिए । इन चरों को देश, ग्राम, जाति और संघ के मुख्य पुरुषों के समक्ष पूर्व राजा के बुरे व्यवहारों का वर्णन करते रहना चाहिए ।^७ अपने राजा के उदार एवं प्रजा-भक्त होने की ख्याति करनी चाहिए और वर्तमान काल में होने वाले सत्कार की भी प्रसिद्धि करते रहना चाहिए ।^८ राजा को प्रजा पर उचित कर लगाना चाहिए, पिछले करों का जो धन प्रजा पर अवशेष रहा हो उसको क्षमा कर देना चाहिए और प्रजा की रक्षा कार्य में संलग्न होकर उस नवीन राज्य का भोग करना चाहिए ।^९ राज्य के समस्त देवताओं और आश्रमों का उसको पूजन करना चाहिए; विद्वान, व्याख्याता, धार्मिकपुरुषों को भूमि और द्रव्य का दान अथवा उनको कर से मुक्त कर देना चाहिए ।^{१०} राज्य के समस्त वन्दियों (prisoners) को जेल से मुक्त कर देना चाहिए, दीन, अनाथ और

१—नवमवाप्य लाभं परदोषान्स्वगुणैश्छादयेत् गुणान्गुणद्वैगुण्येन ॥

वार्ता ५ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

२—स्वधर्मकर्मानुग्रहपरिहारदानमानकर्मभिश्च प्रकृतिप्रियहितान्यनुवर्तेत ॥

वार्ता ६ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

३—यथा संभाषितं कृत्यपक्षमुपग्राहयेत् ॥ वार्ता ७ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

४—भूयश्च कृत प्रयासम् ॥

वार्ता ८ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

५—तस्मात्समानशीलवेपभाषाचारतामुपगच्छेत् ॥ वार्ता १० अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

६—देशदैवतसमाजोत्सवविहारेषु च भक्तिमनुवर्तेत ॥

वार्ता ११ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

७—देशग्रामजातिसंघमुख्येषु चाभीक्ष्णं सत्रिणः परस्यापचारं दर्शयेयुः ॥

वार्ता १२ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

८—महाभाग्यं भक्तिं च तेषु स्वामिनः स्वाभिसत्कारं च विद्यमानम् ॥

वार्ता १३ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

९—उचितैश्चैवान्भोगपरिहार रक्षावेक्षणैः भुञ्जीत ॥

वार्ता १४ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

१०—सर्वदेवताश्रमपूजनं च विद्यावाक्यधर्मशूरपुरुषाणां च भूमिद्रव्यदान परिहारा-
न्कारयेत् ॥

वार्ता १५ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

रोगियों पर दया दिखानी चाहिए ।^१ चार महीने में पन्द्रह दिन फांसी नहीं दी जानी चाहिए ।^२ सारी पूर्णमासियों में चार पौर्णमासियों को भी प्राणदण्ड नहीं देना चाहिए ।^३ राज्य प्राप्त अथवा नयी भूमि प्राप्त की रात्रि में भी प्राणदण्ड नहीं दिया जाना चाहिए ।^४ स्त्री और बालक का बध कभी भी नहीं होना चाहिए और किसी भी जीवधारी का पुंस्त्व नाश नहीं किया जाना चाहिए ।^५

अपने गए हुए राज्य के प्राप्त होने अथवा अपने पिता के गए हुए राज्य के प्राप्त होने पर राजा को सावधानी की आवश्यकता बतलायी है । कौटिल्य इस विषय में सूत्र रूप में यह व्यवस्था देते हैं कि जिस दोष के कारण अपना राज्य शत्रु के अधीन हुआ था उस दोष को गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए,^६ और प्रजा जिस गुण की प्रशंसा करती हों राजा को उस गुण की विशेष वृद्धिकर उसका प्रकाशन करना चाहिए ।^७ यदि पिता के दोष के कारण राज्य शत्रु के अधीन हुआ था तो पिता के उन दोषों को अपने गुणों से आच्छादित कर देना चाहिए ।^८ अपने गुणों का प्रकाशन होना चाहिए ।^९

विजेता राजा को पराजित राजा के राज्य में जो व्यवहार करना चाहिए इस विषय में संक्षेप में इस प्रकार व्यवस्था दी है—इस राज्य में जिन धर्मयुक्त व्यवहारों का लोप हो गया है उनको विजेता राजा को पुनः प्रचलित करना चाहिए । जो धर्म व्यवहार में आ रहे हैं उनको आचरण में लाने के लिए सहायता देनी चाहिए । राजा को अपनी ओर से अधर्म युक्त व्यवहारों को नहीं होने देना चाहिए और अन्य के द्वारा किए जाने वाले अधार्मिक व्यवहारों को रोकने का प्रयत्न करते रहना चाहिए ।^{१०}

१—सर्वबन्धनमोक्षणमनुग्रहं दीनानाथव्याधितानां च ॥

वार्ता १६ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

२—चातुर्मास्येष्वर्धभासिकमाघातय ॥

वार्ता १७ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

३—पौर्णमासीषु च चातूरात्रिकम् ॥

वार्ता १८ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

४—राजदेशनक्षत्रेष्वैकरात्रिकम् ॥

वार्ता १९ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

५—योनिबालबधं पुंस्वोपाघातं च प्रतिषेधयेत् ॥

वार्ता २० अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

६—भूतपूर्वं येन दोषेणापवृत्तस्तं प्रकृति दोषं ह्यादयेत् ॥

वार्ता २१ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

७—येन च गुणेनोपावृत्तस्तं तीक्ष्णकुर्यादिति ॥

वार्ता २२ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

८—पित्र्येऽपितृ दोषांश्छादयेत् ॥

वार्ता २३ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

९—गुणांश्च प्रकाशयेदिति ॥

वार्ता २४ अ० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

१०—चरित्रमकृतं धर्म्यं कृतं चान्यैः प्रवर्तयेत्

प्रवर्तयेनचाधर्म्यं कृतं चान्यैर्निवर्तयेत् ॥ श्लोक २५ अधि० ५ अधि० १३ अर्थ० ॥

इसके अतिरिक्त सदाचारी पराजित राजा के राज्य के विजेता राजा द्वारा अपहरण किए जाने का निषेध किया गया है । अर्थशास्त्र में उन्होंने इस विषय में इस प्रकार व्यवस्था दी है—वध किए गए राजा की भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर विजेता राजा को अधिकार नहीं करना चाहिए ।^१ किन्तु उसके वंशजों को योग्यता-नुसार रिक्त पद पर स्थापित करना चाहिए ।^२ यदि युद्ध करते हुए राजा का वध हो गया हो तो उस राज्य में उसके पुत्र को ही राजपद देना चाहिए ।^३ यदि वश में किए गए राजाओं के प्रति इस प्रकार का व्यवहार किया जाएगा तो उन राजाओं के पुत्र-पौत्र भी विजेता राजा के पुत्र-पौत्र के अनुगामी रहेंगे ।^४ जो राजा पराजित किए हुए राजाओं का वध करा देता है अथवा उनको बन्धन में डाल देता है तथा उनकी भूमि, द्रव्य, पुत्र और स्त्रियों पर अधिकार कर लेता है उससे अन्य राजा क्रुद्ध हो जाते हैं और वह उसके नाश का प्रयत्न करने लगते हैं ।^५ ऐसे राजा के अमात्य भी भयभीत होकर विद्रोही राजमण्डल में सम्मिलित हो जाते हैं ।^६ और वह उस राजा के प्राणों एवं राज्य के ग्राहक बन जाते हैं ।^७ इसलिए साम आदि उपायों द्वारा जीते हुए शत्रुओं को उनकी भूमि प्रदान कर जो उनको अपने अनुकूल बना लेता है उनके पुत्र-पौत्र भी उस राजा के अनुगामी बन जाते हैं ।^८

इस प्रकार पराजित राजा एवं जीते गए राज्य की प्रजा के प्रति विजयी राजा के आचार एवं व्यवहार का वर्णन कौटिल्य ने अर्थशास्त्र में दिया है ।

१—न च हतस्य भूमिद्रव्यपुत्रदारानभिमन्येत ॥

वार्ता ४२ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

२—कुल्यानध्यस्य स्वेषु पात्रेषुस्थापयेत् ॥ वार्ता ४३ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

३—कर्मणि मृतस्य पुत्रं राज्ये स्थापयेत् ॥ वार्ता ४४ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

४—एवमस्य दण्डोपनताः पुत्रपौत्रानुवर्तन्ते ॥ वार्ता ४५ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

५—यस्तूपनतान् हत्वा बध्वा वा भूमिद्रव्यपुत्रदारानभिमन्येत तस्योद्विग्नं मण्डलमभावाद्योत्तिष्ठते ॥

वार्ता ४६ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

६—ये चास्यामात्याः स्वभूमिष्वायत्तास्ते चास्योद्विग्नं मण्डलमाश्रयन्ते ॥

वार्ता ४७ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

७—स्वयं राज्यं प्राणान्वास्याभिमन्यन्ते ॥ वार्ता ४८ अ० १६ अधि० ७ अर्थ० ॥

८—स्वभूमिषु च राजनः तस्मात्साम्नानुपालिताः ।

भवन्त्यनुगमा राज्ञः पुत्रपौत्रानुवर्तिनः ॥ श्लोक ४६ अ० १७ अधि० ७ अर्थ० ॥

पुस्तक-सूची

(क) वैदिक साहित्य

- १—ऋग्वेद संहिता —सातवलेकर औंधकार्यालय, सतारा ।
 २—ऋग्वेद संहिता —सायणाचार्य भाष्य सहित, द्वितीय संस्करण ।
 ३—यजुर्वेद संहिता —सातवलेकर औंधकार्यालय, सतारा ।
 ४—यजुर्वेद संहिता —महीधर भाष्य सहित वेबर द्वारा सम्पादित, लन्दन ।
 ५—अथर्ववेद संहिता —सातवलेकर औंध कार्यालय, सतारा ।
 ६—अथर्ववेद संहिता —सायणाचार्य भाष्य सहित ।
 ७—ऐतरेय ब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित आनन्दाश्रम-मुद्रणालय, पूना ।
 ८—तैत्तिरीयब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित, आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना ।
 ९—शतपथब्राह्मण —सायणाचार्य भाष्य सहित, कलकत्ता ।
 १०—बृहदारण्यक उपनिषद् —गीता प्रेस, गोरखपुर ।
 ११—छान्दोग्य उपनिषद् —आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना ।

(ख) रामायण—महाभारत

- १२—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण - गोविन्द दास भाष्य सहित, टी० आर० कृष्णा-
 चार्य तथा टी० आर० व्यासाचार्य ।
 १३—श्रीमद् वाल्मीकीय रामायण - साहित्याचार्य पं० चन्द्रशेखर शास्त्री ।
 १४—महाभारत —पी० पी० एस० शास्त्री ।
 १५—श्रीमन्महाभारत —नीलकण्ठी टीका सहित, चित्रशाला कार्यालय, पूना ।
 १६—महाभारत —भण्डारकर ओरियण्टल रिसर्च इंस्टीट्यूट, पुना ।
 १७—श्रीमन्महाभारत —हिन्दी अनुवाद सहित, पं० गंगा प्रसाद शास्त्री ।

(ग) धर्मशास्त्र

- १८—मनुस्मृति —मन्वर्थमुक्तावली सहित, कुल्लूकभट्ट ।
 १९—मनुस्मृति —मेधातिथि भाष्य सहित, अंग्रेजी अनुवाद. गंगानाथ झा ।
 २०—याज्ञवल्क्य धर्मशास्त्र —जेलर द्वारा सम्पादित, बलित ।
 २१—धर्मशास्त्र संग्रह —पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता ।
 २२—गीतमधर्मशास्त्र —आनन्दाश्रम मुद्रणालय, पूना ।
 २३—बौधायन धर्मशास्त्र —ई० हुसल, लिपिजग ।
 २४—आपस्तम्ब धर्मशास्त्र —चौखम्भा, बनारस ।

२५—बृहस्पति स्मृति

—गायकवाड ओरियन्टल सीरीज, बरोदा ।

२६—नारद स्मृति

—जालौ द्वारा संपादित ।

(घ) अर्थशास्त्र

२७—कौटिल्य का अर्थशास्त्र

—संस्कृत टीका सहित गणपति शास्त्री ।

२८—कौटिल्य का अर्थशास्त्र

—अंग्रेजी अनुवाद शाम शास्त्री ।

२९—कौटिल्य का अर्थशास्त्र

—हिन्दी अनुवाद सहित, गंगा प्रसाद शास्त्री ।

३०—बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र

—एफ० डब्ल्यू० थामस ।

(ङ) पुराण

३१—श्रीमद्भागवत पुराण

—गीता प्रेस गोरखपुर ।

३२—विष्णु पुराण

—गीता प्रेस गोरखपुर ।

३३—वायु पुराण

—श्री वैकुण्ठेश्वर छापाखाना, बम्बई ।

३४—मार्कण्डेय पुराण

—श्री वैकुण्ठेश्वर छापाखाना, बम्बई ।

(च) नीतिशास्त्र

३५—शुक्रनीति

—पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा सम्पादित, कलकत्ता ।

३६—शुक्रनीति

—अंग्रेजी अनुवाद, विनयकुमार सरकार ।

३७—शुक्रनीति

—हिन्दी अनुवाद सहित, पं० गंगा प्रसाद शास्त्री ।

३८—कामन्दकीय नीतिसार

—पं० जगन्मंगलकृत पाण्डुलिपि ।

३९—कामन्दकीय नीतिसार

—अंग्रेजी अनुवाद, मनमथ नाथ ।

(छ) अन्यग्रन्थ

४०—कामसूत्र

वान्स्यायन ।

४१—नीति वाक्यामृत

—सोमदेव ।

४२—दशकुमारचरित

—दण्डी ।

४३—कादम्बरी

—बाण ।

४४—शिशुपालवध

—माघ ।

४५—हिस्ट्री आफ् एण्टीक्विटी

—मैक्सडुक्कर ।

४६—हिस्ट्री आफ् संस्कृत लिटरेचर

—मैकडान्यल ।

४७—हिस्ट्री आफ् एन्शिष्ट संस्कृत लिटरेचर

—मैक्समूलर ।

४८—हिस्ट्री आफ् इण्डियन लिटरेचर द्वितीय संस्करण

—वेबर ।

४९—हिस्ट्री आफ् धर्मशास्त्र

—पी० बी० काणे ।

५०—कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् वाल्यूम १

—हूल्ल !

५१—कार्पस इन्स्क्रिप्शनम् वाल्यूम २

—फ्लैट ।

५२—गुप्त इंस्क्रिप्शन	—गंगा नाथ झा ।
५३—दि केम्ब्रिज हिस्ट्री आफ् इण्डिया प्रथम भाग	—ई० जे० रैप्सन ।
५४—दि अली हिस्ट्री आफ् इण्डिया चतुर्थ संस्करण	—बी० ए० स्मिथ ।
५५—सत्यूशन आफ् दि इण्डियन पार्लिटी	—शाम शास्त्री ।
५६—हिन्दू एडमिनिस्ट्रेटिव इंस्टीट्यूशन्स	—दीक्षितार ।
५७—मौर्यन पार्लिटी	—दीक्षितार ।
५८—वार-इन-एन्शिष्ट इण्डिया	—दीक्षितार ।
५९—हिस्ट्री आफ् हिन्दू पोलिटिकल थ्योरीज	—यू० घोषाल ।
६०—कार्पोरेट लाइफ इन एन्शिष्ट इण्डिया	—आर० सी० मजुमदार ।
६१—पब्लिक एडमिनिस्ट्रेशन इन इण्डिया	—पी० एन० बनर्जी ।
६२—एस्पेक्ट आफ् इण्डियन पार्लिटी	—एन० एन० ला ।
६३—स्टडीज इन इण्डियन पार्लिटी	—एन० एन० ला ।
६४—ट्राइब्स इन एन्शिष्ट इण्डिया	—एन० एन० ला ।
६५—पोलिटिक इंस्टीट्यूशन्स एण्ड थियरीज आफ् दि हिन्दूज	—बी० के० सरकार ।
६६—हिन्दू पार्लिटी	—के० पी० जायसवाल ।
६७—थियरीज आफ् गवर्नमेन्ट इन एन्शिष्ट इण्डिया	—वेणी प्रसाद ।
६८—दि स्टेट इन एन्शिष्ट इण्डिया	—वेणी प्रसाद ।
६९—इण्डिया एज नोन टु पाणिनि	—बी० एस० अग्रवाल ।
७०—अशोक	—डी० आर० भण्डारकर ।
७१—अशोक	—आर० के० मुकर्जी ।
७२—हिन्दू सिविलिजेशन	—आर० के० मुकर्जी ।
७३—लोकल गवर्नमेन्ट इन एन्शिष्ट इण्डिया	—आर० के० मुकर्जी ।
७४—प्राचीन भारतीय शासन पद्धति	—ए० एस० अलतेकर ।
७५—ए हिस्ट्री आफ् पोलिटिकल थ्योरीज	—जे० एच० सेवामिन ।
७६—पोलिटिकल थ्योरीज	—डब्ल्यू० ए० डनिंग ।
७७—जनतंत्रवाद (रामायण ओर महाभारत कालीन)	—श्याम लाल पाण्डेय ।
७८—शुक्र की राजनीति	—श्याम लाल पाण्डेय ।
७९—मनु का राजधर्म	—श्याम लाल पाण्डेय ।
८०—भीष्म का राजधर्म	—श्याम लाल पाण्डेय ।

